हिन्दी काव्य-दर्शन

विद्यापति, कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, मीराँ, केशव,
बिहारी, भूषण, देव, घनानन्द, भारतेन्दु,
रत्नाकर, हरिऔध, गुप्त, प्रसाद,
निराला, पन्त, महादेवी और
दिनकर के काव्यों की
गवेषणात्मक
समीक्षा

हीरालाल तिवारी
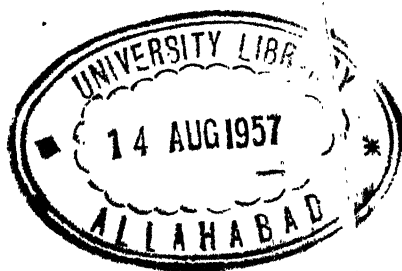
साहित्य-रत्न-माला कार्यालय
२० धर्म्मकूप, बनारस।

मूल्य ६।)

पहला संस्करण, पौष संवत् २०१०

प्रकाशक—साहित्य-रत्न-माला कार्यालय, २० धर्म्मकूप, बनारस १.

मुद्रक—ओम्प्रकाश कपूर, ज्ञानमण्डल यन्त्रालय, बनारस । ४४१९–१०

परिचय

इस ग्रन्थ के कर्त्ता श्री हीरालाल तिवारी हिन्दी-क्षेत्र में ही नहीं, जीवन-क्षेत्र में भी बिलकुल नवागत हैं—इतने नवागत कि विधिक दृष्टि से अभी गत वर्ष ही वयस्क हुए हैं। परन्तु इनकी इस पहली ही कृति से यह सिद्ध हो जाता है कि हिन्दी काव्यों के गम्भीर, विचारपूर्ण अध्ययन और सूक्ष्म-दर्शितापूर्ण तथा तर्क-संगत पर्यालोचन में ये अभी से अनेक प्रौढ़ों से बहुत आगे बढ़े हुए हैं। विशेषता यह है कि इन्होंने अपने प्रत्येक आलोच्य कवि और उसके प्रायः सभी काव्यों का बिलकुल नये और निजी ढंग से अध्ययन किया है और हर जगह अपना दृष्टि-कोण सबसे निराला और बहुत ऊँचा रखा है। मेरी समझ में तिवारी जी के ये गुण उनकी उस बीज-भूत प्रतिभा के ही परिचायक हैं, जिसके अंकुर का सौरभ सारे ग्रन्थ में जगह-जगह भरा पड़ा है, और जिसके पल्लवित, पुष्पित तथा फलित होने की प्रतीक्षा उत्सुकतापूर्वक की जायगी। मेरा विश्वास है कि ध्यानपूर्वक यह ग्रन्थ देख जानेवाले सज्जन मेरे इस कथन से बहुत-कुछ सहमत होंगे कि २१–२२ वर्षों के एक होनहार नवयुवक ने अपनी पैनी दृष्टि तथा प्रखर बुद्धि से हिन्दी काव्यों के अध्ययन और समीक्षा को एक अभिनव रूप दिया है।

गत वर्ष जिस समय मैंने पहले-पहल तिवारी जी को देखा था, उस समय ये मेरे छोटे भानजे चिरंजीव बद्रीनाथ कपूर को (जो उन दिनों बी० ए० परीक्षा की तैयारी में लगे थे) हिन्दी कहानियों के कला-पक्ष की कुछ बातें समझा रहे थे। उनका वह मार्मिक विवेचन तो प्रशंसनीय था ही, उस विवेचन का ढंग भी बहुत आकर्षक था। उस समय मैंने समझा था कि ये हिन्दी के कोई सुयोग्य और अध्ययनशील अध्यापक हैं। पर इनके चले जाने पर यह जानकर मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा कि ये भी बदरीनाथ

की ही तरह विद्यार्थी और उनके सह-पाठी हैं। एक विद्यार्थी में इतना अधिक ज्ञान—मेरे देखने में नई बात आई थी!

पर थोड़े ही दिन बाद इससे भी बढ़कर विलक्षण बात यह हुई कि बदरीनाथ तो बी० ए० की परीक्षा में उत्तीर्ण हो गये और तिवारी जी अनुत्तीर्ण रह गये! यह आधुनिक शिक्षा-पद्धति तथा परीक्षा-प्रणाली की विडम्बना ही थी—उसके भोंडे और निकम्में ढंग का एक साधारण प्रमाण भर था। अनुत्तीर्ण होने से तिवारी जी खिन्न तो हुए, पर उतने अधिक नहीं, जितने आज-कल के साधारण विद्यार्थी हुआ करते हैं। इस बीच में तिवारी जी से मेरा परिचय बहुत बढ़ गया था; और उनके सरल स्वभाव, निष्कपट व्यवहार, विशुद्ध आचरण तथा सुरुचिपूर्ण प्रवृत्ति के कारण उनपर मेरा वैसा ही स्नेह हो गया था, जैसा आत्मीय बच्चों पर हुआ करता है। मैंने उन्हें समझा-बुझाकर शान्त किया और परीक्षाओं में विफल होनेवाले कुछ बड़े-बड़े लोगों के उदाहरण देकर उन्हें अपनी दिशा बदलने की प्रेरणा की। उसी का फल यह पुस्तक है। और विशेषता यह है कि सारी पुस्तक ऐसे चार-पाँच महीनों में लिखी गई है, जिनमें तिवारी जी इस वर्ष की परीक्षा में फिर से सम्मि-लित होने की भी तैयारी करते रहे हैं।

तिवारी जी के पास हिन्दी जगत् को देने के लिए बहुत-कुछ है और हो सकता है; पर इसके लिए उन्हें आत्म-विकास की अपेक्षा है। अभी कहीं वे सहमते हैं और कहीं हिचकते हैं। धीरे-धीरे उनकी झिझक कम हो रही है। आशा है, शीघ्र ही वह समय आवेगा, जब कि ये निर्भीकतापूर्वक और खुलकर अपने अभिनव मनन के फल हिन्दी-जगत् के सामने रखने लगेंगे।

पाठक स्वयं देखेंगे कि इस पुस्तक में आरम्भ से अन्त तक तिवारी जी की लेखन-शैली और पर्यालोचन-कला का कितना अच्छा और कैसा सुन्दर विकास हुआ है। इसमें आलोच्य कवियों का अध्ययन और विवेचन उत्त-रोत्तर गम्भीर और परिमार्जित होता गया है; और महादेवी जी तक आते-आते वह बहुत अधिक उच्च स्तर तक पहुँच गया है। भाव और शैली दोनों पुष्टता

प्राप्त करते गये हैं। और इन्हीं बातों के कारण मैं इनके भविष्य के सम्बन्ध में बहुत ही आशान्वित हूँ।

इस पुस्तक में कवियों और उनके काव्यों के विवेचन के लिए एक नया ढंग अपनाया गया है। इसमें यह बतलाया गया है कि प्रकृति, प्रेम, संयोग तथा वियोग श्रृंगार, भक्ति, रूप, लोक-कल्याण, लोक-जीवन आदि के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न कवियों के विचार कैसे और दृष्टि-कोण क्या हैं, उनके दार्शनिक तथा सामाजिक विचार या सिद्धान्त कैसे हैं, उनकी भाषा-शैली कैसी है और विचारों की अभिव्यक्ति की कला किस ढंग की है। इसके सिवा प्रत्येक कवि की विशेषताओं का भी विचार हुआ है और आवश्यकतानुसार उनका तुलनात्मक विवेचन भी। जहाँ कहीं किसी की कोई त्रुटि दिखाई दी है, वहाँ उसकी चर्चा भी अवश्य हुई है; और उसके सम्बन्ध में अपना स्वतंत्र मत भी दिया गया है, भले ही वह 'कटु सत्य' के रूप में हुआ हो।

प्रत्येक विषय का विवेचन करते समय तिवारी जी अपनी अध्ययन-शीलता और विचार-शीलता का विलक्षण परिचय देते हैं। अधिकतर अवसरों पर वे अपने मनोभाव कुछ ऐसे तथ्यों से युक्त करके, इतने थोड़े शब्दों में और ऐसे मार्मिक रूप में व्यक्त करते हैं कि प्रशंसा किये बिना रहा नहीं जाता। सारा विवेचन ऐसी कवित्वपूर्ण भाषा में होता है कि उत्कृष्ट गद्य काव्य की छटा दिखला जाता है। उदाहरण के लिए इस पुस्तक के पृष्ठ ५, २२, ३३, ९१, १५७, १६९, २२५, २७६, २८६, ३०४, ४७९ और ५८९ के पहले अनुच्छेद देखे जा सकते हैं। पृ० १७९ में 'अश्लीलता' के विवेचन के प्रसंग में देव की वासक-सज्जा का रूप दिखाने के बाद सूरदास के एक पद से मिलान करते हुए जो तुलनात्मक आलोचना की गई है, पृ० ४४९ में प्रेम की पंकज से जो तुलना की गई है, पृ० ५१० में 'एक गऊ कुछ दूर रँभाई, पनिहारी पनघट से आई।' की जो सारगर्भित व्याख्या की गई है और पृ० ५५३ में महादेवी जी के आराध्य की जो गवेषणा की गई है, वह तिवारी जी की गम्भीर विचार-धारा और सार-ग्राहकता का अच्छा परिचय देती है।

कहीं कहीं तिवारी जी बहुत ही थोड़े-से शब्दों में मर्म-भेदी व्यंग्य द्वारा जबरदस्त चोट करके स्वयं तो आगे बढ़ जाते हैं, पर पाठक के हृदय पर उसकी गहरी छाप पड़ जाती है। 'निराला' के प्रकरण (पृ० ४८९) में समाज में नारी का जो स्थान दिखलाया गया है और 'दिनकर' के प्रकरण में 'युद्ध और मानव' के अन्तर्गत (पृ० ५८८) खल को स्नेह के बदले जो खली खिलाई गई है, वह तीखे तीर से कम नहीं है। पृ० २०५ के अन्त में सौन्दर्य के सम्बन्ध में आज-कल के कवियों के बदलते हुए दृष्टि-कोण का जो उल्लेख है वह भी कम मजेदार नहीं है। पृ० ४८० में उस स्थान पर तो चुटीलेपन की हद हो गई है, जहाँ ऊपर तो 'अधरों के क्षितिज पर लिप-स्टिक के लाल बादलों' की चर्चा की गई है और उसी के साथ नीचे पाद-टिपणी में घाघ की एक कहावत (माघ में बादल लाल धरे। तो जानो सच पाथर परे।) दी गई है। जिन आधुनिक रमणियों पर यह चोट हुई है, वे इसे किस रूप में ग्रहण करेंगी और उनके दिल पर क्या बीतेगी, यह ईश्वर ही जाने!

पदमावत का नया रूपक (पृ० ८१) और राम-कथा का सांग रूपक (पृ० १६६) तिवारी जी की अनोखी उद्भावनाओं के प्रतीक हैं; और आधुनिक काल के सिंहावलोकन में आज-कल प्रवृत्तियों, छन्दों, रुबाइयों और चतुष्पदी गीतों तथा छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद आदि का निरूपण तिवारी जी के स्वतन्त्र अध्ययन के फल हैं। इस प्रकार के अनेक छोटे-मोटे, पर मधुर तथा सरस फल पाठकों को पुस्तक में जगह-जगह यथेष्ट परिमाण में मिलेंगे।

तिवारी जी कवियों के आलोचक तो हैं ही, उन्होंने स्वयं भी कवियों की-सी रुचि और प्रतिभा पाई है। कवियों के विवेचन से पहले उन्होंने उनके सम्बन्ध में जो पूर्वाएँ (प्रशस्तियाँ) दी हैं, वे उनके उत्कृष्ट कवि-हृदय की परिचायक हैं। ऐसी पूर्वाएँ कवियों के अनुरूप तो हैं ही, प्रायः उनके छन्दों और भावनाओं के भी अनुरूप हैं। केशव, बिहारी, हरिऔध, प्रसाद, निराला और महादेवी वर्म्मा की पूर्वाएँ बहुत-कुछ उन्हीं की शैलियों में हैं। घनानन्द की पूर्वा है तो रुबाई में, पर बहुत ही सुन्दर हुई है। ये पूर्वाएँ बतलाती हैं

कि यदि तिवारी जी कविता के क्षेत्र में उतरें तो वहाँ भी अच्छी सफलता प्राप्त करेंगे।

पुस्तक का थोड़ा-सा अंश पढ़ने पर ही सहृदय पाठक सहज में समझ लेंगे कि तिवारी जी लिखने से पहले अच्छी तरह आँखें खोलकर बहुत-कुछ पढ़ते हैं; और जो कुछ पढ़ते हैं, हृदय खोलकर उसके सार-भूत रस का पान करते हैं। और तब सब बातों पर बिलकुल स्वतन्त्रतापूर्वक और मौलिक रूप से विचार करते हुए कवि की आत्मा की गहराई तक उतरने का सफल प्रयास करते हैं। इस प्रयास में उन्हें जो कुछ हाथ लगता है, उसे वह औपन्यासिक शैली से मनोरंजक बनाकर पाठकों के सामने रखते हैं। एक बात और है। पुस्तक पढ़ते समम ऐसा जान पड़ता है कि तिवारी जी के सामने विचार पर विचार चले आते हैं, जो सभी अनोखे, सूक्ष्म तथा दार्शनिकतापूर्ण होते हैं। ऐसे विचार और भाव प्रकट करने की आतुरता ही उनकी वह शैली स्थिर करती है, जिसमें कम-से-कम शब्दों में अधिक-से-अधिक बातें चुभते हुए और हृदयग्राही रूप में सामने आती हैं।

ऐसे होनहार नवयुवक लेखक का मैं हृदय से अभिनन्दन तथा स्वागत करता और उनके दीर्घजीवी तथा यशस्वी होने की कामना करता हूँ।

रामचन्द्र वर्म्मा

अपनी बात

'अपना' कहने को मेरा कुछ भी नहीं है। मेरा प्रयास तो उस मधु-मक्खी का-सा है, जो अपने मधु-कोष में विभिन्न फूलों के रस इकट्ठे करती है। अपने इस बाल-प्रयास में कितना मधु या गरल मैं एकत्र कर पाया हूँ, इसका निर्णय पाठक ही कर सकेंगे।

'हिन्दी काव्य-दर्शन' के प्रणयन की एक करुण कहानी है। यदि मुझे श्रद्धेय श्री रामचन्द्र वर्म्मा का स्नेह-संबल न मिलता तो अँधेरे में मैं न जाने कहाँ भटक जाता!

यदि निरन्तर पूज्य बाबूजी से आशीर्वाद, आदरणीय श्री रामचन्द्र वर्म्मा जी से परामर्श और साथी राधाकृष्ण उपाध्याय, बदरीनाथ कपूर तथा अनुज रामलाल से प्रेरणा न मिलती रहती तो मुझ जैसे आलसी से इतना भी न हो पाता।

काशी
पौष शुक्ल १, सं० २०१०

हीरालाल तिवारी

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	२१	कपने	अपने
,,	२३	कविता की	कविता को
,,	,,	अभिव्यक्ति को	अभिव्यक्ति के
२३	४	ते जब	तेजब
२५	२०	मोजे पुनु	मोएँ पुनु पुनु
३५	११	राम	राय
४८	१	पड़	पढ़ैं
४९	९	सोऽम	ओम
९२	१५	लेगे	लगे
१०६	८	आँसु	आँसू
११०	११	इन	रन
११५	१०	हस:सुता	हंस-सुता
११९	१८	पुंज	पुंजैं
१२८	९	तन	तत
१२९	१	तोरि	तोर
१४७	३	में रस	में वीर रस
२०४	११	बेटी	बेड़ी
,,	१२	बहु	चहुँ
२०५	२०	आत	अति
,,	२३	पर्	पट
२४५	१	ज सीलो	जसीलो

२६५	१३	मति	मनि
२८२	१६	टहल	टटल
२९२	२	को	करे
३०७	१९	प्रगति	प्रगीत
३११	३	गारधर	गिरिधर
३४७	२४	मूस	मूसैं
३५९	५	भैयौ	भैया
३६९	२१	श्माय	श्याम
४०२	१३	रुँध	रुँध
४०४	१०	नीपांग	नीयांग
४१७	४	किधर	लिपट
४१८	१३	कलित	कथित
,,	१४	मलित	मथित
४२५	४	आओ	जाओ

इनके अतिरिक्त कुछ स्थानों पर कुछ अक्षर तथा मात्राएँ छपते समय टूट गई हैं। पृ० १९ की चौथी पंक्ति के अन्त में 'खंडन करते हैं' व्यर्थ छप गया है; वह नहीं रहना चाहिए। पृ० ३२३ की १४ वीं पंक्ति में जो 'और' है, वह वस्तुतः ११ वीं पंक्ति के बाद और १२ वीं पंक्ति से पहले होना चाहिए। पाठक कृपया ये भूलें सुधार लें।

प्रकाशक

———

विषय-सूची

परिशिष्ट

(फलक)

आमुख

साहित्य युग की अभिव्यक्ति है, किन्तु यह अभिव्यक्ति हृदय के माध्यम से होती है। इतिहास अपने युग की घटनाओं की गाथा है; और साहित्य उस युग की भावनाओं की। कवि अपने आँसुओं से युग को धोकर पवित्र करता है। कवि की कविता समझना सहज है, पर कवि को समझना संसार की शक्ति से परे है। कितने सपनों के महल ढाकर कवि ने समाज के पंकिल पथ को राज-पथ में परिणत किया, उसकी एक-एक पंक्ति में कितनी अतृप्त पिपासा छलक रही है, यह किसने जानने का प्रयत्न किया है? और यदि किसी ने किया भी तो उससे कवि को क्या?

समाज की ठोकरें खा-खाकर भी कवि जीवित रहता है। इसलिए नहीं कि उसे जीवन का मोह है, वरन् इसलिए कि उसे समाज को जीवन देना होता है। कवि जब तक समाज में रहता है, समाज उसे जानने का प्रयत्न नहीं करता। उसकी मृत्यु के बाद उसकी समाधि बनवाई जाती है, स्मृति-भवन बनते हैं, श्राद्ध किये और जयन्तियाँ मनाई जाती हैं। अपराध क्षमा हो तो कह दूँ, कवि की मृत्यु के बाद जितना उसके नाम पर व्यय किया जाता है, यदि उसका शतांश भी उसे जीवन-काल में मिलता, तो शायद वह समाज को और भी बहुत-कुछ दे पाता। हिन्दी के अधिकतर कवि औषध के अभाव में मरे हैं और रोटी की समस्या का निदान उनके बस के बाहर की बात रही है।

साहित्य समाज का दर्पण है, यदि दर्पण शब्द-कोशवाले अर्थ में न लिया जाय तो। वीर-गाथा काल का इतिहास देशी और विदेशी युद्धों का इतिहास है। किसी राजकुमारी के रूप-गुण पर मोहित होकर उसके पिता से विवाहेच्छुक नरेश परिणय का प्रस्ताव करते थे। प्रस्ताव स्वीकृत करने में पिता और अस्वीकृत होने में विवाहेच्छुक अपना अपमान समझता था। परिणाम स्वरूप दोनों में युद्ध अनिवार्य था। यवनों के आक्रमण भी इसी काल में होने प्रारम्भ हो

गये थे। यही कारण है कि वीर-गाथा काल की कविता में तलवारों की झंकार का प्राधान्य है। वीर-गाथा काल में श्रृङ्गार-रस की रचनाएँ वीर-रस की रचनाओं की अपेक्षा अधिक हैं। वीर-गाथा का अर्थ है—वीरों की कहानी। प्रणय उसी के लिए है जिसमें पौरुष हो। अतः शृंगार का प्राधान्य हमारे आश्चर्य का विषय न बनना चाहिए।

धीरे-धीरे भारत में यवनों के पैर जम गये और हिन्दू जनता पर अत्याचार होने लगे। मन्दिर तोड़े गये, मूर्त्तियाँ नष्ट की गईं; सतीत्व बचाने के लिए नारी ने जौहर रचा और पुरुष ने केसरिया बाना पहना। किन्तु संघटन के अभाव में विफलता ही हाथ आई। धर्म और ईश्वर पर से जनता की आस्था उठ चली थी। सूफी और सन्त कवियों ने एकेश्वरवाद और हिन्दू-मुसलिम एकता पर जोर दिया; किन्तु उनके घट के भीतर और घट के बाहर की बात समझना जनता की बुद्धि से परे था। वास्तविकता यह थी कि इन कवियों का न तो हिन्दू दर्शन पर अधिकार था, न इस्लाम दर्शन पर। दोनों धर्मों की सुनी-सुनाई बातें ही उनके काव्य का विषय और विफलता का कारण बनी। फिर भी जनता को नास्तिक होने से सन्त कवियों ने बचा लिया, यही क्या कम है!

सगुण भक्ति-शाखा के कवियों ने सन्तों की विफलता के कारणों से लाभ उठाया और जनता के लिए सगुण भक्ति का मार्ग प्रशस्त किया। सूर ने कृष्ण की मोहिनी मुरली की तान से जन-मन मोह लिया; और तुलसी ने राम का मर्यादा-पुरुषोत्तमवाला स्वरूप सामने रखा। सूर की भावमयी गोपियों से ऊधो की पराजय और तुलसी का काक-भुशुण्डी-लोमश संवाद निर्गुण उपासना पर कठोर व्यंग्य हैं।

काल-चक्र अपनी अबाध गति से चलता रहा। जहाँगीर और शाहजहाँ के शासन-काल में मुगल राज्य अपने चरम उत्कर्ष को पहुँच चुका था। देश में सर्वत्र शान्ति थी—देशी नरेश कुचल दिये गये थे और बाहरी आक्रमणों का भय न था। शान्ति काल में कला का विकास स्वाभाविक ही है। राष्ट्र

के शिल्पियों की भावनाएँ ताज-महल के पाषाण-खण्डों में मुखर उठीं और शब्द-शिल्पियों की भावनाएँ नायिका भेद के छन्दों में। रीति-कालीन कवियों की सौन्दर्योपासना जयदेव, विद्यापति और सूर की माधुर्य-भावना का ही दूसरा रूप है।

व्यापारी बनकर आनेवाले अँग्रेजों का प्रभाव दिन पर दिन बढ़ता गया। इँगलैंड की औद्योगिक क्रान्ति का अभिशाप भारत के उद्योग-धन्धों पर पड़ा; और परिणाम-स्वरूप आर्थिक विषमता और भुख-मरी ने देश में अड्डा जमाया। कवि की आँखों पर से कल्पना का परदा हटता-सा जान पड़ा और उसने धरती पर पाँव रखा। कविता-कामिनी ने राजसी वस्त्र उतार फेंके और फटे-चीथड़े पहनकर जनता का प्रतिनिधित्व किया।

यह समझना भूल है कि कविता इतिहास के पीछे-पीछे चलती है। इतिहास कविता का निर्माता नहीं, कविता ही इतिहास की निर्मात्री है। कविता में युग-धारा मोड़ देने की शक्ति है। 'सूरसागर' और 'मानस' की रचना के बाद स्वेच्छा से धर्म-परिवर्तन बहुत कम हुए, निराकार उपासना भी लगभग समाप्त-सी हो गई।

हिन्दी के कवि ने अत्याचार और अनाचार का कभी समर्थन नहीं किया। राजाश्रय में पलकर भी बिहारी ने जयसिंह को 'पराये पानि परि पंछीनु' न मारने की सलाह दी थी। गंग का हाथी से चिरवाया जाना भी सर्व-विदित ही है।

हिन्दी साहित्य की यह अपनी निजी विशेषता है कि उसके अधिकतर कवि कपने को कवि समझते ही नहीं थे। धर्म, नीति और साहित्य का इतना सुन्दर समन्वय अन्यत्र नहीं देख पड़ता। हिन्दी के कवि ने यश और समृद्धि से कोसों दूर रहकर कविता की अभिव्यक्ति को माध्यम के रूप में स्वीकृत किया। उसे छः लाख रुपए प्रति पंक्ति भी पुरस्कार मिला है और चालीस रुपयों में भी उसने अपने काव्य का हीरा कोयले के भाव बेच दिया है। किन्तु न तो छः लाख रुपए पाकर वह प्रसन्न हुआ और न चालीस पाकर

खिन्न। जीवन की जय-पराजय को एक-सा स्वीकार करता हुआ वह अपने पथ पर चला जा रहा है। उसके लिए फूल और शूल दोनों समान हैं।

राष्ट्र को जब कभी आवश्यकता पड़ी है, हिन्दी के कवियों ने अपने जीवन की बाजी लगा दी है। वीर-गाथा काल का कवि लेखनी के साथ तलवार भी हाथ में लेता था। कृष्ण की मोहिनी मुरली की तान में सुध-बुध भूल जानेवाले विद्यापति ने शिवसिंह की सेना का नेतृत्व किया था। रीति-काल का कवि विलास के वातावरण में पला अवश्य है, किन्तु युग की उसने कभी उपेक्षा नहीं की। वर्तमान भारत के निर्माण में मैथिलीशरण गुप्त और निराला का योग किसी राजनीतिक नेता से कम नहीं है।

वर्तमान कविता का न तो कोई छन्द ही निर्धारित हो पाया है, न निश्चित पथ ही। किन्तु इससे निराश होने की कोई बात नहीं है। आधुनिक युग में जितना लिखा जा रहा है, यदि उसका दस प्रति शत भी समय के प्रवाह से बच सका तो बहुत है। 'कविता के खेत के रखवालों को' जिस छायावाद के लिए घोषणा करनी पड़ी थी कि 'हाँक दो, न घूम घूम खेती काव्य की चरें' वह छायावाद भी जाते-जाते 'कामायनी' और 'दीप-शिखा' जैसी अमर कृतियाँ दे ही गया। आज प्रगतिवाद और प्रयोगवाद की ओर हम आशा भरी आँखों से देख रहे हैं। यह ध्रुव सत्य है कि विभिन्न स्रोतों में बहनेवाली आज की ये सरिताएँ एक न एक दिन भागीरथी बनकर जगत को सुषमा से सींच देंगी।

भक्ति-काल

सरिता सिन्धु की आकुल बाँहों में खो जाने को दौड़ती चली जाती है। रुपहली चाँदनी और सुनहली रश्मियाँ उसकी अल्हड़ लहरों पर थिरक-थिरक कर उसे रिझाना चाहती हैं; पर उसे क्षण भर रुककर इनका रूप निहारने का अवकाश कहाँ ? और रुपहली चाँदनी तथा सुनहली रश्मियाँ भी तो न जाने कब से किसी में अपना अस्तित्व खो देने को आतुर हैं। उद्देश्य सबका एक है, उसकी सिद्धि के पथ भिन्न-भिन्न। सरिता ने दुर्गम पथ की चिन्ता न कर अपने को सिन्धु की आकुल बाँहों में खोना सीखा है और चाँदनी तथा रश्मियों ने अरूप को रिझाना। सरिता का मार्ग साधना का है, चाँदनी तथा रश्मियों का प्रेम का।

हम भी तो यही करते हैं। यदि ऊपर के कथन को प्रतीकात्मक मानें तो निर्गुण भक्ति-शाखा को सरिता की साधना कह सकते हैं और चाँदनी तथा रश्मियों को क्रमशः कृष्ण भक्ति-शाखा और रामभक्ति-शाखा। पता नहीं, कैसे लोगों ने इनमें विरोध के बीज ढूँढ़ निकाले। हमें तो सब एक ही उद्देश्य की ओर उन्मुख देख पड़ते हैं।

निर्गुण-धारा

झरि लागै महलिया गगन घहराय।
खन गरजै, खन बिजुरी चमकै, लहरि उठै, सोभा बरनि न जाय।

—धरमदास।

हिन्दी की निर्गुण-धारा को हम रक्त-हीन धार्मिक क्रान्ति कह सकते हैं। इसकी भूमिका मध्य युग में ही बन चुकी थी। यवनों की राजनीतिक

और सामाजिक दासता ने इस आग में घी का काम किया। जिसके पसीने की कमाई का सदुपयोग रामेश्वरम् और जगन्नाथ के मन्दिरों तथा रानियों के प्रासादों और विलास-काननों के निर्माण में होता था, उसे साँझ-सवेरे रूखी रोटियाँ भी नसीब न हो पाती थीं, और उन्हीं की कमाई से बने मन्दिरों के दरवाजे भी उनके लिए बन्द थे। ब्रज की कँकरीली वीथियों में गाएँ चरानेवाले गोपाल को स्वर्ण-सिंहासन पर सुलाकर अर्गला बन्द कर दी जाती थी; किष्किन्धा के जंगलों में अध-पके फल खानेवाले हनुमान जी को लड्डुओं का भोग लगाया जा रहा था; शबरी के बेर खानेवाले राम को अब मोहन भोग भी न भाता था। यह तो रही हमारी सगुण उपासना। निर्गुण उपासना तो इससे भी गई बीती थी। पंच मकारों (मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन) के प्रतीकात्मक अर्थ भूलकर हम ऐन्द्रिक लिप्सा की ओर दौड़े और फल-स्वरूप समाज में अनीति तथा व्यभिचार का बोल बाला हुआ। लिखते कलम काँपती है, तथागत के निर्वाण-पथ के अनुयायी वज्र-यानी सिद्धों के रूप में कोढ़ की खाज बन चुके थे। चौरासी सिद्धों की पुनीत आसन-संख्या के नाम पर काम-शास्त्र के चौरासी आसनों की नींव डाली गई। सिद्ध-पंथ, नाथ-पंथ किस-किसका नाम लिया जाय; सभी एक दिशा में दौड़ रहे थे।

जहाँ तक मूल-भूत सिद्धान्तों का प्रश्न है, हम चार्वाक, वज्रयानी सिद्ध, नाथ-पंथी या सिद्ध-पंथी किसी को बुरा नहीं कह सकते। इन पुनीत धर्मों की बाग-डोर कुछ स्वार्थी और कामुक व्यक्तियों के हाथ में आ गई थी। उस युग के विलासी वातारवण ने भी उन धर्मों के ठेकेदारों की सहायता की; और फल-स्वरूप धर्म के नाम पर अनाचार बढ़ा।

हिन्दी की निर्गुण भक्ति शाखा की नींव उन्हीं निर्गुणवादी सम्प्रदायों के मूल-भूत सिद्धान्तों पर रखी गई है। कबीर और गोरखनाथ में केवल नाम का अन्तर है। कबीर के राम और गोरख के महेश में कोई अन्तर नहीं है। उनकी उपासना-पद्धतियाँ भी एक दूसरी से इतना मेल खाती हैं कि उन्हें दो नहीं कहा जा सकता।

निर्गुण धारा के अधिकतर सन्त अशिक्षित थे, पर उन्हें मूर्ख नहीं कहा जा सकता। किसी वस्तु की आलोचना-प्रत्यालोचना उसे पूर्णतया समझकर ही की जा सकती है। कर्म-काण्ड और पाखण्ड के विरुद्ध आवाज उठानेवाले सन्त उससे अपरिचित न रहे होंगे। अपने तर्कों की पुष्टि में उन्होंने जो प्रमाण दिये हैं, उनसे पता चलता है कि धार्मिक सिद्धान्तों का उन्होंने अच्छा अध्ययन और मनन किया था।

सन्तों ने जिन समस्याओं का समाधान किया है, वे सर्व-कालिक और सर्व-देशीय हैं। हो सकता है, तुलसी के राम के प्रति अन्य धर्मावलम्बियों की आस्था न हो सके; किन्तु कबीर के राम से किसी को द्वेष नहीं हो सकता। निर्गुण-धारा के सन्त कवियों ने नाथ-पंथी योगियों के परब्रह्म को स्वीकृत किया है और सगुण-धारा के कवियों ने पौराणिक अवतारवाद को। ब्रह्म को दोनों ने माया से परे माना है। निर्गुण-धारा का कवि एक पग और आगे बढ़ जाता है। वह कहता है कि रूपातीत और गुणातीत ब्रह्म अवतार नहीं ले सकता। उन्हें इस बात का विश्वास नहीं होता कि माया के बन्धन में पड़ा हुआ ब्रह्म सर्वशक्तिमान् होगा। यह बात नहीं है कि सगुण-धारा के कवि भगवान् का निर्गुण रूप अस्वीकृत करते हैं। इतना तो वे भी मानते हैं कि ब्रह्म निराकार है; पर उसका साकार रूप वे उपासना की सुविधा के कारण ही लाते हैं। अवतार लेकर ब्रह्म माया में लिप्त नहीं होता, अवतार का कारण उसकी लीला है। संसार में आकर भी ब्रह्म संसार से परे रहता है—ठीक वैसे ही जैसे जल में रहकर भी कमल के पत्ते जल से अलिप्त रहते हैं।

निर्गुण-धारा के लगभग सभी सन्त शूद्र वर्ण के हैं। जाति-भेद आदि रूढ़ि-गत कुसंस्कारों की उन्होंने खुलकर निन्दा की है—

एकै बाम्हन, एकै सूद्र। एकै हाड़, चाम, तन, गूद॥
एकै बिन्द, एक भग द्वारा। एकै सब घट बोलनहारा॥

—गरीबदास।

सभी धर्मों की एकता पर उन्होंने जोर दिया है। पारस्परिक विरोध का फल भारत को परतन्त्रता का अभिशाप बनकर मिला था। मुसलमान विदेशी होकर भी भारतीय जन-जीवन के अंग बन चुके थे; अतः सबको एक सूत्र में पिरो देने की भावना स्वाभाविक ही थी। बाहरी भेद चाहे कितना ही अधिक क्यों न देख पड़े, अन्तर में सब एक हैं—

जो तुम बाम्हन बाम्हनि जाये। और राह तुम काहे न आये॥
जो तू तुरुक तुरुकिनी जाया। पेटै काहे न सुनति कराया॥
—कबीर।

इतनी ही एकता हो, यह बात नहीं; हमारी समस्याएँ भी तो एक हैं। मान लिया कि अछूतों के लिए मन्दिर-प्रवेश निषिद्ध था और मुसलमान एक साथ नमाज पढ़ लेते थे; किन्तु केवल एक साथ नमाज पढ़ने से हमारी आर्थिक विषमताओं का हल नहीं निकल पाता। सामन्तवाद मध्य युग में अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था। रनिवास और मुसाहबों की शृङ्गार प्रसाधन की सामग्री का मूल्य गरीब जनता को अपना खून-पानी एक करके चुकाना पड़ता था। कितने प्रदेशों में तो नव वधू की पहली रात सामन्त के साथ बीतती थी। यदि इतने अत्याचार होने पर भी एक होने की आवाज न उठे तो आश्चर्य है। यही कारण है कि सभी सन्त निम्न वर्ग की आर्थिक दासता में पले परिवारों के हैं। कबीर ने कहा है—

कोइ हिन्दू कोइ तुरुक कहावै एक जमीं पर रहिये।

'एक जमीं पर रहिये' का आशय एक मिट्टी में पलना ही नहीं, एक-सी समस्याओं और वातावरण में रहना भी है।

निर्गुण-धारा का दूसरा नाम ज्ञान-मार्गीय साधना-पद्धति भी है। यहाँ 'ज्ञान' शब्द भ्रमात्मक जान पड़ता है। ज्ञान की कसौटी पर धर्म को कसने का आशय यह नहीं है कि वह साधारण जनता के योग्य नहीं है। तुलसीदास ने भक्ति की महत्ता बताते हुए कहा है कि भक्ति सुलभ है, पर ज्ञान सब के

लिए सुलभ नहीं। निर्गुण धारा में ऐसी कोई बात नहीं पाई जाती जो जन-साधारण के लिए बोध-गम्य न हो। पाखण्ड और रूढ़ियों का सन्तों ने सर्वदा विरोध किया है। ब्रह्म को अरूप मानने पर भी 'निरालम्ब कित धावै' की समस्या साधक के सामने कभी नहीं आती। ज्ञान-मार्गीय साधक को तो पूजा के फूल, अक्षत और गंगा-जल की भी आवश्यकता नहीं होती। भगवान् को पाने का मार्ग सरल है। वह कस्तूरी की गन्ध की भाँति हमारे हृदय में ही वास करता है। आँखों के आगे से माया का परदा हटाकर हम उसे सब जगह देख सकते हैं। निर्गुण के उपासक को घर-द्वार छोड़कर भगवान् को ढूढ़ँने जंगल में भी नहीं जाना पड़ता। समाज में रहकर अपने बन्धु-बान्धवों के बीच परस्पर सहानुभूति और सद्भावना के वातावरण में काम, क्रोध आदि ऐन्द्रिक विकारों पर विजय प्राप्त करके उस तक पहुँच सकते हैं।

सगुण-धारा

अविगत-गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूँगे मीठे फल को रस अंतरगत ही भावै॥
मन बानी को अगम अगोचर सो जानै जो पावै।
रूप रेख गुन जाति जुगति बिनु निरालम्ब कित धावै॥
सब बिधि अगम बिचारहिं ताते 'सूर' सगुन पद गावै।

—सूरदास।

मानव की कला के प्रति अनुरक्ति ही मूर्त्ति-पूजा की जन्मदात्री है। अपनी अमूर्त्त भावनाओं को हम आदि काल से ही मूर्त्त रूप देते आये हैं। मानव की इन मूर्त्त और अमूर्त्त भावनाओं में विभिन्नता होते हुए भी इनके मूल में एक ऐसी एकता है जो इन्हें एक सूत्र में पिरोने में सहायक हुई है। हमने कामदेव

का रंग श्याम माना और पश्चिम ने रूप की देवी की मूर्त्ति काले आबनूस की बनाई। सौन्दर्य और माधुर्य के प्रतीक कृष्ण को भी हमने काला ही माना। ऊषा और संध्या की भावमयी मूर्त्तियों में भी यही एकता देखने में आती है। स्वर्ग की परियों और इन्द्र (पाश्चात्य ज्युपिटर) की भी कल्पना हिन्दू धर्म और पुरातन ग्रीक समाज में एक-सी है। इस्लाम धर्म मूर्त्ति-पूजा नहीं मानता; किन्तु यदि उस ज्योति का भाव-चित्र खींचा जाय जो हजरत मूसा को तूर पर्वत पर दिखाई पड़ी या उनकी जन्नत की हूरों और गिल्मों के भाव-चित्र खींचे जायँ तो वे भी बहुत-कुछ हिन्दू और ईसाई धर्मों के भाव-चित्रों के समान ही होंगे।

अरूप का रूप छेनी और तूलिका की सहायता से सरलता से समझा जा सकता है। मेघदूत या उमर खैयाम की रुबाइयों के भाव-चित्र देख लेने से उनका सौन्दर्य तुरन्त हमारी आँखों के सामने नाच उठता है; और इस प्रकार ये भवि-चित्र उन कविताओं को समझने में सहायक होते हैं।

साधना के पथ पर पहले हमें प्रतीकों की आवश्यकता हुआ करती है। यदि कोई बच्चा घुड़-सवारी सीखना चाहता है, तो पहले ही उसे घोड़े पर न चढ़ा देना चाहिए। बच्चा ऐसा करता भी नहीं; क्योंकि इस प्रकार वह अपने हाथ-पैर तोड़कर पंगु बन जायगा और उसका घुड़-सवार बनने का स्वप्न धरा रह जायगा। पहले वह लाठी को अपना घोड़ा बनाता है, फिर लकड़ी के घोड़े पर बैठता है; और क्रमशः विकास की अनेक सीढ़ियाँ पार कर चुकने पर एक दिन घुड़-सवार बनता है।

भगवान सर्वत्र व्याप्त हैं। रवि बाबू ने तो प्रत्येक सुन्दर मुख में उसी अरूप का रूप देखा था। किन्तु सभी कबीर और रवीन्द्र नहीं होते। 'घट-घट व्यापक राम' तो सभी जानते हैं; किन्तु क्या फूल-पत्तों के प्रति भी हमारी वही आस्था होती है जो मन्दिर की मूर्त्तियों में है? क्या हम 'घर की चक्की' की उपासना उसी भक्ति भाव से कर सकते हैं जिस भक्ति भाव से मन्दिर की मूर्त्ति की? हिन्दुओं के विवाह में चक्की, मूसल, सिल, हल सभी

की पूजा की जाती है; किन्तु हल्दी से बने गोल वृत्त की पृथ्वी और नव-ग्रह तथा गोबर से बने गणेश के प्रति हमारी भावनाएँ कुछ और ही होती हैं।

माना कि उपासना में मूर्त्ति की अपेक्षा भाव की अधिक आवश्यकता है। पुजारी को मन्दिर की पवित्र मूर्त्ति से वह आनन्द नहीं मिलता, जो बालक अपने टूटे खिलौने से पा लेता है। यह इसी लिए कि बच्चे को अपनी परिस्थितियों से जितना सन्तोष रहता है, पुजारी को उनसे उतना नहीं रहता। किन्तु हमारी भावनाओं का एक केन्द्र-विन्दु होना चाहिए जो मूर्त्ति-पूजा से ही बन सकता है।

कृष्ण-भक्ति शाखा

सीस-मुकुट, कटि-काछनी, कर-मुरली, उर-माल।
इहिं बानक मो मन सदा, बसौ बिहारी लाल॥

—बिहारी।

स्वामी शंकराचार्य ने अपने अद्वैत-दर्शन में ब्रह्म को निर्गुण और अव्यक्त कहा है। उनके सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म भोक्ता या कर्ता नहीं है। इसकी प्रतीति हमें माया के परिणाम स्वरूप ही होती है। ब्रह्म के अतिरिक्त सब मिथ्या है।

शंकर के इसी अद्वैत दर्शन ने विभिन्न सम्प्रदायों के सम्पर्क में आकर विभिन्न रूप ग्रहण किये हैं। पुराणों में ब्रह्म के तीन रूप माने गये हैं—ब्रह्मा (निर्मायक), विष्णु (पालक) और शिव (संहारक)। मध्य युग में विष्णु के अवतारों (विशेषतया कृष्ण और राम) की उपासना का प्रचलन था। विष्णु के अवतार के रूप में कृष्ण की उपासना करनेवाले भारत में चार सम्प्रदाय थे—

१—वल्लभ सम्प्रदाय—उत्तर भारत में।

२—चैतन्य सम्प्रदाय—पूर्वी बिहार और बंगाल में।

३—माध्व सम्प्रदाय और
४—निम्बार्क सम्प्रदाय } दक्षिण भारत में।

माध्व सम्प्रदाय द्वैता-द्वैत का समर्थक है। यह भगवान् को सृष्टि का कर्त्ता और कारण मानता है।

निम्बार्क सम्प्रदाय भेदाभेद का समर्थक है। इसके अनुयायी सगुण ब्रह्म के उपासक हैं।

चैतन्य महाप्रभु ने भगवान् का सच्चिदानन्दात्मक रूप स्वीकृत किया है। भगवान् कृष्ण का नाम और गुण-कथन इनकी उपासना के प्रधान अंग हैं। ये कृष्ण के मधुर भाव के उपासक थे।

वल्लभाचार्य जी ने ब्रह्म को सर्वशक्तिमान् माना है। सृष्टि के मूल में उसकी क्रीड़नेच्छा है। समय-समय पर वह भक्तों के बीच लीला करने के लिए अवतार लेता है। हिन्दी की कृष्ण-भक्ति शाखा का वल्लभ सम्प्रदाय से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। इसका विवेचन आगे विस्तृत रूप से किया जायगा।

इन चारों सम्प्रदायों के मूल सिद्धान्त एक ही हैं। सभी भगवान् के सगुण रूप के उपासक हैं और सबका मार्ग प्रेम का ही है। सृष्टि के निर्माण का कारण माया नहीं है। सृष्टि-निर्माण के मूल में भगवान् की क्रीड़नेच्छा या विलास है। भगवान् को ज्ञान से भी प्राप्त किया जा सकता है; किन्तु तर्क और विवेक की कसौटी सामान्य जनता के लिए नहीं है। पतिव्रता पत्नी जिस प्रकार वैभव और अहंभाव भूलकर पति के चरणों में अपने को खो देती है, उसी प्रकार भक्त को एकनिष्ठ होकर भगवान् की उपासना करनी चाहिए। भगवान् हमारी श्रद्धा-भक्ति का भूखा है।

हिन्दी की कृष्ण-भक्ति शाखा पर वल्लभ सम्प्रदाय का प्रभाव है। अष्टछाप के कवि स्वामी वल्लभाचार्य जी के शिष्य थे। विद्यापति यद्यपि बहुत पहले हो चुके थे, किन्तु उनके सिद्धान्त भी वल्लभाचार्य जी से मिलते-जुलते हैं। सत्य सर्व-कालिक हुआ करता है। कोई पहले हो या पीछे, इससे प्रयोजन नहीं। सत्य सदा सत्य ही रहता है। चैतन्य सम्प्रदाय, माध्व सम्प्र-

दाय और निम्बार्क सम्प्रदाय का प्रभाव परोक्ष रूप से कृष्ण-भक्ति शाखा पर पड़ा है। सन्त बराबर तीर्थाटन किया करते थे, उनमें बराबर विचार-विनिमय हुआ करता था, उनके मूल सिद्धान्तों की एकता का यही कारण है।

वल्लभ सम्प्रदाय

वल्लभ सम्प्रदाय के जन्मदाता स्वामी वल्लभाचार्य जी थे। उन्होंने सन्धिनी, संवित् और ह्लादिनी नामक तीन शक्तियाँ मानी हैं। इन तीनों शक्तियों या तत्वों के क्रमशः तीन गुण हैं—सत्, चित् और आनन्द।

वल्लभाचार्य जी ने ब्रह्म के तीन रूप बताये हैं—

१—पर ब्रह्म (सृष्टि का कर्ता और नियामक)

२—अक्षर ब्रह्म (जीव) और

३—क्षर ब्रह्म (प्रकृति)।

जड़ प्रकृति में केवल एक गुण सत् पाया जाता है। जीव में सत् और चित् दो गुण पाये जाते हैं। ब्रह्म में सत्, चित् और आनन्द तीनों गुण वर्तमान रहते हैं।

ब्रह्म में सभी शक्तियाँ निहित हैं। सृष्टि के निर्माण और अवसान के मूल में ब्रह्म की क्रीड़नेच्छा है। ब्रह्म माया से परे है, वह सर्वधर्मा और विशिष्ट है। उसी से सृष्टि का निर्माण होता है और उसी में उसका अवसान भी हो जाता है। दूसरे शब्दों में, सृष्टि के निर्माण और अवसान में उसकी लीला-भावना कार्य करती है।

वल्लभाचार्य जी ने लीला-धाम की कल्पना की है जो बहुत-कुछ कबीर के अनहद नाद से मिलती-जुलती है—

किंगरी, सारँग, बजे सितारा। अच्छर ब्रह्म सुन्न दरबारा।
द्वादस भानु भये उजियारा, खटदल कँवल मँझार शब्द ररँकारा है।
मुरली बजत अखंड सदा ये तहँ सोऽहं झनकारा है।

कबीर पिण्ड और ब्रह्माण्ड को एक मानते हैं—

यहि घट चन्दा, यहि घट सूर। यहि घट गाजे अनहद तूर॥
यहि घट बाजे तबल निसान। वहिरा सबद सुनै नहि कान॥

वल्लभाचार्य भी कुछ हेर-फेर से यही सिद्धान्त स्वीकृत करते हैं कि ब्रह्म का निवास भक्तों के हृदय में है।

वल्लभाचार्य जी ने भगवान् की प्राप्ति के तीन मार्ग बताये हैं—

१—प्रवाह मार्ग (कर्म मार्ग),
२—मर्यादा मार्ग (ज्ञान मार्ग) और
३—पुष्टि मार्ग (भक्ति मार्ग)।

प्रवाह मार्ग और मर्यादा मार्ग साधकों के लिए हैं, सामान्य जनता का यहाँ निस्तार नहीं है। इनका पर्यवसान मोक्ष में होता है। पुष्टि मार्ग प्रेम का मार्ग है। उसका सिद्धान्त है कि भगवान् पूजा के नहीं, भाव के भूखे हैं। हम उन्हें प्रेम-मार्ग से सहज में पा सकते हैं। मर्यादा मार्ग की आराधना में वाणी की प्रधानता रहती है और पुष्टि मार्ग की आराधना में शरीर की। पुष्टि मार्ग का पर्यवसान आनन्द में होता है। पुष्टि मार्ग में भक्ति का आदर्श गोपी-प्रेम माना गया है। गोपी-प्रेम तीन प्रकार का होता है—गोपांगना, गोपी और व्रजांगना। इसका विशेष विवेचन आगे सूरदास के प्रकरण में होगा।

राम-भक्ति शाखा

बल्कल बसन धनु बान पानि तून कटि
रूप के निधान घन-दामिनी बरन हैं।

—तुलसी

निराशा के अन्धकार में डूबे हुए जन-समाज को तुलसी ने राम का आदर्श दिया। कृष्ण की मोहिनी मुरली में मानव का सुख-दुःख भुला देने

की शक्ति थी। सूर ने जनता के सामने जो आदर्श रखा था, वह बहुत-कुछ उसी प्रकार का था, जैसे हम बिच्छू के डंक की पीड़ा से व्यथित व्यक्ति को भाँग पिलाकर सुला देते हैं। जनता इतने ही से सन्तुष्ट न थी, उसे कुछ और चाहिए था। हो सकता है कि बालू में सिर छिपाकर शुतुर-मुर्ग शत्रु को न देखे, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि शत्रु भी उसे न देख पावेगा।

तुलसी ने जनता के सामने राम का मर्यादा-पुरुपोत्तमवाला स्वरूप रखा, जो कौशल्या के पालने पर झूल सकते थे, 'किलकत मुख दधि ओदन लपटाय' भाग भी सकते थे और आवश्यकता पड़ने पर नीति तथा न्याय की रक्षा के लिए धनुष उठाकर असुरों का नाश भी कर सकते थे।

यदि कृष्ण-भक्ति शाखा के कवियों ने भागवत के दशम स्कंध के कृष्ण के साथ गीता के योगिराज कृष्ण और महाभारत के कर्त्तव्य-परायण पौरुषशाली कृष्ण को भी अन्तर्भुक्त कर लिया होता, तो राम-भक्ति का इतना [illegible] न हो पाता; अथवा कृष्ण-भक्ति का उतना ही अधिक प्रचार होता, जितना राम-भक्ति का हुआ है।

राम में सगुण-निर्गुण, लीला, माधुर्य, पौरुष आदि सभी देवोपम और मानवीय गुणों का समन्वय किया गया है। नारायणत्व के साथ ही साथ वे नरत्व के भी आदर्श हैं। पत्नी के हरण किये जाने पर जो राम वन-वीथियों से पागलों की भाँति उसका पता पूछते हैं। जटायु के यह पूछने पर कि क्या मैं दशरथ को सीता-हरण का समाचार बता दूँ? वह कहते है—स्वयं रावण जाकर उनसे सब समाचार कह देगा!

राम और शंकराचार्य के ब्रह्म में कोई भेद नहीं है। नाम और रूप के भेद से तत्त्व में अन्तर नहीं होता। शंकराचार्य ने सम्पूर्ण सृष्टि को ब्रह्म माना है और तुलसी ने राम की लीला-भावना से सृष्टि की उत्पत्ति मानी है। किन्तु इन सिद्धान्तों में कोई मौलिक भेद नहीं है। 'ब्रह्म ही सत्य है, संसार मिथ्या है' और 'सियाराम मै सब जग जानी' का अर्थ एक ही है।

तुलसी ने ब्रह्म को राम के रूप में प्रतिष्ठित करके उन्हें जन-साधारण के

और भी निकट कर दिया है। तुलसी का मार्ग भी साधना का मार्ग है (रघुपति भगति करत कठिनाई)। किन्तु वह कंटकाकीर्ण पथ उन्होंने भक्ति के अमृत से इस प्रकार सींच दिया है कि उसकी कठिनाइयाँ हमें नहीं अखरतीं।

जीव, ब्रह्म और माया-सम्बन्धी कुछ विचार आगे चलकर तुलसी के 'दार्शनिक-चिन्तन' में व्यक्त किये गये हैं।

सूफी मत

(प्रेम-मार्ग)

'सूफी' शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में चार मत हैं; पहला सुफ्फा (चबूतरा), दूसरा सफ (पंक्ति), तीसरा सोफिया (ज्ञान) और चौथा सूफ (ऊन)। पहले मत के समर्थकों का कहना है कि मदीने की मसजिद के सामने एक पवित्र चबूतरा है। उसपर जो फकीर बैठते थे, वे सूफी कहलाये। दूसरे मत के अनुसार कयामत के दिन अपने पवित्र आचरण के कारण जो लोग एक विशेष पंक्ति में खड़े किये जायँगे, वे सूफी हैं। तीसरे मत के समर्थकों का कहना है कि सूफी सन्त दूसरों की अपेक्षा अधिक ज्ञानी होते हैं, इस कारण उन्हें सूफी कहा जाता है। चौथे मत का कथन है कि सूफी सन्त एक विशेष प्रकार का सफेद ऊनी वस्त्र पहनते थे, इस कारण सूफी कहलाये। चौथा मत ही अधिक प्रामाणिक जान पड़ता है। सफेद वस्त्र सादगी और पवित्रता का द्योतक होने के कारण 'सूफी' शब्द की व्युत्पत्ति-सम्बन्धी सभी मतों के समन्वय करता है।[१]

सूफी सन्तों को हम किसी धर्म-विशेष के अन्तर्गत नहीं रख सकते। ये लोग सगुण उपासना और मूर्त्ति-पूजा के समर्थक नहीं हैं। इनके जीव

१—तसव्वुफ अथवा सूफी मत—श्री चन्द्रबली पाण्डेय।

और ब्रह्म-सम्बन्धी विचार भी हिन्दू-धर्म से नहीं मिलते। अद्वैत दर्शन सम्पूर्ण सृष्टि को ब्रह्म मानता है; और सूफी जीव तथा ब्रह्म की दो पृथक् सत्ताएँ मानते हैं। सूफी सिद्धान्त के अनुसार जीव और ब्रह्म का सम्मिलन परमानन्द की प्राप्ति है। उनका पार्थक्य प्रत्येक अवस्था में बना ही रहता है। अद्वैत दर्शन के अनुसार जीव और ब्रह्म का भेद हमें माया के कारण देख पड़ता है। माया का मिथ्या जाल हटते ही दोनों मिलकर एक हो जाते हैं। अद्वैत दर्शन से तो सूफी मत का मेल नहीं हो पाता; द्वैत दर्शन से भी इसकी विभिन्नता है। सूफी मत की माया (शैतान) स्वयं दोष-रहित होकर भी जीव को पाप की ओर उन्मुख करती है; किन्तु द्वैत दर्शन माया को छलना मानता है।

बौद्ध दर्शन में करुणा की प्रधानता है। बौद्ध ईश्वर को स्पष्ट शब्दों में तो नहीं मानते, किन्तु किसी न किसी रूप में एक ऐसी सत्ता का अस्तित्व स्वीकार करते हैं जो सृष्टि का नियमन करती है। यही बात जैन मत में भी है। बौद्ध और जैन दर्शनों में भेद इतना ही है कि बौद्ध मध्यम मार्ग का अनुसरण करते हैं और जैन तपस्या का। बौद्ध निर्वाण की प्राप्ति के लिए पवित्र आचरण पर जोर देते हैं। सूफी मत प्रेम को महत्त्व देता है। अतः उसके मार्ग को हम न तो मध्यम मार्ग कह सकते हैं, न तपस्या का।

चार्वाक दर्शन ईश्वर या स्वर्ग का अस्तित्व स्वीकृत नहीं करता। वह भौतिक सुखों को ही प्रधानता देता है। सूफी ईश्वर और स्वर्ग में विश्वास करते और भौतिक सुख को आध्यात्मिक सुख की सीढ़ी मात्र समझते हैं।

ज्ञान-मार्गीय सन्तों ने जीव और ब्रह्म के भेद का कारण माया (शरीर) को माना है; और शरीर नष्ट होने के बाद आत्मा परमात्मा में मिल जाती है। हम पहले ही देख चुके हैं कि सूफियों का मिलन मात्र परमानन्द की प्राप्ति है।

सूफी सन्त स्वतन्त्र विचार-धारा के हैं; अतः इस्लाम धर्म की संकीर्ण दीवारें उन्हें अपने में बाँध सकने में असमर्थ हैं। इस्लाम रसूल (मुहम्मद

साहब) को मानता है। रसूल के प्रति उसका सम्मान इतना अधिक है कि नमाज़ में अल्लाह के साथ वह रसूल का भी नाम लेता है (ला इल्लाह इल्लिलाह; मुहम्मद उर्रसूलिल्लाह)। सूफी ब्रह्म और जीव के बीच किसी तीसरी सत्ता का अस्तित्व नहीं मानते, यद्यपि मुहम्मद साहब का वे सम्मान करते हैं।

ईसाई धर्म से भी सूफी सन्तों का मेल नहीं बैठता। ईसाई वैराग्य की प्रधानता मानते हैं और भौतिक सुखों को हेय समझते हैं। सूफी भौतिक सुखों की अवहेलना नहीं करते, क्योंकि उनके मत से वह आध्यात्मिक सुख की सीढ़ी है। वैराग्य के स्थान पर सूफी प्रेम को प्रधानता देते हैं।

सूफी धर्म में प्रेम की प्रधानता है। ब्रह्म से मिलने के पहले जीव को चार अवस्थाएँ पार करनी पड़ती हैं। पहली शरीयत, दूसरी तरीकत, तीसरी हकीकत और चौथी मारफत। ये चारों अवस्थाएँ आत्मिक विकास की हैं। इश्क मजाजी (लौकिक प्रेम) इश्क हकीकी (ईश्वर-प्रेम) की सीढ़ी है। सूफी सिद्धान्त के अनुसार भौतिक या लौकिक प्रेम ही विकसित होकर आध्यात्मिक प्रेम का रूप धारण करता है। भौतिक प्रेम शरीयत से आरम्भ होकर मारफत की अवस्था को पहुँचता है, जहाँ उसे बका (अमर जीवन) की प्राप्ति होती है। सूफी साधना का साध्य 'बका' की प्राप्ति है।

ईश्वर को सूफी निराकार मानते हैं। ईश्वर और माया (शैतान) की कल्पना उनमें इस्लाम धर्म के अनुरूप ही है। ईश्वर सृष्टि का नियामक है। सृष्टि-संचालन में फरिश्ते उसकी सहायता करते हैं। सूफी ईश्वर के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करते हैं। उनके प्रेम में भावनाओं की प्रधानता होती है। हिन्दी की ज्ञान-मार्गी भक्ति शाखा का प्रेम चिन्तन-प्रधान है। दादू और रैदास की प्रेम-साधना भाव-परक अवश्य है, पर उसमें सूफी मत के प्रेम का उन्माद नहीं है।

दाम्पत्य रति को सूफी सन्तों ने आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध का प्रतीक माना है। आत्मा पुरुष है और परमात्मा नारी। नारी पुरुष को सुरा

और सौन्दर्य से उन्मत्त करती है और पुरुष उसकी ओर आकर्षित होता है। नारी के प्रति पुरुष के आकर्षण का चरम विन्दु प्रणय है, जिसका अवसान आनन्द में होता है। चार्वाक् दर्शन मैथुन-सुख को ही परमानन्द मानता है; और अन्य भारतीय दर्शन उसका सौ गुना या हजार गुना खंडन करते हैं। सूफी मत की परमानन्द-सम्बन्धी विचार-धारा बहुत-कुछ भारतीय दर्शन (चार्वाक नहीं) जैसी ही है।

सूफी लोग परमानन्द का चित्रण इतनी भावुकता से करते हैं कि आत्मा और परमात्मा के बीच की दूरी मिटी-सी जान पड़ती है। किन्तु वास्तव में यह बहुत कुछ नर-नारी के मिलन जैसा ही होता है। जब आत्मा और परमात्मा को वे दो तत्त्व मानते हैं, तब उनके एकीकरण का प्रश्न ही नहीं उठता।

दाम्पत्य प्रेम को आत्मा और परमात्मा के प्रेम का प्रतीक मानकर सूफी सन्तों ने साहित्य-साधना की है। उनकी कथा-वस्तु भारतीय जन-जीवन की प्रेम-कथाएँ हैं, जिन्हें उन्होंने आध्यात्मिक साँचे में ढाला है।

पूर्वा

मोहन की मुरली से भींगा
ऊषा रानी का प्रथम गीत।
मैथिली कोकिल का स्वर फूटा
भारत ने पाई नई जीत!

है पर-ब्रह्म का रूप श्याम
औ' राधा शक्ती की प्रतीक।
पुरुष प्रकृति मिल एक हुए
मिट गया अँधेरा लोक-लीक!

खुल गई कमल की मुँदी पलक, भारत में हुआ सबेरा।
सन्देश मिला—"हरि सुनिय श्रवन भरि अब न बिलास क बेरा॥"

विद्यापति

जन्म—सं० १४०७ **निधन—सं० १४९७**

दरभंगा जिले के बिसपी गाँव में विद्यापति का जन्म हुआ था। आपके पिता का नाम गणपति और माता का नाम हासिनी देवी था। आप मैथिल ब्राह्मण थे। मिथिला के राजभवन में गणपति जी का बहुत मान था। बालक विद्यापति की राजपुत्र शिवसिंह से मित्रता थी। शिवसिंह ने सिंहासन पर बैठते ही अपने बाल-सखा को मंत्रित्व पद दिया। विद्यापति के सुझाव से राजा ने मिथिला की स्वतंत्रता की घोषणा कर दी, जिसके फल-स्वरूप दिल्ली की लोदी सेना मिथिला पर चढ़ आई। कवि ने मिथिला की सेना का सेनापतित्व किया। दिल्ली के सम्राट् ने अपनी दाल गलती न देखकर महाराज शिवसिंह को छल से गिरफ्तार कराया; किन्तु पीछे विद्यापति ने उसे अपनी काव्य-प्रतिभा से चमत्कृत कर शिवसिंह को बन्दीगृह से मुक्त करा लिया।

कहा जाता है कि जीवन की सांध्य वेला में आप गंगा की सीढ़ियों पर आकर बैठ गये और बोले—'अब मुझ से चला नहीं जाता। मेरा प्रेम सच्चा हो तो स्वयं माँ गंगा आकर मुझे अपने में विलीन कर लें'। गंगा जी ने स्वयं आगे बढ़कर कवि को अपनी लहरों में समेट लिया!

रूप की प्यास जब भौतिक जगत् की सीमा लाँघकर आध्यात्मिक जगत् की ओर उन्मुख होती है, तब भक्ति का रूप धारण कर लेती है। हमारे इस कथन की पुष्टि इस बात से भी होती है कि भक्ति-शाखा के अधिकतर कवि अपने पूर्व जीवन में विफल प्रेमी ही रहे हैं। हिन्दी के अधिकतर आलोचकों ने विद्यापति की राधा में प्रेम की अपेक्षा विलास ही अधिक देखा है; और विद्यापति को 'यौन भावनाओं का कवि' कहा है। किन्तु लौकिक और अलौकिक प्रेम के बीच कोई ऐसी सीमा-रेखा नहीं खींची जा सकती, जिसके आधार पर उन्हें 'मानवीय प्रेम का गायक' कहकर उनकी उपेक्षा की जा सके। भक्त जब तन्मय हो जाता है, तब आराध्य और आराधक की दूरी मिट जाती है, दोनों मिलकर एक हो जाते हैं।

× × ×

विरह

राधा का विरह-वर्णन करते समय कवि स्वयं राधा बन जाता है—

हरि गेल मधुपुर हम कुल-बाला।
बिपथे पड़ल जइसे मलतिक माला॥

किन्तु यह परित्यक्त लतिका इसके लिए कृष्ण को दोष नहीं देती, दोष तो उसके भाग्य का है—

माधव हमर रहल दुर देस।
केओ न कहइ सखि कुसल-सँदेस॥
युग युग जिवथु बसथु लख कोस।
हमर अभाग हुनक कौन दोस॥

अपनी निरीहता पर उसे रोना आता है—

पाखी जदि होइतउँ पिया पास जइतउँ, दुख कहितउँ तसु पास।

और कभी वह सोचती है—

सायरे ते जब परान, आन जनमे होयब कान्ह।
कान्ह होब जब राधा, तब जानब बिरह क बाधा॥

छलिया श्याम के मिलन की आस कभी उसका साथ नहीं छोड़ती। वह कभी न कभी अवश्य आवेगा, इसका उसे दृढ़ विश्वास है—

कुच जुग सम्भु परसि कर बोललन्हि,
ते परतिति मोहिं भेला।

इसमें यदि किसी को अश्लीलता के दर्शन हों तो बेचारे विद्यापति का क्या दोष? भोली राधा हृदय की भावनाएँ सभ्यता के अवगुण्ठन में छिपाकर व्यक्त करना नहीं जानती।

कहीं कहीं विरह इतना करुण हो जाता है कि पाठकों की आँखें भर आती हैं—

जोबन रूप अछल दिन चारि।
से देखि आदर कपल मुरारि॥
अब भेल झाल कुसुम रस छूछ।
वारि बिहुन सर केओ न पूछ॥

राधा के लिए कृष्ण की व्याकुलता भी कुछ कम नहीं है। अपने तथा-कथित ऐश्वर्य में वे सुखी नहीं हैं—

तिल एक सयन ओत जिउ न सहए, न रहए दुहु तनु भीन।
माझे पुलक गिरि अंतर मानिअ, अइसन रहु निसि दीन॥

सजनी कोन परि जीवए कान।
राहि रहल पुर हम मथुरा पुर एतहु सहए परान ॥

मिलन

चिर वियोग के पश्चात् मिलन का वर्णन कवि से बहुत ही सुन्दर बन पड़ा है। प्रिय और प्रिया अपना अस्तित्व खोकर एक हो जाते हैं। यह मिलन प्रकृति और पुरुष का है। अब यह बात आपकी भावना पर निर्भर है कि आप इसे राधा-कृष्ण का मिलन कहें या साधारण नायक-नायिका का—

चिर दिने से विहि भेल अनुकूल रे,
दुहु मुख हेर इते दुहु से आकुल रे।
बाहु पसारिया दुहे दुहुँ धरु रे,
दुहु अधरामृते दुहु मुख भरु रे।
दुहु तन काँपइ मदन उछल रे,
कि कि कि करि किंङ्किणी रुचल रे।
जतहि स्मृति नव बदन मिलल रे,
दुहु पुलकावलि ते लहु लहु रे।
रसे मातल दुहु बदन खसल रे,
'विद्यापति' कह रस-सिन्धु उछरल रे ॥

रूप के कवि

विद्यापति रूप और प्रेम के कवि हैं। उनकी भावनाएँ हर ओर से चक्कर लगाकर रूप पर ही स्थिर होती हैं। भैरवी के रूप-वर्णन में वीभत्स रस का यद्यपि पूर्ण परिपाक हुआ है—

वासरि-रैनि सवासन सोभित
चरन चन्द्र मणि चूड़ा ।
कतओक दैत्य मारि मुँह मेलल
कतओ उगल कैल कूड़ा ॥

किन्तु कवि को जैसे इससे असन्तोष-सा हुआ हो, अतः अगली पंक्तियों में उसे हारकर लिखना पड़ा—

सामर बरन, नयन अनुरंजित
जलद-जोग फुल कोका ।

भैरवी के काले शरीर में लाल नेत्रों की उपमा बादलों में खिले हुए लाल कमल से देना यह सिद्ध करता है कि विद्यापति रूप के कवि थे, अन्य विषय उनकी रुचि के अनुकूल नहीं थे ।

राधा के रूप-वर्णन में कवि की दृष्टि सृष्टि की प्रत्येक सुन्दर वस्तु पर जाती है । अपनी आराध्या का श्रृंगार करने के लिए कवि आकाश के तारे तोड़ लाने में भी संकोच नहीं करता । आवश्यकतानुसार वह उनमें अपनी कल्पना का रंग भी भरता है । राधा का रूप कवि के लिए एक पहेली है । अबोध बालक की भाँति जिज्ञासु अपनी माँ का सौन्दर्य समझने के लिए नाना प्रकार की कल्पनाएँ करता है—

अमिअक लहरी वय अरविन्द[1] ।
विद्रुम पल्लव फूलल कुन्द[2] ॥
निरखि निरखि मोजे पुनु हेरु ।
दमन लता पर देखल सुमेरु[3] ॥

---

१. मुख से अमृत की लहरें उछल रही हैं ।

२. प्रवाल (अधर) पर कुन्द के फूल (दाँत) खिले हैं ।

३. द्रुम लता पर सुमेरु (कुच) हैं ।

साँच कहओो मोये सखिन अनंग।
चन्द्रक मण्डल जमुन तरंग[1] ॥

× × ×

सुन्दर बदन चारु अरु लोचन
काजल रंजित बेला।
कनक कमल माझ काल भुजंगिनि[2]
स्रीयुत खंजन खेला ॥

× × ×

सुन्दर बदन सिन्दुर-बिन्दु सामर चिकुर भार।
जनि रवि-ससि संगहि उगल पाछ कय अँधकार ॥
चंचल लोचन बाँक निहारिय, अंजन सोभा पाय।
जनि इन्दीवर पवन पेलल अलि भरे उलटाय ॥
उनत उरोज चिर झपावये पुनु पुनु दरसाय।
जइयो जतने गोअये चाहये हिमगिरिन नुकाय ॥

लोक-कल्याण की भावना

राधा-कृष्ण की लीला के इस अमर गायक ने तत्कालीन सामाजिक कुरीतियों का चित्रण भी सुन्दरतापूर्वक किया है। बाल-विवाह का एक उदाहरण पर्याप्त होगा:—

१—चन्द्र मण्डल (मोती के हार) में यमुना की तरंगें (त्रिबली) लहरा रही हैं।

२—मुख पर कजरारे नयन मानों स्वर्ण-कमल पर काली नागिन हैं।

पिया मोर बालक हम तरुनी।
कोन तप चुकलौंह भेलौंह जननी॥
पिया लेलीं गोद के चललि बजार।
हटिया क लोग पूछे के लागु तोहार॥
नहिं मोर देवर नहिं छोट भाइ।
पुरुख लिखल छल बालमु हमार॥

विद्यापति ने हिन्दू और इस्लाम धर्म के अनुयायियों को एक समझा है और उनकी एकता पर जोर दिया है—

हिन्दू तुरके मिलल वास एकक धम्मे अओक उपहास।
कतहु बाँग, कतहु बेद, कतहु मिसमिल, कतहु छेद॥
कतहु ओझा, कतहु बोजा, कतहु नकत, कतहु रोजा।
कतहु तम्वा कतहु कूजा, कतहु निमाज, कतहु पूजा॥

प्रकृति-वर्णन

पं० सुमित्रानन्दन पंत के अतिरिक्त हिन्दी के प्रायः सभी कवियों ने प्रकृति को उद्दीपन रूप में देखा है। प्रकृति मानवीय कार्य-व्यापारों की सहायिका के रूप में आई है। यदि विद्यापति आलम्बन रूप में प्रकृति का वर्णन करते तो शायद बहुत सुन्दर होता। परन्तु अपने उद्दीपन रूप में भी वह किसी से कम सुन्दर नहीं हैं—

हे हरि, हे हरि, सुनिय श्रवन भरि
अब न विलास क बेरा।
गगन नखत छल से अवेकत मेल
कोकिल करइ छ फेरा॥

चकवा मोर सोर कए चुप भेल
उठिय मलिन भेल चन्दा।
नगर क धेनु डगर कए संचर
कुमुदिन बस मकरन्दा॥

× × ×

दूभर बादर माह भादर
सून मन्दिर मोर॥

× × ×

मोर बन बन सोर सुनइत
बढ़त मनमथ पीर।
प्रथम छार असाढ़ आओल
अबहु गगन गँभीर॥

+ + +

फुटल कुसुम नव कुंज कुटिर बन
कोकिल पंचम गाव रे।
मलयानिल हिम सिखर सिधारल
पिया निज देस न आव रे॥

युद्ध-वर्णन

यौवन और रूप के कवि विद्यापति ने मातृ-भूमि के रक्षार्थ तलवार हाथ में लेकर यवन-साम्राज्य को चुनौती दी थी। प्रेम की पीर और मिलन की मधुरिमा से सने पद लिखनेवाली लेखनी तलवार की चमक से अछूती नहीं है—

दूर दुग्गम दमसि भँजेओ
गाढ़ गढ़ गूढ़िय गँजेओ
पातसाह ससीम सीमा
समर दरसओ रे ॥

ढोल तरल निसान सद्दहि
भेरि कोहल संख नद्दहि
तीनि भुवन निकेत केतकि
सान भरिओ रे ॥

मेरु कनक सुमेरु कम्पिअ
धरनि पूरिय गगन झम्पिअ
हनि तुरए पदाति मम भर
कमन सहिओ रे ॥

तरल तर तरवारि रंगे
बिज्जु दाम छटा तरंगे
घोर घन संघात वारिस
काज दरसेओ रे ॥

देवसिंह नरेन्द्र-नन्दन
शत्रु नरवइ कुल-निकन्दन
सिंह सम सिवसिंह गाया
सकल गुनक निधान
गनिओ रे ॥

विद्यापति भावुक कवि होने के साथ-साथ सुयोग्य सेनापति भी थे। जहाँ उनकी श्रृङ्गारिक रचनाओं में सौन्दर्य और माधुर्य साकार हो उठा है, वहीं उनके युद्ध-वर्णनों में युद्ध सजीव हो उठे हैं।

सूक्ष्म-दर्शिनी दृष्टि

कहा जाता है कि दिल्ली के लोदी शासक ने उन्हें कमरे में बन्द कर व्यंग्य से कहा था—"जहाँ सूरज की किरणें भी नहीं जा पातीं, वहाँ कवि चला जाता है। बताओ, हरम में क्या हो रहा है ?" विद्यापति ने कहा—

कामिनि करिय असनाने,
हेरितहिं हृदय हनय पँच-बाने।
चिकुर गरय जल-धारा,
जनि मुख शशि डरे रोअय अन्हारा॥

'हरम में बेगमें सचमुच स्नान कर रही थीं' इस कथन में सत्य कितना है, कहा नहीं जा सकता; किन्तु विद्यापति की सूक्ष्मदर्शिनी दृष्टि देखते हुए यह घटना असम्भव भी नहीं लगती।

विद्यापति का महत्त्व

गीता के कृष्ण को भागवत के दशम स्कंध का कृष्ण विद्यापति ने ही बनाया। कृष्ण की माधुरी से उन्होंने आनेवाली पीढ़ी को इस तरह भिंगो दिया कि उससे अधिक वह कुछ देख ही न सकी।

रीति-काल की कला-पक्ष-प्रधान शृंगारिक भावना का बहुत कुछ श्रेय विद्यापति को ही है। विद्यापति का काव्य शृङ्गार और भक्ति का संगम है। उनके काव्य की यही दो धाराएँ भक्ति और रीति-काल में दो विभिन्न रूपों में प्रकट हुईं।

हिन्दी के प्रारम्भिक कवि होने के साथ ही साथ उन्हें बँगला का भी प्रारम्भिक कवि माना जाता है। किन्तु उनके क्रियापद हिन्दी के हैं, अतः वे वास्तव में हिन्दी के ही कवि हैं।

मिथिला में विवाहादि शुभ कार्यों में उन्हीं के गीत गाये जाते हैं। मिथिला का प्रत्येक वर शिव और कृष्ण बनता है और प्रत्येक वधू पार्वती और राधा।

पूर्वा

है अलख अरूप पिता सब का,
मानव मानव में भेद नहीं।
है पिण्ड और ब्रह्माण्ड एक,
सत् पुरुष सत्य है, वेद नहीं।

मानवता का सन्देश बनी
साखी, सबदी, दोहरा, बानी।
भारत के कण कण में गूँजी
वाणी कबीर की कल्याणी!

कबीर

जन्म—ज्येष्ठ पूर्णिमा सं० १४५५　　　निधन—माघ सुदी ११ सं० १५७५

कबीर का जन्म एक विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से, जिसे स्वामी रामानन्द ने अनजान में पुत्रवती होने का आशीर्वाद दिया था, हुआ था। लोक-लाज से वह इनका पालन-पोषण कर सकने में असमर्थ थी; अतः शिशु कबीर को लहर-तारा तालाब (काशी के पास) के किनारे फेंक आई। नीरू (पति) तथा नीमा (पत्नी) नामक एक जुलाहे दम्पति ने इनका पालन पोषण किया। एक दिन नाटकीय ढंग से गंगा जी की सीढ़ियों पर लेटकर आप स्वामी रामानन्द के शिष्य बने। बन-खण्डी वैरागी की पालिता कन्या लोई के साथ इनका विवाह हुआ था और उससे कमाल नामक पुत्र और कमाली नाम की कन्या उत्पन्न हुई थी। कमाल ने धन को ही जीवन का उद्देश्य बना लिया था; अतः उससे कबीर असन्तुष्ट रहा करते थे। लोई रूपवती और पति-परायणा थी। काशी में कबीर का स्थायी निवास था। जुलाहे का काम कर ये जीविका चलाते थे। जीवन भर ये आर्थिक समस्याओं से मुक्ति न पा सके। इनकी स्पष्ट-वादिता ने बहुत-से शत्रु पैदा कर लिये। कहा जाता है कि सिकन्दर लोदी ने इन्हें मृत्यु-दण्ड की आज्ञा दी थी। पीछे इनसे प्रभावित होकर इन्हें काशी छोड़ देने को कहा। जीवन के अन्तिम काल में ये मगहर चले गये, जहाँ इनकी मृत्यु हुई। रैदास, नामदेव, पीपा जी, गुरु नानक और चिद्रूप इनके सम-कालीन सन्त थे जो इनका सम्मान करते थे। ये निश्छल इतने थे कि विरोधियों का भी इन्हें विश्वास प्राप्त था। जो सामने आया, वह प्रभावित हुए बिना न रहा। मृत्यु के पश्चात् इनके सम्प्रदाय के कई भाग हो गये। आज भी भारत में नौ लाख कबीर-पंथी पाये जाते हैं।

रचनाएँ—रमैनी, साखी, सबद, बीजक।

तूफान मानव के लिए बहुत महँगा पड़ता है। अपने क्रोड़ में वह नाश लिये आता है, किन्तु उसमें निर्माण की भी शक्ति होती है। बहुत-से रत्न, जो जलधि के आँचल में अनजाने पड़े रहते हैं, वेला पर आकर छिटक जाते हैं। यह सच है कि वे बहुत महँगे पड़ते हैं; किन्तु उनका वास्तविक मूल्य देखते हुए हमें अपना उत्सर्ग अधिक नहीं दीखता। राम को पाकर हम दानवों के अत्याचार भूल गये; कृष्ण की मोहिनी मुरली में हमें कंस की सुधि भी न रही; स्वतंत्रता और धर्म का मूल्य देकर हमने कबीर को पाया। यदि कोई जाति सैकड़ों वर्षों की गुलामी के बाद भी कबीर जैसा महापुरुष पा सके, तो हम उसे गौरव-शाली ही कहेंगे।

कबीर का दर्शन

कबीर ने स्वयं स्वीकार किया है कि मैंने 'मसि कागज छूयो नहीं, कलम गही नहिं हाथ'। जिस सिद्धान्त का उन्होंने प्रतिपादन किया है, वह नितान्त मौलिक नहीं है। उन्होंने सत्संग किया था और प्रत्येक धर्म की अच्छी बातें स्वीकृत कर ली थीं। सत्य सर्वदा शाश्वत हुआ करता है। सभी धर्मों के मूल में एक भावना है। कबीर-पन्थ में सभी धर्मों का समन्वय है।

ईश्वर के प्रति कबीर के निम्न प्रकार के विचार हैं।

ईश्वर

नहिं निरगुन, नहिं सरगुन भाई, नहिं सूछम-अस्थूल।
नहिं अक्षर, नहिं अविगत भाई, ये सब जग की भूल॥

कबीर एकेश्वरवादी थे। उन्होंने स्पष्ट कहा है—

साहब मेरा एक है, दूजा कहा न जाय।
दूजा साहब जो कहूँ, साहब खरा रिसाय॥

चार भुजा के भजन में भूलि परे सब सन्त।
'कबिरा' सुमिरै ताहि को जाकी भुजा अनन्त॥

वह एक ईश्वर (सत्त नाम) संसार में सर्वत्र व्याप्त है। उसका पता नहीं बताया जा सकता। यदि कोई ताज-महल में बैठकर ताज-महल का पता पूछे तो उसे कोई क्या बता सकता है?

मोको कहाँ ढूँढ़े बन्दे, मैं तो तेरे पास में।

× × ×

कस्तूरी कुण्डल बसै, मृग ढूँढ़ै बन माहिं।
ऐसे घट में पीव है, दुनियाँ जानै नाहिं॥

× × ×

तेरा साईं तुज्झ में, ज्यों तिल माहीं तेल।

× × ×

पूरि रह्यो असमान धरनि में, जित देखो तित साहब मेरा।

× × ×

यदि कोई हठकर पूछना ही चाहे कि आखिर वह ईश्वर कैसा है, तो इसका उत्तर कबीर के पास नहीं है। तुलसी की भाँति 'ग्रसे जे मोह पिसाच, पाखण्डी हरि-पद बिमुख' कहकर स्वर्ग का दरवाजा बन्द कर देने की धमकी वे नहीं देना चाहते थे। ज्ञान-मार्गी होने के कारण किसी की जिज्ञासा बलात् दबा देना उन्हें अच्छा न लगता था। देखिए, कितने मधुर शब्दों में उन्होंने 'अगम अगोचर' का रूप समझाने का प्रयत्न किया है—

भारी कहूँ तो बहु डरूँ हलका कहूँ तो झूठ।
मैं का जानूँ राम को नयनों कबहुँ न दीठ॥

×

बाबा अगम अगोचर कैसा, ताते कहि समझाऊँ ऐसा।
जो दीसै सो तो है नाहिं, है, सो कहा न जाई।
सैना-बैना कहि समझाऊँ गूँगे का गुर भाई॥
दृष्टि न दीसै मुस्टि न आवै तिन सै नाहिं नियारा।
ऐसा ज्ञान कथा गुरु मेरे पण्डित करौ बिचारा॥
बिन देखे परतीति न आवै, कहे न कोउ पतियाना।
समझा होइ सो सबदै चीन्हैं अचरज होइ अयाना॥
कोई ध्यावै निराकार को कोइ ध्यावै साकारा।
वह तो इन दोउन तैं न्यारा, जानै जाननहारा॥

कबीर ने अवतारवाद का डटकर विरोध किया है—

दशरथ कुल अवतरि नहिं आया। नहीं लंक के राम सताया।
नहिं देवकी के गरभहिं आया। नहीं यशोदा गोद खेलाया॥
पृथिवी रमन दमन नहिं करिया। पैठि पताल नहीं बलि छरिया।
रूप बराह धरनि नहिं धरिया। छत्री मारि निछत्र न करिया॥

यह इसलिए कि कबीर ब्रह्म को गुणातीत मानते हैं—

अहै दयालु द्रोह नहिं वाके, कहौ कौन को मारा।
ई सब काम नहीं साहब के झूठ कहै संसारा॥

सत्तपुरुष के अतिरिक्त सब मिथ्या है। संसार में जो कुछ हम देखते हैं, वह उसी का प्रतिबिम्ब है—

कहीं नारि कहिं नर होइ बोलैं, गैब पुरुष वह आहीं।
आपै गुरु होइ मंत्र देत हैं, सिस होइ सबै सुनाहीं॥

× × × ×

आपही भक्त, भगवन्त है आपही, और नहिं दूसरा अर्ज सुने री।

× × ×

इस संसार का निर्माण उसी से हुआ है और उसी में इसका अवसान भी हो जायगा—

सुन्न का बुदबुदा, सुन्न उतपत भया, सुन्नहीं माहिं फिर गुम होई।

× × ×

जीव और ब्रह्म

कबीर अद्वैतवाद के समर्थक हैं। जीव और ब्रह्म उनके मत में दो नहीं—

बीज मध्य ज्यों बिरछा दरसै, बिरछा मद्धे छाया।
परमातम में आतम तैसे, आतम मद्धे माया॥
ज्यों नभ मद्धे सुन्न देखिये, सुन्न अण्ड आकारा।
निह-अच्छर तें अच्छर तैसे, अच्छर छर बिस्तारा॥
ज्यों रबि मद्धे किरन देखिये, किरन मध्य परकासा।
परमातम में बीज ब्रह्म इमि, जीव मध्य तिमि स्वासा॥
आपहि बीज, बृच्छ, अंकूरा, आप फूल, फल, छाया।
आपहि सूर, किरन, परकासा, आप ब्रह्म, जिव, माया॥
आतम में परमातम दरसै, परमातम में झाँई।
झाँई में परछाँई दरसै, लखै कबीरा साँई॥

कबीर के इस कथन के स्पष्टीकरण के लिए महादेवी वर्मा की निम्न पंक्तियाँ पर्याप्त हैं—

मैं तुमसे हूँ एक, एक हैं जैसे रश्मि प्रकाश।
मैं तुमसे हूँ भिन्न, भिन्न ज्यों घन से तड़ित्-विलास॥

कबीर सम्पूर्ण संसार को ब्रह्ममय ही मानते हैं। उनका विश्वास है—

कहुँ चोर हुआ, कहुँ साह हुआ,
कहुँ बाम्हन है कहुँ सेख जी।

उन्हें इस सत्य पर इतना विश्वास है कि वे कहते हैं—

हरि मरिहैं तौ हमहूँ मरिहैं।
हरि न मरै, हम काहे को मरिहैं॥

माया

माया के ही कारण जीव और ब्रह्म में भेद है। मकड़ी जिस प्रकार अपने जाल में स्वयं वन्दी बन जाती है, उसी प्रकार माया ने भी ब्रह्म से ही जन्म पाकर उसे वन्दी बना लिया है। जहाँ तक दृष्टि जाती है, माया ही माया दिखाई देती है। यही माया—

केसव के कमला ह्वै बैठी, सिव के भवन भवानी।
पण्डा के मूरति ह्वै बैठी, तीरथ में भइ पानी॥
जोगी के जोगिन ह्वै बैठी, राजा के घर रानी।
काहू के हीरा ह्वै बैठी, काहु के कौड़ी कानी॥
भक्तन के भक्तिन ह्वै बैठी, ब्रह्मा के ब्रह्मानी।
कहैं 'कबीर' सुनो हो सन्तौ, यह सब अकथ कहानी॥

स्वामी शंकराचार्य ने आत्मा और परमात्मा को एक ही सत्ता बताया है। जीव और ब्रह्म में जो भेद दिखाई पड़ता है, उसका कारण माया ही है। माया के हटने पर दोनों मिलकर एक हो जाते हैं। कबीर ने शंकर का अद्वैत दर्शन इस प्रकार व्यक्त किया है—

जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फुटा कुम्भ जल जलहि समाना, यहु तत कथौं गियानी॥

मानव शरीर के अन्दर ब्रह्म का निवास है और बाह्य संसार में भी सर्वत्र ब्रह्म व्याप्त है। शरीर दीवार का काम करती है। वह जीव (शरीर के भीतर के ब्रह्म) और ब्रह्म को मिलने नहीं देती। शरीर का आवरण हटते ही दोनों मिलकर एक हो जाते हैं।

कबीर की कविता

यह कहा जा चुका है कि कबीर का उद्देश्य कविता करना नहीं था। अपने दार्शनिक सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के लिए उन्होंने कविता को माध्यम बनाया था। फिर भी कबीर-साहित्य में काव्य के सभी गुण पाये जाते हैं। कबीर का कवि रूप उनके युग-द्रष्टावाले रूप से कम नहीं है।

कबीर ने एक स्थान पर अपने को 'राम का कुत्ता' कहा है। जितने सम्बन्धों की कल्पना की जा सकती है, लगभग सभी सम्बन्ध उन्होंने राम से स्थापित किये हैं। किन्तु सबसे बढ़कर सम्बन्ध पति-पत्नी का है। 'एक प्राण दो देह' की जितनी सुन्दर अभिव्यंजना पति-पत्नी सम्बन्ध में हो सकती है, उतनी अन्य किसी में नहीं। आत्मा (प्रकृति) को कबीर ने पत्नी कहा है और परमात्मा (पुरुष) को पति।

पति-पत्नी के प्रतीक के रूप में पुरुष और प्रकृति के सम्बन्ध की दो अवस्थाएँ होती हैं—

(१) विरह—माया का आवरण तोड़कर प्रकृति पुरुष से मिलने के लिए छटपटाती है।

(२) मिलन की कल्पना का उन्माद।

किन्तु इन दोनों दशाओं में प्रधानता विरह की ही है। प्रथम में तो विरह बहुत ही करुण और प्रबल होता है; और द्वितीय में मिलन की कल्पना से आनन्द की अनुभूति होती है, यद्यपि करुणा यहाँ भी किसी न किसी रूप में व्याप्त रहती है।

विरह की अवस्था—

बालम आओ हमरे गेह रे, तुम बिन दुखिया देह रे॥
सब कोइ कहै तुम्हारी नारी, मो को यह सन्देह रे।
एक मेक होय सेज न सोवै, तब लग कैसो नेह रे॥

सेजरिया बैरिन भइ हमको जागत रैन बिहाय रे।
अब तो बेहाल 'कबीर' भये हैं बिन देखे जिउ जाय रे॥

× × × ×

बहुत दिनन की जोवती, बाट तुम्हारी राम।
जिव तरसै तुझ मिलन कूँ, मन नाहीं बिसराम॥

मिलन की अवस्था—

दुलहनी गावहु मंगलचार, हम घरि आये राजा राम भरतार॥
तन रति कर मैं मन रति करिहौं, पाँचों तत्व बराती।
रामदेव मोहिं ब्याहन आये, मैं जोवन-मद-माती॥
सरिर सरोवर वेदी करिहौं ब्रह्मा बेद उचारा।
रामदेव सँग भाँवरि लैहौं धनि धनि भाग हमारा॥
सुर तैंतीसो* कौतुक आये, मुनिवर सहस अठासी।
कह 'कबीर' मोहिं ब्याह चले हैं एक पुरुष अविनासी॥

संसार की असारता

जन-साधारण को भगवान की भक्ति की ओर प्रेरित करने के लिए कबीर ने संसार की असारता दिखाई है—

यह संसार कागद की पुड़िया, बूँद परे घुल जाना है।
यह संसार काँट की बाढ़ी उलझ उलझ मर जाना है॥
यह संसार झाड़ औ झंखड़ आग लगे बरि जाना है।
कहत 'कबीर' सुनो भइ साधो, सतगुरु नाम ठिकाना है॥

क्षणभंगुर शरीर की ओर इंगित कर वे कहते हैं—

---

*सुर तैंतीसों = ३ गुण + ५ तत्व + २४ सांख्य शास्त्र की २४ पदार्थ-संख्या + १ साक्षी पुरुष

या—३ गुण + ५ तत्व + २५ प्रकृतियाँ।

मन रे तन कागद् का पुतला।
लागे बूँदि विनसि जाइ छिन में गरब करै क्या इतना॥

कभी श्मशान पर ले जाकर कहते हैं—

देखहु यहु तन जरता है।

× × ×

झूठे तन कौ कहा गरबिये। मरिये तौ पल भर रहन न पइये॥
खीर खाँड घृत प्यंड सँवारा। प्रान गये ले बाहरि जारा॥
चोवा चन्दन चरचत अंगा। सो तन जरै काठ के संगा॥
'दास कबीर' यहु कीन विचारा। इक दिन ह्वैहै हाल हमारा॥

और मानव कृषक को उपदेश देते हैं—

काम क्रोध दो गदहा निकले खेती चरन न पावैं।

कला-पक्ष

मोर का पंख स्वतः सुन्दर होता है; उसे अंग-राग की आवश्यकता नहीं पड़ती। कबीर भावनाओं के वेग में इस प्रकार बह गये कि अलंकारों की ओर ध्यान देने का उन्हें अवकाश ही न रहा। फिर भी कबीर की कविता में अलंकारों का अभाव नहीं है। उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक तो उनकी कविता में बार-बार आये हैं; कोई चमत्कार-प्रदर्शन की दृष्टि से नहीं, वरन् भाव स्पष्ट करने के लिए। अलंकारों का इतना स्वाभाविक प्रयोग अन्य किसी कवि की कविता में नहीं मिलता।

जुलाहे और बढ़ई के सांग रूपक कबीर की कविता में अनेक बार आये हैं। अपने सांग रूपकों में कबीर ने जन-साधारण का भी ध्यान रखा है। सांग

रूपक कबीर ने उन्हीं व्यापारों के दिये हैं जिनसे वे स्वयं परिचित थे और जिन्हें सामान्य जनता भी जानती थी।

झीनी झीनी बीनी चदरिया।
काहे क ताना, काहे की भरनी, कौन तार से बीनी चदरिया;
इड़ा पिंगला ताना भरनी, सुखमन तार से बीनी चदरिया।
आठ कँवल, दस चरखा डोलैं, पाँच तत्व गुन तीनी चदरिया;
साईं को सियत मास दस लागै, ठोंकि ठोंकि कै लीनी चदरिया।
सो चादर सुर, नर, मुनी ओढ़ी, ओढ़ि के मैली कीनी चदरिया;
दास 'कबीर' जतन कै ओढ़ी, ज्यों की त्यों धरि दीन्ही चदरिया।

कबीर की कविता में अन्योक्तियाँ भी पर्याप्त मात्रा में हैं—

माली आवत देखि कै, कलियाँ करीं पुकार।
फूली फूली चुन लईं, कालि हमारी बारि॥

उलटवाँसियाँ

उलटवाँसियों का प्रयोग निश्चय ही कबीर ने चमत्कार-प्रदर्शन और मूर्ख जनता को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए किया था। कबीर को इसके लिए चाहे कितना ही निर्दोष क्यों न माना जाय, किन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि दार्शनिक सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के लिए उलटवाँसियाँ उपयुक्त माध्यम नहीं हैं। इन तालों के खोलने की कुंजियाँ सन्तों के ही पास हैं, जो इनका सीधा अर्थ बताने की अपेक्षा पहेली बुझाना ही अधिक अच्छा समझते हैं। जिज्ञासु पाठक इनके अर्थ बाबा पूर्णदास की टीका या श्री पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव लिखित 'कबीर साहित्य का अध्ययन' में पा सकते हैं।

उलटवाँसियों का सीधा अर्थ कहीं कहीं बहुत अस्वाभाविक-सा जान पड़ता है; किन्तु उसका आध्यात्मिक अर्थ बहुत ही सुन्दर है—

संतो अचरज यक भौ भारी, माँ पुत्र धइल महतारी।
पितहि के संग भइल बावरी, कन्या रहल कुँवारी।
खसमहिं छाँड़ि ससुर सँग गवनी, सो किन लेहु विचारी।
भाई के सँग ससुरे गवनी, सासुहिं सावन दीन्हा।
ननद-भौज परपंच रच्यो है, मोर नाम कहि लीन्हा।
समधी के सँग नाहीं आई सहज भई घर बारी।
कहैं 'कबीर' सुनौ हो सन्तो पुरुष जनम भो नारी।

× × ×

बाबा मेरा ब्याह कराओ अच्छा बरहि तकाय।
जौ लौं अच्छा ना मिलै तौ लौं तुमहि बिहाय।

× × ×

उलटवाँसियों में विरोध-मूलक अलंकारों की प्रधानता रहती है—

समुन्दर लागी आगि, नदियाँ जलि कोइला भई।
उठा 'कबीरा' जागि, मंछी रूखा चढ़ि गई॥

× × ×

एक अचम्भा देखा रे भाई। ठाढ़ा सिंह चरावै गाई॥
पहिले पूत पीछे भइ माइ। चेला कै गुरु लागै पाइ॥
जल की मछली तरवर भाई। पकड़ि बिलाई मुरगै खाई॥
बैलहि डारि गूँनि घरि आई। कूता कूँ लै गई बिलाई॥
तलि कर साखा उपरि कर मूल। बहुत भाँति जड़ लागै फूल॥
कहैं कबीर या पद कूँ बूझै। ताकूँ तीन्यूँ त्रिभुवन सूझै॥

ये सब बातें निश्चय ही लोक-प्रसिद्धि के विरुद्ध हैं; अतः अचम्भे की बातें हैं। परन्तु साम्प्रदायिक परम्परा के अनुसार—

सिंह=ज्ञान (या ज्ञानी मन)। गाय=मन सहित इन्द्रियाँ। पूत=ज्ञान। पीछे भई=अधीन या अनुसारिणी हुई। माइ=माया। चेला=विकार रहित

चित्त। गुरु=मन (विकार-युक्त)। जल=माया (या शरीर या संसार)। मछली=मनसा, वृत्ति। बिलाई=दुर्मति। मुरगा=ज्ञानी मन। बैल=इन्द्रियों सहित मन। गूँनि=वासना, सुरति। घर=अंतर्मुख, परमात्मा की ओर। कुत्ता=काल। लै=लौ, ध्यान। गई बिलाई=विलीन हो गई। शाखा=इन्द्रियाँ। मूल=आत्मा। फूल=भाव भक्ति।[१]

आदि अर्थों के ग्रहण करने पर विरोध या अचम्भे की कोई बात नहीं रह जाती। फिर भी इनमें कोरा शाब्दिक चमत्कार है, जो कला की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। यहाँ यह बतला देना भी आवश्यक जान पड़ता है कि हमारे यहाँ ईसवी छठी शताब्दी से ही उलटवाँसियों की परम्परा चल पड़ी थी। नाथ-पन्थ की बहुत-सी उलटवाँसियाँ मिलती हैं। कबीर ने उसी परम्परा का पालन किया था।

भाषा

प्राचीन काल में सन्तों में विचारों और भाषाओं का आदान-प्रदान हुआ करता था। इस कारण लगभग सभी भाषाओं के शब्द कबीर-साहित्य में आये हैं।

खड़ी बोली—वेद बड़ा कि जहाँ मैं आया
एक अचम्भा ऐसा भया

ब्रज—लेट्यो भोमि बहुत पछितान्यौ

अवधी—निंबिया छोलि छोलि खाई
प्रेम खटोलवा कसि कसि बाँध्यो

राजस्थानी—बीछड़ियाँ मिलिबौ नहीं, ज्यों काँचली भुवंग
गोव्यंदे तुम थैं डरपौं भारी

भोजपुरी—त्रिगुण रहित फल रमि हम राखल

१—'कबीर साहित्य का अध्ययन'—श्री पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव एम० ए०

फारसी—पीराँ मुरीदाँ काजियाँ मुल्ला अरु दरवेस।
हम चु बूद निबूद खालिक गरक हम तुम पेस।

किन्तु इस पँचमेली भाषा में भी कबीर का अपनापन है। दूसरी भाषाओं के बहुत प्रचलित शब्द ही उन्होंने लिये हैं।

छन्द

कबीर साहित्य में गेय पदों का बाहुल्य है। दोहे का प्रयोग भी कबीर ने बहुत किया है। यदि वे चाहते तो अन्य छन्दों का भी प्रयोग कर सकते थे, जैसा कि निम्न उदाहरणों से प्रकट होता है—

सोरठा—सन्त सब्द परमान, अनहद बानी जो दृढ़ै।
और झूठ सब ज्ञान, कहैं कबीर विचारि कै॥

गजल—हमन है इश्क मस्ताना, हमन को होशियारी क्या।
रहैं आजाद या जग से, हमन दुनियाँ से यारी क्या॥
जो बिछड़े हैं पियारे से, भटकते दर बदर फिरते।
हमारा यार है हममें हमन को इन्तजारी क्या॥
न पल बिछड़े पिया हमसे, न हम बिछड़े पियारे से।
उन्हीं से नेह लागा है, हमन को बेकरारी क्या॥
कबीरा इश्क का माता, दुई को दूर कर दिल से।
जो चलना राह नाजुक है, हमन सिर बोझ भारी क्या॥

अतुकान्त—सत गुरु की परतीति, सत्त नाम निज सार है।
सोई मुक्ति सँदेस, सुनो साध सत भाव से।

हिन्दी साहित्य में कबीर का स्थान

कबीर की भाषा सधुक्कड़ी है। भारत के लगभग सभी प्रदेशों की बोल-

चाल के शब्दों का उसमें बाहुल्य है। कविता में शास्त्रीय छन्दों का अभाव है। जगह जगह यति-भंग है। किसी एक विषय की जमकर उन्होंने चर्चा नहीं की और न किसी विशिष्ट विषय का वैज्ञानिक प्रतिपादन ही वे कर पाये हैं।

परन्तु इन दोषों के होते हुए भी कबीर का हिन्दी साहित्य में उच्च स्थान है।

कबीर को हम दो भागों में बाँट सकते हैं—

(१) दार्शनिक और सुधारक कबीर और

(२) कवि कबीर।

जहाँ कबीर दार्शनिक और सुधारक के रूप में आते हैं, वहाँ उनका नेता भाव कवि को दबा देता है। नेहरू जी जब किसी सभा में भाषण करने लगते हैं, तो विश्वास नहीं होता कि यही व्यक्ति हिन्दुस्तान की कहानी, आत्म-कथा और इन्दिरा को लिखे गये पत्रों का लेखक भी है। मंच की भाषा और दार्शनिक चिन्तन की भाषा में जमीन आसमान का अन्तर होता है। कबीर ने जहाँ अपने पंथ के सिद्धान्तों का निरूपण किया है या धर्म-सुधार के सुझाव रखे हैं, वहाँ वे युग-द्रष्टा के रूप में आये हैं; अतः उनमें कवित्व न रहना स्वाभाविक ही है।

आत्मा और परमात्मा के मिलन की आकुलता और संसार की नश्वरता-सम्बन्धी उनके गीत हिन्दी काव्य में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। ऐसे लगभग १०० से अधिक पद हिन्दी साहित्य की अमर निधि हैं।

हिन्दू-मुसलिम एकता

अरे इन दोउन राह न पाई।
हिन्दू अपनी करै बड़ाई, गागर छुवन न देई।
बेस्या के पायन तर सोवै, यह देखो हिन्दुआई।

मुसलमान के पीर औलिया, मुरगी मुरगा खाई।
खाला केरी बेटी ब्याहैं, घरहिं में करैं सगाई।
हिन्दुन की हिन्दुआई देखौ, तुरुकन की तुरुकाई।
कहैं 'कबीर' सुनौ भइ साधौ, कौन राह ह्वै जाई।

हिन्दू और मुसलमान दोनों रेल की समानान्तर पटरियों-से चल रहे थे। दूर तक देखने से जान पड़ता था कि वे समानान्तर पटरियाँ कहीं न कहीं अवश्य मिल जायँगी। इस मिलन की आशा में हम बहुत दूर गये भी, किन्तु निराशा ही हाथ आई। उनका मिलन-विन्दु क्षितिज की दूरी बन गया था। कबीर ने उन्हें मिलाने का नया मार्ग ढूँढ़ निकाला। उन्होंने सोचा कि यदि बीच में खड़े होकर इन्हें खरी-खोटी सुनाई जाय तो शायद दोनों कुछ सँभलें, अपने दोषों की ओर ध्यान दें। और यदि यह असम्भव हो तो चिढ़ कर वे उन्हें (कबीर को) मारने को ही दौड़ें; जिसके परिणाम-स्वरूप वे (कबीर) तो नष्ट हो जायँगे, किन्तु ये समानान्तर पटरियाँ शायद आपस में मिल जायँगी। किन्तु दैव प्रतिकूल था—हिन्दू और मुसलमानों को न मिलना था, न मिले। हाँ कबीर अवश्य मिट गये। जो परिस्थिति कबीर ने चार-पाँच सौ वर्ष पूर्व देखी थी, वही आज भी ज्यों की त्यों बनी है। हम पाकिस्तान बनाकर भी नापाक ही रहे। कैसी विडम्बना है!

कबीर ने हिन्दुओं और मुसलमानों की बहुत मीठी चुटकी ली है। वे स्पष्ट-भाषी थे। किसी से आदर पाने की उन्हें चाह न थी; इसी से उनके व्यंग्य कहीं-कहीं इतने कटु हो गये हैं कि पाखण्डी उन्हें पचा नहीं सकते। दवा तो कड़वी होती ही है। तिस पर इस वैद्य ने तो उसे मधु के साथ नहीं, आदी और तुलसी के रस के साथ सेवन करने की सलाह दी है—

मैं तुहिं पूछौं मुसलमाना, लाल जरद का ताना बाना।
काजी काज करौ तुम कैसा, घर घर जबै कराओ वैसा॥

बकरी मुरगी किनकर माया, किसके हुकुम तुम छुरी चलाया।
दर्द न जाने पीर कहावैं, वैता पढ़ि-पढ़ि जग समुझावैं॥

दिन भर रोजा धरत हौ, राति हनत हौ गाय।
एक खून, एक वन्दगी, कैसे खुसी खुदाय॥

धार्मिक आडम्बर कबीर के लिए एक अन-बूझ पहेली बन गया था। वे व्यंग्य से पूछते हैं—

मसजिद भीतर मुल्ला पुकारै, क्या साहिब तेरा बहरा है।

× × × ×

सुनति कराय तुरुक जो होना, औरत को क्या कहिये।
अरध सरीरी नारि बखानी, ताते हिन्दू रहिये॥

× × ×

व्यक्तिगत स्वतंत्रता के वर्त्तमान युग में हम कबीर की स्पष्टवादिता का मूल्य न समझ सकेंगे। उन दिनों ऐसे विचार व्यक्त करने के कारण प्राण-दण्ड तो साधारण बात थी। यह उनके खरेपन का ही परिणाम था कि कभी वे शान्ति से एक जगह कुछ दिन टिककर न रहने पाये।

कबीर ने दोनों धर्मों के ठेकेदारों से प्रार्थना की—

जो तू साँचा बानियाँ, साँची हाट लगाव।
अन्दर झाड़ू देय कै, कूड़ा दूरि बहाव॥

× × ×

गहना एक कनक ते गहना, तामें भाव न दूजा।
कहन सुनन को दुइ कर लाये, यक नेवाज, यक पूजा॥
वही महादेव, वही मुहम्मद, ब्रह्मा आदम कहिये।
कोइ हिन्दू कोइ तुरुक कहावै, एक जमीं पर रहिये॥

बेद किताब पढ़, वै कुतबा, वै मुलना, वै पाँड़े।
बिगत-बिगत कै नाम धरायो, यक माटी के भाँड़े॥

पर वहाँ सुनता कौन था!

दोष

कबीर की स्पष्टवादिता में कोई सन्देह नहीं कर सकता। यह ठीक है कि सत्य सदैव कटु और अप्रिय होता है। किन्तु यदि हम किसी बहरे से कहें कि 'तुम बहरे हो' और उसकी श्रवण-शक्ति ठीक कर सकने की कोई औषधि न दे सकें तो यह सत्य होते हुए भी अग्राह्य है। यदि कोई डाक्टर कहे कि चाय पीने से स्फूर्ति आती है, तो माना जा सकता है। परन्तु रजत-पटल की तारिकाओं और क्रिकेट के खेलाड़ियों का मत इस विषय में किसी अंश में मान्य नहीं हो सकता। कबीर के विषय में भी यही समझना चाहिए। वेद-शास्त्र पढ़ने का न तो कबीर को अवकाश था और न सामर्थ्य। किन्तु यह न जानते हुए भी कि हाथी का सूँड़ किधर है, उन्होंने जी भरकर वेद-शास्त्रों की निन्दा की, जिसका परिणाम यह हुआ कि कोई शिक्षित और सुसंस्कृत व्यक्ति उनसे दीक्षा न ले सका।

काल-क्रम

परिमार्जित भाषा के दृष्टि-कोण से जान पड़ता है कि उलटवाँसियाँ और ऐसे पद, जिनमें सांकेतिक नाम और संख्याएँ आई हैं, उन पदों से पीछे बने हैं, जिनमें सरल भाषा में दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन हुआ है। इस प्रकार की पहेलियाँ बुझाने में कबीर का प्रयोजन मूर्ख जनता को अपनी ओर आकर्षित करना ही है। इनकी अर्थ-दुरूहता देखते ही बनती है—

सुमति पचीस पाँच से कर ले, यह सब जग भरमाया।
अकार, उकार, मकार मातरा, इनके परे बताया॥

परा, परंती, मधमा, वैखरि, चौबानी ना मानी।
पाँच कोष नीचे करि देख्यौ इनमें सार न जानी॥
कुरम, सेस, किरकिला, धनञ्जय, देवदत्त कहँ देखो।
चौदह इन्द्री, चौदह इन्द्रा, इनमें अलख न पेखो॥
तत् पद, त्वं पद, और असी पद, वाच्य लक्ष्य पहिचाने।
जहद् लच्छना अजहद् कहते अजहद् जहद् बखाने॥

इस पद का सौन्दर्य तभी अक्षय रहता है, जब आप इसे कबीर-पंथियों के मुँह से गाते हुए सुनें। जहाँ आपको यह ज्ञात हुआ कि 'अकार, उकार, मकार' के माने सोऽम है। वहाँ इसका सारा सौन्दर्य लुप्त हो जाता है।

कहीं-कहीं ऐसा जान पड़ता है कि कबीर को अपने सिद्धांतों में स्वयं विश्वास नहीं था। कबीर ने अवतारवाद का डटकर विरोध किया था। अवतरित भगवान् के कृत्यों का उल्लेख कर आपने लिखा है—ई सब कामि नहीं साहब के व्यर्थ कहे सब कोई। किंतु वही कबीर एक स्थल पर कहते हैं—

राजा अम्बरीष के कारनि चक्र सुदरसन जारै।
दास कबीर को ठाकुर ऐसो भगति की सरन उबारै॥

पुनर्जन्म के विषय में भी उनके सिद्धांत स्पष्ट नहीं हैं। इस्लाम धर्म पुनर्जन्म नहीं मानता, पर हिन्दू धर्म मानता है। कबीर की दोनों धर्मों से सहानुभूति थी। किंतु जहाँ इनमें परस्पर मतभेद है, वहाँ हम कबीर से ठीक मत जानने की कामना करते हैं। किन्तु कबीर स्पष्ट उत्तर न देकर हमें अँधेरे में ही रखते हैं। कहीं तो वे पुनर्जन्म के विरोधी से देख पड़ते हैं—

जियरा ऐसा पाहुना मिलै न दूजी बार।

× × ×

मानुष तन दुर्लभ अहै, बहुरि न दूजी बार।
पका फल जो गिरि परै, बहुरि न लागै डार॥

और कहीं पुनर्जन्म का भय दिखाकर भजन करने को कहते हैं—

दिवाने मन, भजन बिना दुख पैहो।
पहिला जनम भूत का पैहौ, सात जनम पछतैहो।
काँटा पर कै पानी पैहौ प्यासन ही मरि जैहो॥
दूजा जनम सुआ का पैहो बाग बसेरा लैहो।
टूटे पंख, बाज मँडराने, अधफर प्रान गवैंहो॥
बाजीगर के बन्दर ह्वैहो·························।

सम्पूर्ण कबीर दर्शन का सार यही है—

"यह भी है, वह भी है; और यह भी नहीं है, वह भी नहीं है।"

फिर क्या है? और क्या नहीं है? इस प्रश्न के आगे एक बड़ा-सा प्रश्न-चिह्न लगा है जिसके आगे अंधकार है, कुछ दिखाई नहीं देता।

कबीर-साहित्य में हमें नाश और निर्माण दोनों के तत्त्व मिलते हैं। कहीं तो वे हमारे सामने एक सहृदय समाज-सुधारक के रूप में आते हैं और समाज के कल्याण के लिए मार्ग बतलाते हैं; और कहीं क्रान्तिकारी के रूप में जर्जर समाज को नष्ट कर देना चाहते हैं। समाज नष्ट हो जाने के बाद मनुष्य का क्या रूप होगा? फिर वह नये समाज का निर्माण करेगा या नहीं? और यदि करेगा भी तो उसमें रहनेवालों का पारस्परिक सम्बन्ध क्या होगा? इन बातों का उत्तर कबीर नहीं देते।

मनुष्य दूसरों की सहानुभूति लेकर जीता है। जहाँ कबीर को हम उनके अस्पष्ट विचारों के लिए दोषी ठहराते हैं, वहाँ हमें उनकी परिस्थितियाँ भी न भूलनी चाहिएँ। कबीर को मरने के लिए काशी में साढ़े तीन हाथ जमीन भी न मिल सकी। उनके कथन (जौ कबिरा काशी मरै तो रामहि कौन निहोरा) का हवाला देकर यह कहना कि वे मग्गह के ऊसर में स्वेच्छा से मरने चले गये थे, वैसा ही लगता है, जैसा गंग का हाथी से चीरे जाने के पहले का यह कहना—

चाह भई परमेश्वर को तब गंग को लैन गनेस पठायो।

कहा जाता है कि कबीर की माँ नीमा भी उनके विरोधियों का प्रतिनिधित्व करने के लिए सिकन्दर लोदी से काशी में मिलने गई थी। विचार करने की बात है कि इतने अधिक विरोधों में पला हुआ व्यक्ति समाज के नाश की नहीं तो क्या निर्माण की योजना बनावेगा? क्या अच्छा होता, यदि भारत अपने इस बदनाम समाज-सुधारक को पहचान सका होता।

कबीर के अन्तिम दिनों की लिखी पंक्तियों में कितनी ग्लानि भरी है! जान पड़ता है, जैसे भग्न-हृदय फूट निकलना चाहता हो—

मैं परदेसी काहि पुकारौं इहाँ नहीं कोउ मेरा।
यहु संसार ढूँढि सब देखा, एक भरोसा तेरा॥

कबीर जब तक जीवित रहे, हिन्दू और मुसलमान दोनों उनकी जड़ खोदने पर तुले रहे। किन्तु उनके मरते ही दोनों ने उन्हें 'अपना' कहना प्रारम्भ कर दिया। कबीर तो फूल बन चुके थे—एक ऐसा फूल जिसमें अपना कहने को कुछ भी नहीं होता, पर जिसकी सुरभि सारे संसार की होती है। कोई उन्हें जलाये या दफन करे, इससे उन्हें क्या?

पूर्वा

एक वह अव्यक्त जिससे
सृष्टि का निर्माण होता।
ज्योति का आगार है जो,
है जहाँ अवसान होता।

शैतान माया जीव के
आनन्द प्याले का गरल है।
साधना का काम क्या?
पथ-प्रेम का सीधा सरल है।

जायसी

जन्म—सं० १४९९ निधन—सं० १५९९

मलिक मुहम्मद जायसी का जन्म जायस नगर में हुआ था। चेचक की बीमारी के कारण 'मुहमद बाईं दिसि तजा इक सरवन इक कान'। जायसी विशेष पढ़े-लिखे न थे। केवल सत्संग के कारण उनका ज्ञान विकसित हुआ था। उन्होंने तीस वर्ष की अवस्था से कविता लिखना प्रारम्भ किया था। शेख मोहिदी और सैय्यद अशरफ उनके गुरु थे। पूर्वी अवधी भाषा तथा दोहे और चौपाई छन्द में उन्होंने रचना की है। अमेठी नरेश के यहाँ उनका विशेष सम्मान था। अमेठी में ही उनकी कब्र भी बनी है।

रचनाएँ—पद्मावत, अखरावट और आखिरी कलाम।

प्रेम के कवि

जायसी मानवीय प्रेम के अमर गायक हैं। न जाने कहाँ से लोगों ने पद्मावत में अन्योक्तियाँ, समासोक्तियाँ और न जाने क्या क्या ढूँढ़ा है, किन्तु हम समझते हैं कि इससे जायसी की महत्ता बढ़ने की अपेक्षा घटती ही है।

पद्मिनी नारी-सुलभ जिज्ञासा से वर को देखना चाहती है, सखियाँ उसे दिखाकर कहती हैं—

…तू जस चाँद, सुरुज तोर नाहू।
छपा न रहै सूर परगासू। देखि कँवल मन होइ बिकासू॥
ऊ उजियार जगत उपराहीं। जग उजियार सो तेहि परछाहीं॥

मधु राका की गोधूलि-बेला में सखियाँ उससे कहती हैं—'जेहि जिउ दीन्ह ताहि जिउ दीजे'। पद्मिनी के हृदय में नवोढ़ा पत्नीवाला भय है—

अन्हचिन्ह पिउ, काँपौं मन माँहाँ। का मैं करब गहब जो बाँहाँ॥

किसी प्रकार सखियाँ उसे समझा-बुझाकर पति के पास लाती हैं। पति और पत्नी का स्वाभाविक मिलन होता है—

गही बाँह धनि सेजवाँ आनी। अंचल ओट रही छिपि रानी॥

लज्जा का व्यवधान कुछ देर बना रहता है। थोड़ी देर बाद दोनों हिल-मिल जाते हैं—

हँसि पदमावति मानी बाता। निहचय तू मोरे रँग राता॥

इसके बाद—,

कहि सत भाव भई कँठ लागू। जनु कंचन औ मिला सोहागू॥
चौरासी आसन पर जोगी। खट रस बंधक चतुर सो भोगी॥
कली बेधि जनु भँवर भुलाना।… … … …
नारँग जानि कीर नख दिए। अधर आमरस जानहुँ लिए॥
कौतुक केलि करहिं दुख नंसा। खूँदहिं कुरलहिं जनु सर हंसा॥

हमारा कुछ और कहना अश्लीलता में गिना जायगा; इसलिए आगे का प्रसंग 'पद्मावत' में ही देख लीजिए।

मधु राका पद्मिनी के जीवन में सौभाग्य उँडेलकर चली जाती है। अनुरागमयी ऊषा के आगमन के समय सखियाँ आकर उससे पूछती हैं—

रानी तुम ऐसी सुकुमारा। फूल वास तन जीव तुम्हारा॥
सहि नहिं सकहु हिये पर हारू। कैसे सहिउ कंत कर भारू?
अधर-कँवल जो सहा न पानू। कैसे सहा लाग मुख भानू?
लंक जो पैग देत मुरि जाई। कैसे रही जौ रावन राई?

पद्मिनी का उत्तर एक नवोढा पत्नी का उत्तर है—

आपन रस आपुन पै लेई। अधर सोइ लागे रस देई॥
हिया थार कुच कंचन लाडू। अगमन भेंट दीन्ह कै चाँडू॥
जोबन सबै मिला ओहि जाई। हौं रे बिच हुँत गइउँ हेराई॥

यदि इसे मन और बुद्धि का अथवा आत्मा और परमात्मा का मिलन माना जाय तो काव्य का सारा सौन्दर्य नष्ट हो जायगा। इस मिलन का आध्यात्मिक अर्थ लग भी नहीं सकता। सूफी सिद्धान्त के अनुसार पद्मिनी बुद्धि या परमात्मा की प्रतीक होगी, अतः प्रधानता उसी की होनी चाहिए। किन्तु यहाँ हम उसे लाज और संकोच से सिकुड़ी हुई छूई-मूई-सी नवोढ़ा पत्नी के रूप में देखते हैं; और पुरुष पक्ष (रत्नसेन) ही प्रधान दिखाई देता है।

षट्-ऋतु वर्णन में हम सुखमय दाम्पत्य जीवन की सरलता देखते हैं—

भइ निसि, धनि जस ससि परगसी।

× × ×

चमक बीजु, बरसै जल सोना। दादुर मोर सबद सुठि लोना॥
रँग-राती पीतम सँग जागी। गरजे गगन चौंक गर लागी॥
हरियर भूमि कुसुम्भी चोला। औ धनि पिउ सँग रचा हिंडोला॥

फिर एक दिन वह भी आता है, जब प्रिय और प्रिया मिलकर एक होते हैं—

मन सौं मन तन सौं तन गहा। हिय सौं हिय, विच्च हार न रहा॥

प्रेम का वियोग पक्ष कृपया 'नागमती का विरह-वर्णन' में देखिए।

विपत्नियों की कलह का जायसी ने बहुत सजीव वर्णन किया है। दूती से फुलवारी में नागमती की उपस्थिति जानकर पद्मावती भी वहीं पहुँच गई; और—

दुवौ सवति मिलि पाट बईठी। हिय विरोध, मुख बातैं मीठी॥

आग और घी इकट्ठे हुए नहीं कि जल उठे। पद्मिनी और नागमती के इकट्ठे होते ही झगड़ा प्रारम्भ हो गया। पहले तो दोनों ओर से व्यंग्य-वाण चले। फिर पद्मिनी ने कहा—

तू तौ राहु, हौं ससि उजियारी। दिनहिं न पूजै निसि अँधियारी॥
सेजवाँ रोइ रोइ निसि भरसी। तू मोंसौं का सरवरि करसी?
मैं हौं कँवल सुरुज कै जोरी। जौं पिय आपन तौ का चोरी?

नागमती अपने रूप का अपमान न सह सकी। उसने कहा—

हौं साँवरि सलोन मोरे नैना। सेत चीर, मुख चातक बैना॥
नासिक खरग, फूल धुव तारा। भौंहैं धनुक गगन गा हारा॥
हीरा दसन सेत औ सामा। छपै बीजु जौं बिहँसे बामा॥
बिद्रुम अधर रंग रस-राते। जूड़ अमिय रस रबि नहिं ताते॥
साँवरि जहाँ लोन सुठि नीकी। का सरवरि तू करसि जो फीकी॥

झगड़े का यहीं अन्त नहीं होता। हाथा-पाई की भी नौबत आती है—

वह ओहि कहँ, वह ओहि कहँ गहा। काह कहौं तस जाइ न कहा॥
दुवौ नवल भरि जोबन गाजैं। अछरी जनहुँ अखारे बाजैं॥

भा वाहुन वाहुन सों जोरा। हिय सों हिय, कोइ बाग न मोरा॥
कुच सों कुच भइ सौंहें अनी। नवहिं न नाए, टूटहिं तनी॥

इस कलह पर ध्यान दीजिए। क्या यह 'बुद्धि' और 'दुनियाँ-धन्धा' का विवाद जान पड़ता है? 'दुनियाँ-धन्धा' की बात का उत्तर न देकर बुद्धि हाथा-पाई पर उतारू हो जाय, यह रूपक समझ में नहीं आता। रत्नसेन (मन) का निर्णय हमारे इस सन्देह की पुष्टि करता है—

धूप छाँह दोउ पिय के रंगा। दूनो मिलि रहहीं एक संगा॥
जूझ छाँड़ि अब बूझहु दोऊ। सेवा करहु सेव-फल होऊ॥
गंग जमुन तुम नारि दोउ ... ... ।
× × ×
अस कहि दूनौं नारि मनाई। विहँसि दोउ तव कंठ लगाई॥

रूप

काने और कुरूप कवि जायसी के लिए रूप एक ईश्वरीय देन थी, जो संसार में विरले को ही मिलती है। कवि के रूप की प्यास भौतिक जीवन में नहीं बुझ सकी थी। यदि जायसी भी रसखान की भाँति मुरली-मोहन के रूप की ओर आकर्षित हो सके होते तो शायद अधिक सफल रहते। किन्तु उनका इस्लाम उनके पथ की सबसे बड़ी बाधा था। इसी कारण उनके रूप-चित्र बहुत ही धुँधले और मानवीय हैं। मानवीय रूप जब कवि की आध्यात्मिक भावनाओं से तादात्म्य स्थापित कर लेता है, तब उसमें एक अनिवर्चनीय पवित्रता आ जाती है। इस प्रकार के भोंडे रूप-चित्र भी अपनी पवित्रता के कारण सुन्दर जान पड़ते हैं। पद्मावती की ओर कवि चाहे कितना ही आध्यात्मिक संकेत क्यों न करे, फिर भी वह उसमें राधा की पवित्रता न ला सका। इसके दो कारण हैं। एक तो उसमें इतना सामर्थ्य न था; और दूसरे जन-भावनाएँ उसके प्रतिकूल थीं। आगे चलकर रीति-कालीन कवियों ने

मानवीय सौंदर्य का निरूपण बहुत सफलता और सुन्दरता से किया है। किन्तु जायसी में कल्पना शक्ति की उस प्रतिभा का अभाव जान पड़ता है। फल-स्वरूप उनके रूप-चित्र 'गूँगे के गुड़' हो गये हैं। कवि कहना बहुत-कुछ चाहता है, पर कह कुछ नहीं पाता। अन्त में हारकर बादल-से केश, बिजली-से दाँत, सोने के घड़े-से कुच, कमल-सी गंध आदि कहकर ही सन्तोष कर लेता है। पद्मिनी की पनिहारिन का रूप देखिए—

पानी भरैं आवहिं पनिहारी। रूप सरूप पदमिनी नारी॥
पदुम गंध तिन अंग बसाहीं। भँवर लाग तिन्ह संग फिराहीं॥
लंक-सिंहिनी, सारंग नैनी। हंस-गामिनी, कोकिल-बैनी॥
जा सहुँ वे हेरहिं चख नारी। बाँक नैन जनु हनहिं कटारी॥

जौनपुरी कजलियों में 'नजरिया' और 'कटरिया' का तुक बहुत प्रचलित है। अनेक अशिक्षित और अज्ञात कवियों के रूप-चित्र यदि जायसी के इस चित्र से सुन्दर नहीं, तो इसके समान अवश्य होते हैं। किन्तु जायसी को यह रूप-चित्र इतना पसन्द आया कि इसी के बल पर लगे हाथ वे पद्मिनी का सौन्दर्य भी बखान चले—

माथे कनक-गागरी आहि रूप अनूप।
जेहि के अस पनिहारी सो रानी केहि रूप॥

जायसी की सभी उपमाएँ और उत्प्रेक्षाएँ पुरानी और परम्परा-गत हैं। अपनी सूझ से उन्होंने काम नहीं लिया है। इस प्रकार के रूप-चित्र सुन्दर अवश्य बन पड़े हैं, किन्तु इनका श्रेय जायसी को नहीं दिया जा सकता—

माँग—**कंचन रेख कसौटी कसी। जनु घन महँ दामिनि परगसी॥**
ललाट—**सहस किरन जो सुरुज दिपाई। देखि लिलार सोइ छिप जाई॥**
भौंह—**भौंहें स्याम धनुष जिमि ताना। जा सहुँ हेरि मारि बिस बाना॥**
अधर—**अधर सुरंग अमी रस भरे। बिम्ब सुरंग लागि बन फरे॥**
दाँत—**जस भादौं निसि दामिनी दीसी। चमकि उठै तस बनी बतीसी॥**

कुच—हिया थार कुच कंचन भारू। .... ॥
जंघा—जुरै जंघ सोभा अति पाये। केरा खम्भ फेरि जनु लाये॥

अतिशयोक्तियों की प्रचुरता के कारण जायसी के रूप-चित्र कहीं-कहीं बहुत हास्यास्पद भी हो गये हैं—

बेनी छोर झार जो बारा। सरग पताल होहिं अँधियारा॥

और पद्मिनी की कमर इतनी पतली है कि—

मानहुँ नाल खण्ड दुइ भये। दुहुँ बिच लंक तार रहि गये॥

जायसी ने जहाँ अपनी कल्पना से काम लिया है, वहाँ रूप-चित्र बहुत भोंडा हो गया है। 'घूँघरवार विष भरी अलकों' की माँग में गुथे हुए मोती जान पड़ते हैं मानो—

जमुना माँझ गंग कै सोती।

जमुना और अलकों का सादृश्य तो ठीक है, किन्तु गंगा और मोती का सम्बन्ध समझ में नहीं आता। केवल वर्ण-सादृश्य के कारण गंगा और जमुना के बीच उस सम्बन्ध की कल्पना कभी न की जा सकेगी, जो मोती और माँग के बीच होती है।

यौवन और प्रेम

प्रेम-मार्गीय साधना-पद्धति की-सी पवित्र अभिव्यक्ति जायसी के यौवन और प्रेम में नहीं आ सकी। पद्मिनी का यह कथन कितना अशोभन है—

एक दिवस पदमावति रानी। हीरामनि तहँ कहा सयानी॥
जोवन मोर भयेउ जस गंगा। देह देह हम्ह लाग अनंगा॥

× × ×

जोवन सुनेउ कि नवल बसन्तू। तेहि बन पर्‍यो हस्ति मैमन्तू॥
अब जोवन नारी जो राखा। कुंजर बिरह बिधंसे साखा॥

मैं जानेउँ जोवन रस भोगू। जोवन कठिन सँताप वियोगू॥
जोबन गरुअ अमेल पहारू। सहि न जाय जोवन कर भारू॥
जोवन अस मैमन्त न कोई। नवैं हस्ति जौं आँकुस होई॥
जोवन भर भादों जस गंगा। लहरैं देइ समाइ न अंगा॥

जोबन चंचल ढीठ है, करै निकाजे काज।
धनि कुलवन्ति जो कुल धरै, कै जोवन मन लाज॥

अबोध यौवन के प्रति जायसी का यह कथन अनुचित नहीं है। पद्मिनी के मुँह से अशोभन भले लगे, पर साधारण जन-समाज के विचार से ठीक ही है।

जायसी का प्रेम एक-निष्ठ है। प्रेमी अपने प्रेमास्पद को पाने के लिए सभी भौतिक सुखों की तिलाञ्जलि दे सकता है। प्रेम की गैल बहुत सँकरी है। स्वयं रत्नसेन को अपना जहाज इतने सँकरे समुद्र में ले जाना पड़ा था, जो—

अस साँकर चलि सकइ न चाँटा।

प्रेम मार्ग का बीहड़पन उनके सात समुद्रोंवाले वर्णन से स्पष्ट हो जाता है।

देवपाल की दूती के सामने पद्मिनी का पतिव्रत पर जो व्याख्यान हुआ है, वह भोंडा-सा है। रत्नसेन और देवपाल में कोई तुलना न थी। जो हो, पातिव्रत के आदर्श देखिए—

कुल कर पुरुष सिंह जेहि केरा। तेहि थल कैस सियार बसेरा॥
हिया फार कूकुर तेहि केरा। सिंहहिं तजि सियार मुख हेरा॥
सोन नदी अस मोर पिउ गरुआ। पाहन होइ परै जो हरुआ॥
जेहि ऊपर अस हरुआ पीऊ। सो कस डोलाये डोलै जीऊ॥

शृङ्गार

संयोग शृङ्गार के सौन्दर्य की कुछ चर्चा पहले 'प्रेम के कवि' शीर्षक के अन्तर्गत हो चुकी है। यहाँ उस सम्बन्ध की कुछ और बातें देखिए।

सूफी होने के नाते जायसी पर फारसी साहित्य का प्रभाव है। काम-शास्त्र के विशेषज्ञों का मत है कि गरम प्रदेशों के निवासियों में ठंढे प्रदेशों के निवासियों की अपेक्षा काम-तत्व अधिक रहता है। फारस के प्रेमी अपनी प्रेमिका के नयनों के तीरों से दिन भर में सैकड़ों बार मरते रहते हैं। फारसी परम्परा के कवि होने के नाते जायसी के शृङ्गार में अश्लीलता की मात्रा (अलौकिक प्रेम के संकेतों के होते हुए भी) अपेक्षाकृत अधिक है।

संयोग शृङ्गार

संयोग का एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

बादल युद्ध के लिए तैयार हो रहा है। उसी समय उसका गौना आता है। बादल को युद्ध के लिए उद्यत देखकर उसकी नवोढ़ा पत्नी सिर धुनने लगती है; और—

तब धनि विहँसि कीन्ह सहुँ दीठी। बादल ओहि दीन्ह फिर पीठी॥
मुख फिराय मन अपने रीसा। चलत न तिरिया कर मुख दीसा॥

बादल की पत्नी ने सोचा—

कस पिउ पीठ दीन्ह मोहिं देखे। .... ॥
मकु पिउ दिस्टि समानेउ सालू। हुलसी पीठि कढ़ावौं फालू॥
कुच तूँबी अब पीठ गड़ोवौं। गहै जो हूकि गाढ़ रस धोवौं॥

बादल को वह बहुत समझाती है कि तुम युद्ध में न जाओ; किन्तु बादल 'तिरिया भूमि खड़ग कै चेरी' कहकर उसका तिरस्कार करता है। अन्त में वह कहती है—

जौं तुम चहहु जूझि पिउ ! बाजा। कीन्ह सिंगार जूझ मैं साजा॥
जोबन आइ सौंह होइ रोपा। बिखरा बिरह, काम-दल कोपा॥
वहेउ बीर रस सेंदुर माँगा। राता रुहिर खड्ग जस नाँगा॥
भौंहें धनुक नैन-रस साधे। काजर पनच, बरुनि बिष-बाँधे॥
जनु कटाछ स्यों सान सँवारे। नख-सिख बान मेल अनियारे॥
अलक फाँस गिउ मेल असूझा। अधर-अधर सों चाहहिं जूझा॥
कुंभस्थल कुच दोउ मैमंता। पैलौं सौंह, सँभारहु, कंता॥

यह चूँड़ावत की जन्म-भूमि से आनेवाली पत्नी का कथन है ! जान पड़ता है, राजस्थान की वीर नारी जायसी के हाथों में पड़कर आठ-आठ आँसू रो रही है।

वियोग शृंगार

हिन्दी साहित्य में आँसुओं की उपमा मोती से दी जाती है, जिसकी पवित्रता सुविख्यात है। जायसी ने फारसी परम्परा के अनुसार आँसू को 'रकत के आँसू' कहकर बीर-बहूटी से उसकी उपमा दी है, इसी कारण जायसी के वियोग श्रृंगार के अधिकतर चित्र वीभत्स हो गये हैं। यथा—

बिरह के दगध कीन्हि तन भाठी। हाड़ जराइ दीन्ह सब काठी॥
नैन नीर सौं पोता किया। तस मद चुवा बरा जस दिया॥
बिरहि सरागन्हि भूँजै माँसू। गिरि गिरि परै रकत कै आँसू॥

× × ×

परी जो आँसु रकत कै टूटी। रेंगि चली जस बीर-बहूटी॥
ओहि रकत लिखि दीन्ही पाती। सुआ जो लीन्ह चोंच भइ राती॥
बाँधी कंठ परा जरि काँठा। बिरह क जरा जाइ कित नाठा॥
मसि नैना, लिखनी बरुनि, रोइ-रोइ लिखा अकत्थ।
आखर दहैं, न कोइ छुवैं, दीन्ह परेवा हत्थ॥

× × ×

पंचम विरह पंच सर मारे । रकत रोइ सगरौ बन ढारे ॥

जायसी के इन विरह-वर्णनों से करुणा की जगह जुगुप्सा उत्पन्न होती है । कहीं-कहीं तो विरह-वर्णन पढ़कर हँसी भी आ जाती है—

गहै बीन मकु रैन बिहाई । ससि बाहन तहँ रहै ओनाई ॥
पुनि धनि सिंह उरे ह्वै लागै । ऐसेहि बिथा रैन सब जागै ॥

× + ×

जरहि मिरिग बन खँड तेहि ज्वाला । औ ते जरहि बैठ तेहि छाला ॥
रोवत बूड़ि उठा संसारू । महादेव तब भयउ मयारू ॥

× × ×

जेहि पंखी के बिरह होइ, कहै बिरह कै बात ।
सोई पंखी जाइ जरि, तरिवर होहिं निपात ॥

नागमती

नागमती (रत्नसेन की पहली रानी) को कवि ने 'दुनियाँ-धन्धा' कहकर उसकी उपेक्षा की है; किन्तु उसका चित्र जायसी की तूलिका से बिगड़ते-बिगड़ते भी निखर उठा है । वह हमारे सामने ऐसी कर्त्तव्य-परायणा भारतीय पत्नी के रूप में आती है, जिसके लिए पति ही सब-कुछ है । जायसी के काव्य में यदि कोई भारतीय नारी का उच्चतम आदर्श देखना चाहे, तो उसे वह नागमती में ही मिलेगा । नागमती नारीत्व की चरम सीमा है ।

प्रारम्भ में वह हमारे सामने रूप-गर्विता पत्नी के रूप में आती है—

कै सिंगार कर दरपन लीन्हा । दरसन देखि गरब जिउ कीन्हा ॥

उसने हीरामन तोते से पूछा—

बोलहु सुआ पियारे नाहाँ । मोरे रूप कोइ जग माहाँ ॥

तोते ने उपेक्षा से उत्तर दिया—

का पूछहु सिंहल कै नारी। दिनहिं न पूजै निसि अँधियारी॥
पुहुप सुबास जो तिन्ह कै काया। जहाँ माथ, का बरनौं पाया?

तोते का यह कथन उसके 'हिये लोन अस' लगा। उसने यह विचार कर उसे दासी को मार डालने के लिए दे दिया। उद्देश्य यह था कि वह राजा को सिंहल की राजकुमारी का रूप न बतला सके।

पूजा के फूल-सी पवित्र कुमारी पति को अपना सब-कुछ दे देती है—आखिर किस लिए? क्या इसी लिए कि वह उस फूल को मसल डाले? और जब उसका रूप और सौरभ समाप्त हो जाय तो वह उसे ठुकरा दे? फिर नागमती ने तोते को प्राण-दण्ड देकर ऐसा क्या पाप किया, जिससे उसे 'दुनियाँ-धन्धा' का रूप दिया गया?

होनी कुछ और थी। राजा तोते के बिना उदास हो गया और 'जुआ हारि समुझी मन रानी' ने तोता उसे वापस दे दिया। राजा का यह व्यवहार उसके हृदय को साल गया। राजा को तोता लौटाते समय उसने जो कुछ कहा, उसमें भारतीय पत्नी का हृदय फूट पड़ा है—

मानु पीय! हौं गरब न कीन्हा। कंत तुम्हार मरम मैं लीन्हा॥
सेवा करै जो बरहौ मासा। एतनिक औगुन करहु बिनासा॥
मैं जानौं तुम मोहीं माहाँ। देखौं तनिक तौ हौ सब पाहाँ॥
का रानी का चेरी कोई। जा कहँ मया करहु भल सोई॥

नागमती का अनुमान सत्य निकला। हीरामन तोते ने राजा से पद्मावती के रूप की (गुण की नहीं, केवल रूप की; और वह भी 'पद्मावत' के पूरे दो सर्गों में) प्रशंसा की, जिसे सुनकर वह पद्मावती के प्रेम में जोगी हो गया। माँ ने समझाया—

बेलसहु नौ लख लच्छि पियारी। राज छाँड़ि जनि होहु भिखारी॥

किन्तु रत्नसेन तो मानों अपना पथ निश्चित कर चुका था।

नागमती ने रत्नसेन से अपने अहिवात की भीख माँगी। प्रयाण बेला में उसका यह कथन कितना मर्म-स्पर्शी है—

……हमहूँ साथ होब जोगिनी ॥
की हम्ह लावहु अपने साथा। की अब मारि चलहु एहि हाथा ॥
तुम्ह अस बिछुरै पीउ पिरीता। जहँवा राम तहाँ सँग सीता ॥
जौं लहि जिउ सँग छाड़ि न काया। करिहौं सेव पखरिहौं पाया ॥
भलेहि पदमिनी रूप अनूपा। हम तें कोइ न आगरि रूपा ॥

आँखों में आँसू भरे वह रत्नसेन को रोकती ही रही, किन्तु उसका पाषाण हृदय न पसीजा। पद्मावती को पाने के लिए वह चला ही गया। नागमती ने सोचा 'पिउ नहिं जात जात बरु जीऊ'। पर ऐसा हो न सका। मिलन की आशा न तो शरीर में प्राण रहने देती थी और न निकलने ही देती थी। उसका हृदय बैठ गया, हार भारी जान पड़ने लगा। उसकी प्यासी आँखों ने देखा—

भौंर कँवल सँग होइ मेरावा। सँवरि नेह मालति पहँ आवा ॥

किन्तु उसकी दुनियाँ सूनी थी। बरसात आई—

चढ़ा असाढ़ गगन घन गाजा। साजा बिरह दुंद दल बाजा ॥
खड़ग-बीजु चमकै चहुँ ओरा। बुन्द बान बरसहिं घनघोरा ॥
पुष्य नखत सिर ऊपर आवा। हौं बिनु नाह, मँदिर को छावा ॥

× × ×

सावन बरस मेह अति पानी। भरनि परी हौं बिरह झुरानी ॥

जब वेदना और भी बढ़ जाती है, तब वह अपनी सखियों की ओर देखती है—

सखिन रचा पिउ संग हिंडोला। हरियरि भूमि कुसुम्भी चोला ॥
हिय हिंडोल अस डोलै मोरा। बिरह झुलाइ देइ झकझोरा ॥

दिन बीतते जाते हैं। भादों आता है—

मँदिर सून पिउ अनते बसा। सेज नागिनी फिरि फिरि डसा॥
बरसै मघा झकोरि झकोरी। मोर दुइ नैन चुवैं जस ओरी॥

फिर एक दिन कुँआर भी आया—

चित्रा मित्र मीन कर आवा। पपिहा पीउ पुकारत पावा॥
स्वाति बूँद चातक मुख परे। समुँद सीप मोती सब भरे॥
भा परगास काँस बन फूले। कंत न फिरे, बिदेसहिं भूले॥

कातिक का चाँद वियोगिनी के लिए अभिशाप बन गया—

कातिक सरद चंद उजियारी। जग सीतल हौं बिरहै जारी॥
चौदह करा चाँद परगासा। जनहुँ जरैं सब धरति अकासा॥

दीवाली भी प्रियतम की याद बनकर आती है, पर उसका सौन्दर्य तो 'सवति' के लिए है। अगहन शीत का सन्देश लेकर आता है—

अगहन दिवस घटा निसि बाढ़ी। दूभर रैनि जाइ किमि काढ़ी॥
अब यहि बिरह दिवस भा राती। जरौं बिरह जस दीपक बाती॥

प्रियतम का पथ देखते-देखते पूस भी आया—

रैनि अकेलि साथ नहिं सखी। कैसे जियै बिछोही पखी॥
बिरह सचान भयेउ तन जाड़ा। जियति खाइ औ मुए न छाँड़ा॥

शीत का प्रकोप बढ़ चला—

लागेउ माघ परै अब पाला। बिरहा काल भयेउ जड़-काला॥
टप टप बूँद परहिं जस ओला। बिरह पवन होइ मारै झोला॥
केहिक सिंगार को पहिरु पटोरा। गीउ न हार रही होइ डोरा॥

और फिर—

फागुन पवन झकोरा बहा। चौगुन सीउ जाइ नहिं सहा॥
तन जस पियर पात भा मोरा। तेहि पर बिरह देइ झकझोरा॥

फागु करहिं सब चाँचरि जोरी। मोहि तन लाइ दीन्ह जस होरी॥

\+ + + +

चैत बसंता होइ धमारी। मोहिं लेखे संसार उजारी॥
बूड़ि उठे सब तरिवर-पाता। भींजि मजीठ, टेसु बन राता॥
बौरें आम फरें अब लागे। अबहुँ आउ घर कंत अभागे॥

अब ग्रीष्म ऋतु आई—

भा बैसाख तपनि अति लागी। चोआ चीर चँदन भा आगी॥
सूरुज जरत हिवंचल ताका। बिरह बजागि सौंह रथ हाँका॥
सरवर-हिया घटत नित जाई। टूक टूक हिय कै बिहराई॥

\+ + + +

जेठ जरै जग चलै लुवारा। उठहिं बवंडर परै अँगारा॥
दहि भइ साम नदी कालिंदी। बिरह क आगि कठिन अतिमंदी॥
उठै आगि औ आवै आँधी। नैन न सूझ, मरौं दुःख-बाँधी॥

एक-एक करके दिन बीत रहे हैं और वह विरहिणी वेदना का संबल लिये जी रही है। जब तक वह छलिया लौट न आवे, तब तक तो वह जियेगी ही। भौंरों और कागों से वह कहती है—

पिउ सौं कहहु सँदेसड़ा, हे भौंरा! हे काग।
सो धनि बिरहै जरि मुई, तेहि क धुवाँ हम्ह लाग॥

उसकी यही कामना है—

यह तन जारौं छार कै, कहौं कि 'पवन! उड़ाव'।
मकु तेहि मारग उड़ि परै, कन्त धरै जहँ पाव॥

सच बताइये, क्या नागमती का यह चित्र 'दुनियाँ-धन्धा' का है?
रत्नसेन लौटता भी है तो विवाहित होकर। फिर भी उसके प्रति नाग-

मती का प्रेम ज्यों का त्यों बना है। जब पद्मिनी उसकी श्यामता पर व्यंग्य करती है (मानों विधाता ने रूप गोरी स्त्रियों के नाम लिख दिया हो), अपने को प्रिय की प्रिया जताती है, उसकी वेदना की हँसी उड़ाती है, तो उसका नारीत्व जाग उठता है और वह पद्मिनी को पीट देती है। रत्नसेन 'गंग जमुन तुम नारि दोउ' कहकर नागमती के नारीत्व को बहुत ऊँचा उठा देता है।

रत्नसेन के बन्दी बन जाने पर जहाँ पद्मिनी की यह दशा होकर रह जाती है—

नैन-सीप, मोती भरि आँसू। टुटि टुटि परहिं करहिं तन नासू॥
हिये बिरह होइ चढ़ा पहारू। चल जोबन नहिं सकै न भारू॥

वहाँ नागमती सभी बन्धन तोड़कर उसे वापस लाने को उद्यत होती है—

फारि पटोरहि, पहिरौं कंथा। जौ मोहिं कोउ देखावै पंथा॥
वह पथ पलकन जाइ बोहारौं। सीस चरन कै तहाँ सिधारौं॥

रत्नसेन का पथ-प्रदर्शक हीरामन था; लेकिन अभागिनी नागमती? पद्मिनी के प्रति उसकी खीझ कम नहीं है; क्योंकि वही तो रत्नसेन के पतन का कारण बनी—

पदमिनि ठगिनि भई कित साथा। जेहि तें रतन परा पर-हाथा॥

निम्न पंक्तियों में नागमती का विरह कितना मार्मिक हुआ है—

होइ बसन्त आवहु पिय केसरि। देखे फिर फूले नागेसरि॥
अब अँधियार परा मसि लागी। तुम्ह बिनु कौन बुझावै आगी॥
नैन, श्रवन, रस, रसना सबै खीन भए, नाह।
कौन सो दिन जेहि भेंटि कै, आइ करै सुख छाँह॥

इस गरिमामयी नारी के जीवन का अन्तिम दृश्य हम उसे रत्नसेन के शव के साथ सती होते समय देखते हैं।

संक्षेप में, यह उन्हीं जायसी की लेखनी से लिखा हुआ नागमती का चित्र है, जो नागमती को दुनियाँ-धंधा कह गये हैं। यदि नागमती किसी अन्य अधिक सहृदय कवि की लेखनी पर आई होती तो शायद और भी अधिक निखर उठती। नागमती को 'दुनियाँ-धन्धा' मान लेने से कविता के शारीरिक सौन्दर्य की क्या दशा होगी, यह 'पद्मावत' को अन्योक्ति और समासोक्ति माननेवाले ही बतला सकते हैं।

नागमती यदि सचमुच छलना है, मृग-मरीचिका है, माया है, तो हम माया को ही प्यार करते हैं। यह माया इतनी प्यारी है कि हम इसी से सन्तोष कर लेंगे—हमें शाश्वत सुख और सत्य नहीं चाहिए। यदि नागमती जैसी पत्नी मिले तो दोजख (नरक) में भी हम सुख से रह लेंगे; सूफियों को उनकी बका (आनन्दमय अमर जीवन) मुबारक हो।

वर्णन

जायसी के सभी वर्णन परम्परा-गत हैं। कहीं उनकी मौलिक अनुभूति के दर्शन नहीं होते। जायसी का रूप-वर्णन तो हम देख ही चुके हैं। सिंहल द्वीप के वर्णन में लम्बी गिनतियाँ गिनाकर ही कवि ने सन्तोष कर लिया है।

ऐश्वर्य-वर्णन

राजा गंधर्वसेन के ऐश्वर्य के विषय में कवि की सम्मति है—

लंका सुना जो रावन राजू। तेहु चाहि बढ़ ताकर साजू॥

और अगली पंक्तियाँ हैं—

छप्पन कोटि कटक दल साजा। सबै छत्रपति औ गढ़ राजा॥
सोलह सहस घोड़ घोड़सारा। स्यामकरन औ बाँक तुखारा॥
सात सहस हस्ती सिंहली। जनु कविलास ऐरावत बली॥

गोस्वामी जी ने भी रावण के ऐश्वर्य का वर्णन किया है, किन्तु कभी वे काग़ज कलम लेकर उसकी सेना की जन-गणना करने उसके किले में न गये। पूरे एशिया महाद्वीप की जन-संख्या को गन्धर्वसेन की सेना बनाकर भी जायसी गोस्वामी जी की कला तक न पहुँच सके।

उपवन-वर्णन

उपवन का सौन्दर्य जायसी को कभी लुभा न सका। व्यर्थ के फूलों, फलों और पक्षियों के नामों की सूची देकर कवि ने उनसे जैसे-तैसे पिण्ड छुड़ाया है। 'नागमती-पद्मावती-विवाद खंड' में भी हम फलों और फूलों की व्यर्थ की तालिका ही देखते हैं।

समुद्र-वर्णन

समुद्र-वर्णन में कवि की कल्पना को खुलकर खेलने का अवकाश मिला है। यदि इसका नाम 'सात समुद्र खंड' न होता तो हम यह भी न जान पाते की कवि कहना क्या चाहता है। सात अर्द्धालियों में कवि ने क्षीर समुद्र का वर्णन किया है और सात बार उसने 'दरब' शब्द का प्रयोग किया है। दधि-समुद्र की झाँकी लीजिए—

दधि-समुद्र देखत तस दाधा। पेम क लुबुध दगध पै साधा॥
पेम जो दाधा धनि वह जीऊ। दधि जमाय मथि काढ़ै घीऊ॥
दधि एक बूँद जाम सब खीरू। काँजी बूँद बिनसि होइ नीरू॥
साँस डाँड़ि, मन मथनी गाढ़ी। हिये चोट बिनु फूट न साढ़ी॥

इन पंक्तियों का 'दधि-समुद्र' से क्या सम्बन्ध है, यह समझ में नहीं आता। आगे की तीन पंक्तियों में कवि ने प्रेम पर अपना मत व्यक्त किया है। और तब उसे जैसे 'दधि-समुद्र' से सन्तोष-सा हो गया और वह 'दधि-समुद्र फिर पार भे' लिखकर उदधि-समुद्र में रत्नसेन की छोटी-सी नाव, जिसपर 'दस सहस' जोगी बैठे थे, लेकर चला जाता है।

सात सागरों में केवल किलकिला समुद्र का वर्णन कवि से स्वाभाविक बन पड़ा है—

भा किल-किल अस उठै हिलोरा। जनु अकास टूटै चहुँ ओरा॥
उठै लहरि परबत कै नाईं। फिरि आवै जोजन सौ ताईं॥

ऋतु-वर्णन

वसन्त-वर्णन में कवि को सौन्दर्य कहीं दिखाई ही नहीं पड़ा। यहाँ भी हम व्यर्थ की नामावली पाते हैं—

काहू गही आँब कै डारा। काहू जाँबु बिरह अति झारा॥
कोइ नारँग कोइ झाड़ चिरौंजी। कोइ कटहर, बड़हर, कोइ-न्यौंजी॥
कोइ जायफर, लौंग, सोपारी। कोइ नरियर कोई गुवा छोहारी॥
कोइ बिजौर, करौंदा-जूरी। कोइ अमिली, कोइ महुअ खजूरी॥

हाँ, पद्मावती के मिलन और नागमती के विरह-वर्णन में ऋतुओं का वर्णन अच्छा हुआ है।

भोज-वर्णन

जितने पकवानों की जायसी कल्पना कर सके हैं, 'बादशाह-भोज-खंड' में उन सबकी उन्होंने एक विस्तृत तालिका बना दी है। जान पड़ता है, जायसी को कभी किसी राजा का भोजन देखने का अवसर नहीं मिला था। मांस के लिए जंगली जानवरों में हिरन, रोझ, लगना, गोइन और झाँख के साथ उन्होंने 'चीतर' का भी मांस पकाया है। चीतर साँप की भी एक जाति होती है और एक प्रकार का मृग भी। मांस के नशे में उन्होंने साँप पकाया है या मृग, यह तो वही जानें, किन्तु पक्षियों में तीतर और बटेर के साथ उन्होंने हारिल और चकोर तथा रोहू मछली के साथ सिधरी भी पका डाली है।

कहा नहीं जा सकता कि हारिल और चकोर का मांस भी कहीं खाया जाता है या नहीं; पर सिधरी मछली तो मध्यम श्रेणी के लोग भी नहीं खाते; फिर दिल्लीश्वर की दावत इनके बिना फीकी कैसे हो रही थी, यह समझ में नहीं आता।

पूरी का वर्णन जायसी ने बहुत प्रेम से किया है। उन्होंने यह भी बताया है कि गेहूँ पहले धो और पीसकर तब कपड़-छान किया गया था।

चढ़ी कड़ाही, पाकहिं पूरी। मुख मँह परत होइ सो चूरी॥
मुख मेलत खन जाहिं बिलाई। सहस सवाद सो पाव जो खाई॥
पूरि सोहारी कर घिउ चूआ। .... ॥

और समोसा—

भूँजि समोसा घिउ महँ काढ़े। लौंग मिरिचि जिन्ह भीतर ठाढ़े॥

जायसी ने भोज के वर्णन में पाक शास्त्र सम्बन्धी अपना ज्ञान दिखाना चाहा था, किन्तु पासा उलटा पड़ा। समोसे में लौंग और मिर्च ही नहीं पड़ती, और भी बहुत कुछ पड़ता है। और 'ठाढ़े' से तो ऐसा जान पड़ता है कि लौंग या मिर्च कूटी-पीसी भी नहीं गई थी! अन्य मसालों के नाम जायसी भूल ही गये। बघार की भी यही दशा हुई है—

करुये तेल कीन्ह बसवारू। मेथी कर तब कीन्ह बघारू॥

और इसके बाद एक साँस में सभी तरकारियों और पकवानों (पकवानों में कढ़ी और फुलौरी का भी नाम है) के नाम गिना गये हैं। मिठाइयों का वर्णन दो अर्द्धालियों में ही पूरा हो गया है। जान पड़ता है, मांस की अपेक्षा उन्हें मिठाइयाँ कम अच्छी लगती थीं। अन्तिम छः अर्द्धालियों में कवि ने 'पानी' की फिलासफी का वर्णन कर अपना पकवान-प्रकरण समाप्त किया है।

दार्शनिक चिन्तन

जायसी आडम्बर के युग में हुए थे। वह ऐसा युग था जिसमें सम्राट् (अकबर) भी पुत्र की कामना से पीर के मजार पर नंगे पाँव पैदल जाता था। इस प्रकार के अन्ध-विश्वास के युग में पले अशिक्षित काने कवि से हम बहुत अधिक आध्यात्मिकता की आशा भी नहीं कर सकते।

साहित्य, धर्म और समाज अलग-अलग वस्तुएँ हैं; इन्हें एक में नहीं मिलाया जा सकता। साहित्य और धर्म को एक में मिलाकर जायसी वैसे ही विफल रहे हैं, जैसे साहित्य और समाज को एक में मिलानेवाले आज-कल के प्रगतिवादी साहित्यिक।

जायसी के आध्यात्मिक विचार 'पद्मावत', 'अखरावट' और 'आखिरी कलाम' में यत्र-तत्र बिखरे हैं। 'अखरावट' और 'आखिरी कलाम' का तो उद्देश्य ही दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन है। पद्मावत में चित्तौर के अधि-पति रतनसेन और सिंहल की राजकुमारी पद्मावती की प्रणय-गाथा के छल से कवि ने सूफी सिद्धान्तों के प्रतिपादन का प्रयत्न किया है। आखिरी कलाम में कयामत (प्रलय) का वर्णन है। हो सकता है, कयामत की बात कहकर कवि का उद्देश्य जीवन की नश्वरता प्रमाणित कर समाज को साधना के पथ पर ले जाना रहा हो। जन-श्रुतियों के अनुसार पद्मावत की रचना के पश्चात् मुसलमान पीर जायसी को काफिर समझने लगे थे; और अपने को मुसलमान प्रमाणित करने के लिए उन्हें 'अखरावट' और 'आखिरी कलाम' लिखना पड़ा था। अनुमान और जन-श्रुति में सत्य कितना है, यह नहीं कहा जा सकता। किन्तु कवि के दार्शनिक सिद्धान्त समझने के लिए 'अखरावट' और 'आखिरी कलाम' ही अधिक उपयुक्त हैं। 'पद्मावत' कवि की प्रारम्भिक कृति है और उसमें हर जगह कवि को कथा का सूत्र बनाये रखना पड़ा है; इसी कारण उसमें व्यक्त दार्शनिक विचार बहुत अस्पष्ट हैं।

इस्लाम के अनुयायी जायसी एकेश्वरवाद के समर्थक हैं—

सुमिरौं आदि एक करतारू।

× × ×

एक अकेल न दूसर जाति।

× × ×

आदि अन्त जो एक मुहमद कह दूसर कहा ?

× × ×

एक तें दूसर नाहिं, बाहर भीतर बूझ ले।
खाँड़ा दुइ न समाहिं, मुहमद एक मियान महँ॥

जायसी ने उस एक का नाम न लेकर विभिन्न संकेतों द्वारा ही उसे जताने का यत्न किया है। पूरा पद्मावत पढ़कर भी बेचारा पाठक उस 'एक' को जान या समझ नहीं पाता। भेद तो तब खुलता है, जब हम अखरावट की निम्न पंक्ति पढ़ते हैं—

अलिफ—एक अल्ला बड़ सोई।

पद्मावत में जिन्होंने स्तुति पढ़ी है 'कीन्हेसि तेहि परबत कैलासू' शायद उन्हें इस 'अल्ला' से ठेस पहुँचे, किन्तु उन्हें यह भी जानना चाहिए कि यह कैलाश शंकर का नहीं है, यह तो हजरत मूसा का 'तूर' पहाड़ है जहाँ उन्होंने अलौकिक ज्योति देखी थी। इसकी पहली अर्द्धाली तनिक फिर पढ़िये—

कीन्हेसि प्रथम जोति परकासू। कीन्हेसि तेइ परबत कैलासू॥

और वह 'एक' जब सृष्टि रचने बैठा, तब हिन्दुओं के पाँच तत्वों (क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर) में से एक बनाना भूल गया; वह चार ही तत्व बना पाया—

कीन्हेसि अगिनि, पवन, जल, खेहा।

जीव-सृष्टि की रचना करते समय भी उस 'एक' ने—

पहिले रचा मुहम्मद नाऊँ।

जायसी के सिर अद्वैतवाद के दर्शन का सेहरा बाँधा जा चुका है; तो भी ये पंक्तियाँ अपना महत्त्व रखती ही हैं।

'मैं एहि अरथ पंडितन बूझा' के 'पंडितन' से घबराने की जरूरत नहीं है। इस 'पंडितन' को भी जायसी ने स्पष्ट कर दिया है—

पुनि उसमान पँडित बड़ गुनी।
लिखा पुरान सो आयत सुनी॥

उसमान × आयत और पुरान × पण्डित में बहुत अच्छा वज्र-गुणन (क्रॉस मल्टीप्लिकेशन) बन जाता है, जिसे हल करने से जायसी की हिन्दू प्रेम-कथा का रहस्य साफ समझ में आ जाता है। अलाउद्दीन की तलवार जो काम न कर सकी, उसे सूफी अपनी कलम से पूरा करना चाहते थे। दूसरे शब्दों में वे छद्म वेश में इस्लाम का प्रचार करना चाहते थे। और यहाँ यह दशा है कि प्रेम-मार्गीय भक्ति शाखा में किसी हिन्दू कवि का नाम नहीं मिलता।

कौन कह सकता है कि रत्नसेन की मृत्यु अलाउद्दीन के युद्ध में न कराकर देवपाल के युद्ध में कराने का कारण मात्र नायक की गरिमा बढ़ाने के सिवा, अलाउद्दीन के प्रति सहानुभूति जताना नहीं था। अलाउद्दीन माया का प्रतीक बनकर आया है और नारद शैतान का। किन्तु नारद के लिए कवि ने जिस शब्दावली का प्रयोग किया है, अलाउद्दीन उससे अछूता रहा है। आखिर कवि की अलाउद्दीन से इतनी सहानुभूति क्यों है?

जो हो, जायसी की सांकेतिक शब्दावली से हमारा काम नहीं चल सकता; अतः हम उनका दर्शन समझने के लिए उनके एक (अल्ला, ज्योति) के लिए 'ब्रह्म' का प्रयोग करेंगे। ब्रह्म से हमारा तात्पर्य उसके साम्प्रदायिक अर्थ से नहीं, बल्कि उसके ज्योतिः स्वरूपवाले व्यापक अर्थ से है।

यह संसार झूठ, थिर नाहीं।

केवल ब्रह्म ही सत्य है, उसका स्वरूप नहीं बताया जा सकता—

वा-वह रूप न जाइ बखानी। अगम अगोचर अकथ कहानी॥

किन्तु अरूप होते हुए भी निर्माण और नाश की सभी शक्तियाँ उसमें वर्त्तमान हैं—

जीव नाहिं पै जियै गोसाईं। कर नाहीं पै करै सबाहीं॥
जीभ नाहिं पै सब कुछ बोला। कर नाहीं सब ठाहर डोला॥
नयन नाहिं पै सब किछु देखा। ....॥

सृष्टि का निर्माण उसी ने किया है—

कीन्हेसि धरती सरग पतारू। कीन्हेसि बरन बरन औतारू॥
कीन्हेसि दिन दिनअर ससि राती। कीन्हेसि नखत तराइन पाँती॥
कीन्हेसि धूप सीतु औ छाँहा। कीन्हेसि मेह बीज तेहि माँहा॥
कीन्हेसि सप्त मही बरह्मंडा। कीन्हेसि भुवन चौदहों खंडा॥

जो चाहा सो कीन्हेसि, करै जो चाहै कीन्ह॥
बरजनहार न कोई, सबै चाहि जिउ दीन्ह॥

वह सभी बन्धनों से परे है—

ना ओहि पूत न पिता न माता। ना ओहि कुटुम न ओहि सँग नाता॥
जना न काहु न कोइ ओहि जना। जहँ लगि सब ताकर सिरजना॥

जायसी-दर्शन में कुछ इस प्रकार का पारस्परिक विरोध है कि पग-पग पर शंकाएँ उठती हैं और कवि स्वयं उनका उत्तर नहीं दे पाता। 'कीन्हेसि' और 'जना न काहु' इसी प्रकार के परस्पर-विरोधी पद हैं। जो हो, हम इस झगड़े से दूर रहकर जायसी के सिद्धान्त ही समझने का प्रयत्न करेंगे।

सृष्टि का निर्माण शून्य से हुआ है और शून्य में ही उसका अवसान भी होता है—

सुन्नहि ते उपजे सब कोई। पुनि बिलाय सब सुन्नहि होई॥

संसार क्षण-भंगुर है। सृष्टि में उसका अपना अस्तित्व नहीं है—

पानी महँ जस बुल्ला, तस यह जग उतराइ।
एकहि आवत देखिये, एकहि जाइ बिलाय॥

जीव और ब्रह्म माया के कारण ही दो हैं, किन्तु वे सदैव मिलकर एक हो जाने के लिए आकुल रहते हैं—

एकहि ते दुइ होइ, दुइ से राज न चलि सकै।
बीच ते आपहि खोइ, मुहमद एकै होइ रह॥

जीव वास्तव में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब मात्र है—

दरपन बालक हाथ, मुख देखे दूसर गनै।
तस भा दुइ एक साथ, मुहमद एकै जानिये॥

जीव और ब्रह्म के एकीकरण की विरोधिनी शक्तियों के कवि ने तीन नाम दिये हैं—

(१) माया ('माया अलादीन सुलतानू')
(२) गोरख-धन्धा ('नागमती यह गोरख-धन्धा') और
(३) शैतान ('पद्मावत में 'राघव दूत साइं सैतानू' और अखरावट में नारद।)

किन्तु इनमें केवल नाम का भेद है। मिलन के पथ में ये सभी अपना जाल बिछाते हैं। जिसकी लगन सच्ची होती है, वह पार हो जाता है और झूठे लोग माया जाल में फँस जाते हैं।

जो ब्रह्मांड में है, वही पिण्ड में भी है—

नासिक पुल सरात पथ चला। तेहि कर भौंहैं हैं दुइ पला।
चाँद सुरुज दूनो सुर चलहीं। सेत लिलार नखत झलमलहीं॥

जागत दिन निसि सोवत माँझा। हरष भोर विसमय होइ साँझा॥
मीचु नियर जब आवै जानहु परलय आप॥
....॥

जायसी ने स्थान-स्थान पर हठ-योग की भी कुछ बातें कही हैं; किन्तु उनका जोर बाह्य आडम्बरों तक ही सीमित है, हठ-योग का वैज्ञानिक विवेचन वे नहीं कर सके हैं।

इस्लाम धर्म में कवि की दृढ़ आस्था है और संसार के कल्याण के लिए वह सबको यही धर्म अपनाने की सलाह देता है—

बिधना के मारग हैं जेते। सरग नखत तन रोआँ जेते॥
सो बड़ पंथ मुहम्मद केरा। है सुन्दर कविलास बसेरा॥
× × × ×
सुनत ताहि (कुरान) नारद (शैतान) उठि भागे।
× × ×
ना-नमाज हैं दीन क थुनी। पढ़ै नमाज सोइ बड़ गुनी॥

आध्यात्मिक संकेत

पद्मावत प्रेम-काव्य है। सूफी-साधना पद्धति में लौकिक प्रेम का संबल लेकर साधक अलौकिक प्रेम तक पहुँचता है। जायसी सूफी थे, अतः उनके काव्य में आध्यात्मिक संकेत आने स्वभाविक ही हैं—

बोलहिं पाडुक 'एकै तुही'। ....॥
'पीव पीव' कह लाग पपीहा। 'तुही तुही' कर गडुरी जीहा॥
× × ×
एहि नइहर दिन रहना चारी। पुनि सासुर हम गवनब काली।
× × ×

पिंजर जेहि क सौंपि तेहि गयऊ। जो जाकर सो ताकर भयऊ॥
दस दुआर जेहि पींजर माँहाँ। कैसे बाँच मजारी पाहाँ?

× × ×

आवत जग बालक अस रोवा। उठा रोइ 'हा ज्ञान सो खोआ'॥
हौं तो अहा अमर पुर जहाँ। इहाँ मरन-पुर आयो कहाँ॥

× × ×

देखि मानसर रूप सोहावा। हिय हुलास पुरइन होइ छावा॥
गा अँधियार रैन मसि छूटी। भा भिनसार किरन मसि फूटी॥
'अस्ति अस्ति' सब साथी बोले। अंध जो अहै नैन बिधि खोले॥

× × ×

सो दिल्ली अस निबहुर देसू। कोइ न बहुरा कहै सँदेसू॥
जो गवनै सो तहँ कर होई। जो आवै किछु जान न सोई॥

इन आध्यात्मिक संकेतों में अलौकिक प्रेम का कोई उच्च आदर्श नहीं देख पड़ता। 'सो दिल्ली अस निबहुर देसू' कबीर के निम्न कथन के समान जान पड़ता है—

उत तें कोइ न आवई, जासों पूछूँ धाय।
इत तें सब ही जात हैं, भार लदाय लदाय॥

किन्तु जब हम संकेत-सूची की ओर दृष्टि डालते हैं, तो हमारी कल्पना ही कुण्ठित हो जाती है। दिल्ली माया की राजधानी है, जहाँ मन छल से बन्दी बनाया गया है। किन्तु कवि का संकेत मानव के आवागमन से है। 'पद्मावत' में व्यक्त आध्यात्मिक विचारों की संकेत-सूची से इसकी संगति नहीं बैठती। यदि जायसी यह संकेत-सूची न देते तो इन्हें समझने में सरलता होती।

संकेत-सूची

'पद्मावत' के अन्त में जायसी ने एक संकेत-सूची भी दी है जिसके

आधार पर आलोचक उसे अन्योक्ति कहते हैं। विचार करने पर यह संकेत-सूची गलत जान पड़ती है। सूची इस प्रकार है—

तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंहल बुधि पदमिनि चीन्हा॥
गुरू सुआ जेहि पंथ देखावा। बिनु गुरु को जो निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनियाँ-धँधा। बाँचा सोइ न एहि चित बँधा॥
राघव दूत सोई सैतानू। माया अलादीन सुलतानू॥
प्रेम कथा एहि भाँति विचारहु। बूझि लेहु जौ बूझै पारहु॥

इस संकेत-सूची के अनुसार कथानक कुछ इस प्रकार का हो जाता है—गुरु के पथ-प्रदर्शन में बुद्धि पाने के लिए मन यह तन छोड़कर हृदय की ओर दौड़ता है। अनेक कठिनाइयों के बाद वह बुद्धि पा लेता है। शैतान की शैतानी से खीझकर मन उसे देश-निकाला देता है। इस पर बुद्धि शैतान को अपने एक हाथ का कंगन प्रदान करती है जो माया को बुद्धि की ओर आकर्षित कराने का कारण बनता है। माया तन पर चढ़ाई कर मन को अपने अधिकार में कर लेती है, पर बुद्धि उसे छुड़ा लाती है। माया से अजेय रहकर भी एक अन्य शक्ति (देवपाल) द्वारा मन का नाश होता है; और बुद्धि तथा दुनियाँ-धन्धा उसके साथ सती हो जाती हैं।

कथानक बहुत अजीब-सा लगता है। जिन पात्रों को जायसी ने संकेत-सूची में स्थान नहीं दिया है, उन्हें क्या समझा जाय ? यह एक समस्या ही है। जो संकेत-सूची दी भी गई है, वह तर्क की कसौटी पर खरी नहीं उतरती। प्रश्न उठते हैं—

(१) रतनसेन क्या बुद्धि पाने को प्रयत्नशील है ? यदि रतनसेन आत्मा और पदमावती परमात्मा के प्रतीक नहीं हैं तो 'पद्मावत' प्रेम-मार्गीय भक्ति शाखा के अन्तर्गत कैसे आ सकेगा ?

(२) मन और बुद्धि का समवन्य हो जाने पर शैतान ने उन्हें अलग कैसे कर दिया ?

(३) मन दुनियाँ-धन्धे और बुद्धि को एक-सा समझता है—

गंग जमुन तुम नारि दोउ ... ... ।
नागमती तुम पहिल बिआही। कठिन बिछोह दहै जनु दाही ॥
तन सिंहल मन चितउर बसा। ... ... ।

रतनसेन दोनों के साथ समान व्यवहार करता है और उसकी मृत्यु के बाद दोनों उसके शव के साथ सती होती हैं।

तो क्या दुनियाँ-धन्धा और बुद्धि दोनों एक-सी हैं? इस प्रश्न का उत्तर जायसी के पास नहीं है।

यदि रतनसेन को आत्मा और पद्मावती को परमात्मा का प्रतीक मानें तो भी अन्योक्ति सिद्ध नहीं होती। पहले तो जायसी ने इसका संकेत ही नहीं किया है। तिसपर आत्मा और परमात्मा के मिलन के बाद शैतान उनका कुछ बिगाड़ ही नहीं सकता।

पद्मावत का नया रूपक

अन्त में जायसी की आत्मा से अपनी धृष्टता के लिए क्षमा माँगता हुआ मैं उनके रूपक के सम्बन्ध में एक बात कहना चाहता हूँ। जायसी के अन्य रूपकों को ठीक मानते हुए भी यदि नागमती को ब्रह्म, रत्नसेन को जीव, पद्मावती को माया और हीरामन को मोह माना जाय तो कदाचित् अधिक उपयुक्त होगा। कारण यह कि जीव पहले ब्रह्म में लीन रहता है। मोह उसे बहकाकर माया के पास ले जाता है। जीव सदा माया के फेर में पड़कर ब्रह्म को भूल जाता है। यदि वह उसके पास लौटता भी है, तो माया को साथ लिये हुए। माया का एक दूसरा रूप माया को अपनाना चाहता है। रतनसेन इसका विरोध करता है और मारा जाता है। अन्त में ब्रह्म उसे अपने में मिला लेता है। हाँ, ऐसा रूपक मानने पर रतनसेन की मृत्यु, इतिहास के अनुसार, अलाउद्दीन के हाथों ही दिखानी होगी। और कदाचित्

यही बात बचाने के लिए कवि को अपना त्रुटिपूर्ण रूपक बैठाना पड़ा हो तो आश्चर्य नहीं।

हिन्दू धर्म-सम्बन्धी अज्ञान

हिन्दू संस्कृति का कथानक भर ले लेने से जायसी को हिन्दू संस्कृति का विशेषज्ञ समझना भूल है। उलटे, जौहर करनेवाली पद्मिनी जायसी के हाथों पड़कर लैला और शीरीं बन गई है।

संक्षेप में जायसी के हिन्दू धर्म-सम्बन्धी अज्ञान ये हैं—

(१) किसी के वेद पढ़ने पर ब्रह्मा सीस नहीं डुलाते, सरस्वती प्रसन्न अवश्य होती हैं, पर यहाँ तो—

> रहहिं एक संग दोउ, पढ़हिं सासतर वेद।
> बरह्मा सीस डोलावहीं, सुनत लाग जस भेद॥

(२) पुरुष सती नहीं होते, विधवा अपने पति के शव के साथ सती होती है। वह भी इसलिए कि उसका सर्वस्व पति होता है। आत्म-हत्या हिन्दू धर्म में पाप है; लेकिन पद्मावत के सत्तावन खण्डों में एक 'राजा-रत्नसेन-सती खण्ड' भी है।

(३) 'अरजुन बान राहु गा बेधा'—ऐसा कभी नहीं हुआ था।

(४) शिव के गले में नाग रहता है, शेष-नाग नहीं।

(५) हनुमान जी शिव के सेवक नहीं हैं, राम के हैं। जायसी ने हनुमान जी को शिव का सेवक बताया है।

(६) नारद को शैतान के रूप में चित्रित किया गया है, जो परम अनुचित है।

(७) तपस्या से डिगाने इन्द्र की अप्सराएँ आती हैं, जग-जननी पार्वती नहीं।

(८) रत्नसेन और पद्मावती के विवाह की साज-सज्जा का वर्णन तो कवि

ने खूब किया है, पर अन्त में वेद का नाम लेकर जयमाल पहना दी है, मानों उनका 'निकाह' हो रहा था।

(९) 'राम-रावण' के पवित्र युद्ध की कवि ने खिल्ली उड़ाई है। रति का प्रस्ताव 'आजु करहु रावन संग्रामा' कहकर किया गया है।

(१०) राजस्थान की मिट्टी में जन्म लेकर बादल की नवागता वधू उसे युद्ध से विमुखकर अपने उमड़ते हुए यौवन से संग्राम करने को कहती है। बादल की पत्नी उसी राजस्थान की गोद में पली है, जहाँ की पत्नियाँ कहा करती थीं—

> भल्ला हुआ जु मारिया, बहिणि महारा कंतु।
> लज्जेजं तु वयंसिअहु जइ भग्गा घरु अंतु॥

कहीं पाठक लेखक को सम्प्रदायवादी न समझ बैठें, इसलिए पद्मावत का अन्तिम पद लिखकर वह मौन हो रहा है। यहाँ पर याद रहे कि 'चितउर' माने जायसी ने 'तन' कहा है। वह पद है—

> ······चितउर भा इसलाम।

क्या इसका यह आशय नहीं है कि संसार में जो कुछ है, वह इस्लाम ही है?

पूर्वा

बाँसुरी में फूँक नव चेतना के गीत,
ब्रज-वीथियों में गाने लगा, मीत
सूरदास का, मोहन की माधुरी में,
डूब गया अग जग, रही नहीं भीति।

धरती का यौवन निखर उठा,
सूर के सितार पर जीवन मुखर उठा,
काँपे अत्याचार अनाचार कंस वेणु के,
असुरों का वैभव विकास था बिखर उठा।

सूरदास

जन्म—सं० १५४० **निधन—सं० १६२०**

सारस्वत ब्राह्मण परिवार में सूरदास जी का जन्म गोपाचल (ग्वालियर ?) में हुआ था। इनके पिता का नाम बाबा रामदास था। सूरदास जी जन्मान्ध थे और उनका विवाह भी हुआ था। विरक्त होने के पहले वे अपने परिवार के साथ रहा करते थे। उनके विरक्त होने का कारण अब तक नहीं जाना जा सका। पहले वे दीनता के पद गाया करते थे, पीछे वल्लभाचार्य जी के सम्पर्क में आकर कृष्ण-लीला का गान करने लगे। आगरे और मथुरा के बीच गऊघाट में पूरनमल खत्री द्वारा बनवाये हुए श्रीनाथ जी के मन्दिर का कीर्तन-भार वल्लभाचार्य जी ने सूरदास जी को सौंपा था। जीवन भर सितार के तारों पर सूरदास कृष्ण-लीला का गान करते रहे। पारसोली में 'खंजन नैन रूप रस माते' गाते-गाते सूर का भौतिक जीवन समाप्त हुआ था।

नीरव निशीथ थी। शशि और तारिकाओं का कहीं पता नहीं था। होता भी कैसे? भारत का सौभाग्य-चन्द्र यवन-राज्य के काले बादलों से ढका जो था। जनता के आत्म-विश्वास का अन्त हो चुका था। उसने अपने मन्दिरों को ढहते और मूर्त्तियों को अपवित्र होते देखा था। सन्त कवियों का उस पर इतना प्रभाव तो अवश्य पड़ा कि एक परोक्ष सत्ता के प्रति उसकी आस्था बनी रही; किन्तु इस परोक्ष सत्ता का आदर्श संत कवियों ने कुछ इस प्रकार रखा था जो 'खुदा' का ही दूसरा रूप था। धर्म-भीरु हिन्दू जनता की उसके प्रति विशेष श्रद्धा न थी।

सर्वत्र अन्धकार व्याप्त था। पथ कहीं दिखाई न देता था। उस अँधियाले में कुछ जुगनूँ अवश्य चमक रहे थे; किन्तु जनता के पथ-प्रदर्शक बनने के बदले वे उन्हें भ्रान्त ही करते थे। अचानक निशा की निस्तब्धता चीरते हुए सितार के मधुर रव भारती के कानों में गूँज उठे। कोई गा रहा था—

अब मैं नाच्यों बहुत गोपाल।

जनता आत्म-विस्मृत हो उठी। अन्ध कवि की उँगलियाँ सितार के तारों पर तैरती रहीं, तैरती रहीं।

अन्ध कवि

सूर की अंधी आँखों ने जो सौन्दर्य देखा है, उसे देखने के लिए साढ़े तीन सौ वर्षों से सुझाखे कवियों की आँखें तरस रही हैं। उन अन्धी आँखों में न जाने कैसी ज्योति थी जो प्रकृति और मानव हृदय के अन्तस्तल तक पहुँच जाती थी—जहाँ तुलसी, केशव, देव और बिहारी जैसे सिद्धहस्त कवि भी न पहुँच सके।

उनकी इसी सूक्ष्म दृष्टि का यह परिणाम है कि आलोचक उनके अन्धे होने में सन्देह करने लगे हैं। लेकिन उनके सन्देह निराधार हैं। सूर के समकालीन लेखकों ने भी उन्हें अन्धा ही कहा है—

जनम-अन्ध दृग ज्योति विहीना।
जननि जनक कछु हरष न कीना॥ (भक्त विनोद)

× × ×

सो श्री सूरदास जी के जन्मत ही सौं नेत्र नाहीं हैं।
जन्मे पाछे नेत्र जाय तिन को आँधरा कहिये।
सूर न कहिये और ये तो सूर हैं। (चौरासी वार्ता)

× × ×

जन्मांधो सूरदासोऽभूत। (श्रीनाथ भट्ट)

सूरदास ने स्वयं अनेक स्थलों पर अपने को अन्धा कहा है। उनकी दृष्टि-हीनता को अज्ञानता कहकर उन कविताओं में ग्लानि ढूँढ़ना उचित नहीं जान पड़ता। ये संकेत इतने स्पष्ट हैं कि उनके अन्धे होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता।

द्वै लोचन साबित नहिं तेऊ।
बिनु देखे कल परत नहीं छिन ऐसे पर कीन्हे यह टेऊ॥
कैसे मैं उनको पहिचानौं नयन बिना लखियै क्यों भेऊ॥
ये तौ निमिष परत भरि आवत निठुर बिधाता दीने जेऊ॥
सूर श्याम को नाम श्रवन सुनि, दरसन नीके देत न वेऊ॥

× × × ×

सूर की वेरियाँ निठुर ह्वै बैठ्यो जन्म अन्ध करयो।

× × ×

कोटि कोटि तुम पतित उधारे कहहूँ कवन कहाँ को।
रह्यो जात एक पतित जनम कौ अँधरो सूर सदा को।

× × × ×

करम हीन जनम को अंधौ, मो तैं कौन नकारो॥

नायिका के कपोलों में ऊषा की लाली और दाँतों में बिजली की चमक देखनेवाले अथवा 'एक धार दोहनि में डारत, एक धार जहँ ठाढ़ी प्यारी' कहनेवाले कलाकार के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह संसार को भौतिक आँखों से देखनेवाला ही हो। जब हम साधारण अन्धों को भी केवल स्पर्श ज्ञान से अच्छे बुरे बैलों और घोड़ों की पहचान करते आज भी देखते हैं तो सूर के अन्धत्व में सन्देह करने का कोई कारण नहीं है। बाह्य चक्षु खोकर उनके अन्तः चक्षु ने विकास पाया था!

सूर के कृष्ण

जहाँ तुलसी के राम ने धनुष-बाण लेकर 'निसचर हीन करौं महि' का जनता को आश्वासन दिया था, वहाँ सूर ने अपने कृष्ण में इतनी मधुरिमा उँडेल दी कि जनता को अपने दुःखों का आभास ही न हुआ। कृष्ण की यह विशेषता उनकी अपनी नहीं है, उनकी मधुरिमा का श्रेय सूर की कल्पना की तूलिका को है। अन्यथा कंस, जरासन्ध, शिशुपाल और दुर्योधन जैसे बलशाली शासकों का अन्त करके सारे देश को एक केन्द्रीय सत्ता में लानेवाले पुरुषार्थी के रूप में भी उनका चित्रण हो सकता था। सूर के कृष्ण महाभारत के कृष्ण नहीं, बल्कि भागवत के कृष्ण हैं।

कृष्ण का शौर्य कभी सूर के आकर्षण का विषय न बन सका। कालिय नाग पर विजय प्राप्त कर लौटते हुए कृष्ण में भी उन्होंने शौर्य के स्थान पर माधुर्य ही देखा—

> आवत उरग नाथे श्याम।
> मोर मुकुट बिसाल लोचन श्रवन कुण्डल लोल।
> कटि पिताम्बर वेष नटवर नृतत फन प्रति डोल।

तुलसी के राम राजकुमार थे, कम से कम त्रेता की जनता तो उन्हें यही समझती थी। इस कारण 'सुर रंजन भंजन महि भारा' के लिए अवतार लेकर

भी वे जन-साधारण से दूर ही रहे, जब कि कृष्ण हमारे जीवन में इतने घुल-मिल गये कि वे हमारे जीवन के एक अंग बन गये। बरसाने-वाले कृष्ण को बहनोई मानकर अब तक उन्हें गालियाँ (ससुराल की मधुर गालियों से पाठक अपरिचित न होंगे !) दिया करते हैं। ब्रज में शयन की आरती के बाद कोई जोर से नहीं बोलता। मुँह खुला नहीं कि फटकार पड़ी—धीरे बोलो, लाला सोय रह्यो हैं।'

दार्शनिक चिन्तन

सूर की कविता भावना-प्रधान है। जान पड़ता है, जैसे कवि भावों की सरिता में बह गया है—उसे अपनी सुधि नहीं है। दर्शन के गूढ़ तत्व भी उन्होंने इतने सरल शब्दों में समझाये हैं कि साधारण पाठकों को भी समझने में कठिनाई नहीं होती। भगवान की लीला विचित्र है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता—

> **अविगति गति कछु कहत न आवै।**
> **ज्यों गूँगो मीठो फल कौ रस अंतरगत ही भावै॥**
> × × ×
> **प्रभु, तुव मरम समुझि नहिं पर्‌यो।**
> **जग सिरजत, पालन, संहारत, पुनि क्यों बहुरि कर्‌यो॥**

संसार ब्रह्म का भौतिक स्वरूप है। आग से जिस प्रकार चिनगारियाँ फूट निकलती हैं, उसी प्रकार ब्रह्म से जीव की उत्पत्ति होती है। चिनगारियों में जिस प्रकार आग के गुण विद्यमान रहते हैं, उसी प्रकार जीव में भी ब्रह्म के गुण पाये जाते हैं। जीव और ब्रह्म के बीच माया एक दीवार का काम करती है। संसार ब्रह्म की इच्छा का परिणाम है—

हरि इच्छा करि जग प्रगटायौ।[१]
अरु यह जगत जदपि हरि रूप है तउ माया कृत जानि।
तातैं मन निकारि सब ठाँ तैं एक कृष्ण मन आनि॥

× × ×

ब्राह्मण मुख छत्रिय भुज कहिये वैस्य जंघनहिं जान।
सूद्र चरन यहि विधि जग हरि-मय यही ज्ञान दृढ़ मान॥
दोष दृष्टि यहि बिधि नहिं उपजै आनँद-मय दरसाय।
'सूरदास' तब हरि हिय आवै प्रेम मगन गुन गाय॥

संसार का निर्माण ब्रह्म (कृष्ण) से हुआ है और उसी में इसका अवसान भी हो जाता है—

कृष्ण भक्ति करि कृष्णहि पावै।
कृष्णहि तें यह जगत प्रगट है हरि में लय हो जावै॥

संसार मृग-तृष्णा है। इसका बाह्य रूप बहुत आकर्षक है; किन्तु कल्पना का परदा आँखों से हटते ही सब शून्य लगता है—

जब लौं सत्य सरूप न सूझत।
तब लौं मृग मद नाभि बिसारे फिरत सकल बन बूझत॥
अपुनौ ही मुख मलिन मन्द मति देखत दर्पन माँहिं।
ता कालिमा मेटिबे कारन पचत पखारत छाँहिं॥

× × ×

अरे मन मूरख जनम गँवायो।
यह संसार सुआ सेमर ज्यों सुन्दर देखि लोभायो।
चाखन लाग्यो रूई उड़ि गई हाथ कछू नहिं आयो॥

संसार को मृग-तृष्णा मानकर भी निर्गुण सन्तों की भाँति सूर ने उसकी

१—ईश्वर ने कहा—प्रकाश हो; और प्रकाश हो गया।—बाइबिल।

भर्त्सना नहीं की है और न संसार से भाग जाने की सलाह ही दी है। संसार कृष्ण की लीला का परिणाम है। संसार की ही भाँति माया भी उसी माया-पति की लीला-भावना का परिणाम है। भगवान् का लीला-विलास कभी दूषित नहीं हो सकता।

चाँद सरिता की शत-शत लहरों में अपना रूप बनाता-बिगाड़ता रहता है। चाँद के क्षण-क्षण बनते-बिगड़ते रहनेवाले प्रतिबिम्ब को क्षण-भंगुर कह-कर उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस लीला में ब्रह्म-रूप चाँद की सौन्दर्य भावना निहित है। वह जब चाहता है, संसार-सागर की लहरों में अपना प्रतिबिम्ब बना लेता है; और जब चाहता है, तब उन्हें मिटाकर अपने में मिला लेता है।

ये सिद्धान्त उस 'शुद्धाद्वैत' के हैं जो मस्तिष्क-प्रधान व्यक्तियों के हित का है। जन-साधारण को इन दार्शनिक सिद्धान्तों में पड़ने की आवश्यकता नहीं। उनकी मुक्ति का सरल उपाय है—गोपियों की भाँति प्रेम-सागर में डुबकी लगाकर कृष्ण-लीला का स्मरण करना।

गोपियों की भक्ति तीन प्रकार की है—

✓(१) **गोपी** (पुष्टि मर्यादा)—वे कुमारियाँ जो कृष्ण को अपना प्रियतम मानती थीं। स्वकीया प्रेम।

✓(२) **गोपांगना** (पुष्टि पुष्टि रूप)—वे विवाहिताएँ जो लोक-मर्यादा की चिन्ता न कर कृष्ण पर अपने को निछावर कर चुकी थीं। परकीया प्रेम।

✓(३) **व्रजांगना** (पुष्टि प्रवाह)—वे प्रौढ़ाएँ जो कृष्ण की उपासना बाल-भाव से करती थीं। वात्सल्य प्रेम।

सूरदास वल्लभीय पुष्टि-मार्गीय थे। वल्लभीय पुष्टि मार्ग में 'लीला धाम' की कल्पना की गई है। उसके अनुसार कृष्ण लीला-धाम में सदा विहार किया करते हैं और अपनी लीलाओं से भक्तों को रिझाते हैं। जीवन से मुक्ति पाकर भक्त लीला-धाम में जाते हैं। लीला-धाम की कल्पना और साख्य भक्ति के ही कारण सूर के कुछ पद उत्तान शृंगार के हैं।

उपासना पाँच प्रकार से की जाती है—

(१) प्रार्थना (उपालम्भ और दैन्य-प्रदर्शन),

(२) रूप-कथन,

(३) लीला-वर्णन,

(४) आराध्य की महत्ता का वर्णन और

(५) इष्टदेव-सम्बन्धी व्यक्तियों से प्रार्थना।

सूरदास जी ने 'सौ धरनेवालों के पाँव न पकड़कर एक मारनेवाले' का ही पाँव पकड़ा। उनकी भक्ति सर्वदा एक-निष्ठ ही रही। कृष्ण को छोड़कर किसी देवी-देवता के सामने उन्होंने सिर न झुकाया। राम के जीवन पर भी उन्होंने थोड़ा-बहुत लिखा अवश्य, पर ऐसा लगता है कि उन्हें 'छूत छुड़ाने' की पड़ी थी। जीवन भर वे अपने बिखरे हुए भावना-प्रसून श्याम के चरणों पर चढ़ाते रहे।

वल्लभाचार्य से मिलने के पहले सूर दीनता के गीत गाते थे। वल्लभाचार्य ने उनसे कहा—'घिघियात काहे हौ ? कछु भगवत लीला गाव', तब से वे भगवत लीला गाने लगे। सूर-सागर अधूरा ही मिला है। चौबीसों अवतारों की कथाएँ फुटकर मिलती हैं, बीच-बीच में कथा-क्रम भंग अवश्य हो जाता है। हो सकता है, उन्होंने सम्पूर्ण भागवत की कथा कही हो। इस भागवत की कथा में उनके हृदय और पुष्टि मार्गीय भक्ति शाखा के राधा तत्त्व की प्रधानता भी सम्मिलित है।

दैन्य-प्रदर्शन के पदों में सूर अपने को 'सब पतितन को टीको' कहकर कृष्ण से उद्धार की प्रार्थना करते है—

मो सम कौन कुटिल खल कामी।
जिन तनु दियो ताहि बिसरायो ऐसो नमक-हरामी॥

× × ×

कितक दिन हरि सुमिरन बिनु खोये।
सूर अधम की कहौ कौन गति उदर भरे पर सोये॥

बाल-लीला

'आठैं कृष्न पच्छ भादौं' की थी। अनन्त के हृदय में जब आनन्द सिन्धु समा न सका, तब धरती पर छलक पड़ा। किन्तु धरती पर भी कुछ कम आनन्द न था—

× × ×

आजु हो निसान बाजै नंद जू महर के,
आनँद मगन नर गोकुल सहर के।
आनँद भरी जसोदा उमगि अंग न माति,
अनंदित भई गोपी गावतिं चहर के।
दूध दधि रोचन कनक-थार लै लै चलीं,
मानो इन्द्र-बधू जुरीं पाँतिनि बहर के।
आनँद मगन धेनु स्रवै थनु पय-फेनु,
उमग्यो जमुन-जल उछाली लहर के।
अंकुरित तरु पात, उकठि रहे जे गात,
बन बेली प्रफुलित कलिनि कहर के॥

परब्रह्म ने धरती पर अवतार जो लिया था! भक्त कवि ने जीव और ब्रह्म को एक दूसरे के इतने निकट कर दिया कि दोनों मिलकर एक हो गये। कृष्ण की बाल-लीलाओं में कहीं-कहीं ब्रह्म की झलक भी हम देख लेते हैं—

जसुदा मगन गोपाल सोवावै।
देखि समय गति त्रिभुवन कंपै, ईस बिरंचि भ्रमावै॥

× × ×

हरि किलकत जसुमति की कनियाँ।
मुख में तीन लोक दिखराए, चकित भई नँद-रनियाँ॥

कंस के सहायकों (कागासुर, शकटासुर, तृणावर्त्त, बकासुर और पूतना)

का वध, यमलार्जुन उद्धार, कालीदह जल-पान तथा दावानल-पान आदि लीलाएँ उनके पर-ब्रह्मत्व के दर्शन कराती हैं। किन्तु कवि का मन उनकी बाल-लीलाओं में ही लगा है। सूर-सागर के दशम स्कंध की एक-एक पंक्ति से वात्सल्य छलका पड़ता है और पाठकों की आँख लीलापति की लीलाओं से विमोहित होकर छलक पड़ती हैं। सीपी-सी आँखें आखिर कितने मोती सँजो पावेंगी ?

जसोदा हरि पालनै झुलावै।
हलरावै, दुलराइ मल्हावै, जोइ-सोई कछु गावै।
मेरे लाल को आइ निंदरिया, काहे न आइ सुआवै॥

इसी बीच श्याम ने पलकें मूँद लीं। उन्हें 'सोवत जानि' 'महरि मौन ह्वै' रही। 'इहि अन्तर अकुलाय उठे हरि'—और फिर माँ गाने लगीं।

श्याम की स्वाभाविक बाल-लीलाएँ भक्तों का मन मोह लेती हैं—

चरन गहे अँगुठा मुख मेलत।
नन्द-घरनि गावति, हलरावति, पलना पर हरि खेलत।

× × ×

हरि किलकत जसुदा की कनियाँ।
निरखि निरखि मुख कहति लाल सों, मों निघनी के धनियाँ॥

× × ×

किलकत कान्ह घुटुरुअन आवत।
मनिमय कनक नन्द के आँगन, बिम्ब पकरिबे धावत॥

श्याम अभी बहुत छोटे हैं। माँ कहीं इधर-उधर गईं नहीं कि रो-रोकर आसमान सिर पर उठा लेते हैं। माँ सोचती है—

कब मेरौ लाल घुटुरुवनि रेंगै, कब धरनी पग द्वैक धरै।
कब द्वै दाँत दूध के देखौं, कब तोतरैं मुख बचन झरै॥

कब नंदहि बाबा करि बोलै, कब जननी कहि मोहिं टरै।
कब मेरो अँचरा गहि मोहन, जोइ-सोइ कहि मोसों झगरै।

और एक दिन माँ की साध पूरी हुई—

हरषित देखि दूध की दँतियाँ, प्रेम-मगन तन की सुधि भूली।

आनन्द का सिन्धु जब अकेले उसके हृदय में समा न सका तब—

बाहिर तैं तब नन्द बुलाए, देखौ धौं सुन्दर सुखदायी।
तनक-तनक सी दूध दँतुलिया, देखौ, नैन सफल करौ आई॥

श्याम धीरे-धीरे बड़े होते हैं। अब वे घुटनों के बल चल भी लेते हैं—

खेलत नँद-आँगन गोविंद।
निरखि-निरखि जसुमति सुख पावति, बदन मनोहर इन्दु॥
कटि किंकिनी चन्द्रिका मानिक, लटकन लटकत भाल।
परम सुदेस कंठ केहरि नख बिच-बिच बज्र प्रवाल॥
कर पहुँची, पाइन में नूपुर, तन राजत पट पीत।
घुटुरुन चलत, अजिर महँ विहरत, मुख मंडित नवनीत॥

× × ×

सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरनि चलत रेनु-तन-मंडित, मुख दधि लेप किये॥

अब श्याम पाँवों से चलने लगे हैं—

चलति देखि जसुमति सुख पावै।
ठुमुकि-ठुमुकि पग धरती रेंगत, जननी देखि दिखावै॥
देहरि लौं चलि जात, बहुरि फिरि-फिरि इतहीं कौं आवै।
गिरि-गिरि परत, बनत नहिं नाँघत, सुर-मुनि सोच करावै।

बच्चे के चलने का कितना स्वाभाविक चित्रण है!

एक दिन श्याम मचल गया—

मैया, मैं तो चन्द खेलौना लैहौं।
जैहौं लोटि धरनि मैं अबहीं, तेरी गोद न ऐहौं॥
सुरभी को पय पान न करिहौं, बेनी सिर न गुहैहौं।
ह्वैहौं पूत नन्द बाबा कौ, तेरौ सुत न कहैहौं॥

इस अन्तिमेत्थम् के आगे यशोदा को घुटने टेक देने पड़े, सहज ही में उनका बेटा नन्द का हुआ जाता है! उन्होंने 'नई दुलहिया' ला देने का प्रलोभन दिया। फिर क्या था! श्याम रीझ गया—

तेरी सौं, मेरी सुनि मैया, अबहिं बियाहन जैहौं।

माँ के सामने नई समस्या आई। हारकर उसने चाँद ही देने का निश्चय किया—

लै लै मोहन, चन्दा लै लै।
कमल नैन बलि जाउँ सुचित ह्वै, नीचैं नैंकु चितै॥
नभ तैं निकर आनि राख्यौ है, जलपुर जतन जुगै।
लै अपने कर काढ़ि चन्द कौं, जो भावै सो कै॥

श्याम कुछ और बड़ा हुआ। अब तो वह साथियों के साथ खेलने भी जाने लगा—

खेलत श्याम ग्वालनि संग।
सुबल हलधर अरु श्रीदामा, करत नाना रंग॥
हाथ तारी देत भाजत, सबै करि-करि होड़।
बरजै हलधर, श्याम, तुम जनि, चोट लागै गोड़॥

× × ×

आपुन हारि सखनि सौं झगरत यह कहि दियौ पठाइ।
सूर स्याम उठि चले रोइ कै, जननी पूछति धाइ॥

एक दिन—

जेंवत कान्ह नन्द इक ठौरे।
कछुक खात लपटात दोउ कर बाल-केलि अति भोरे॥
बरा कौल मेलत मुख भीतर, मिरिचि दसन टकटौरे।
तीछन लगी नैन भरि आए, रोवत बाहर दौरे॥

अन्ध कवि, तुम्हें प्रणाम है! तुम्हारे नेत्रों में न जाने कैसी ज्योति थी जिससे कुछ भी देखना शेष न बचा! क्या अच्छा होता, यदि आज के कवि उस ज्योति का शतांश भी पा सकते!

श्याम अब बड़ा हो गया है। माँ उसे बरज रही है—

सुनहु स्याम, अब बड़े भये तुम, कहि स्तन पान छुड़ावति।
ब्रज लरिका तोहिं पीवत देखत हँसत लाज नहिं आवति॥
जैहैं बिगरि दाँत ये आछे, तातें कहि समुझावति।
अजहूँ छाँड़ि, कह्यो करि मेरौ ऐसी बात न भावत॥
'सूर' श्याम यह सुनि मुसुक्याने, अंचल मुखहिं लुकावत।

एक-एक करके दिन बीतते जा रहे हैं। इधर श्याम बहुत नटखट हो गया है। एक सखी आकर यशोदा से कहती है—

महल में नेकु चलौ नँदरानी।
देखौ अपने सुत की करनी दूध मिलावत पानी॥

उसका नट-खटपन दिन-पर-दिन बढ़ता ही गया। नवनीत चुरा लेना, दूध-दही के मटके फोड़ देना तो उसका नित्य का कार्य हो गया है। अब तो उलाहने भी आने लगे हैं—

महरि तैं बड़ी कृपन है माई।
दूध-दही बहु बिधि कौ दीनौ, सुत सौं धरति छिपाई॥

बालक बहुत नहीं री तेरैं, एकै कुँवर कन्हाई।
सोऊ तो घर ही घर डोलतु, माखन खात चोराई॥

और यशोदा खीझ उठती हैं—

मेरौ माई कौन कौ दधि चोरै।
मेरै बहुत दई कौ दीन्हौ लोग पियत हैं ओरै॥

किन्तु इससे तो कुछ होता नहीं, ग्वालिन कहती है—

ता ऊपर काहे गरजति है, मनु आई चढ़ि घोरै।
माखन खाइ, मह्यो सब डारै, बहुरौ भाजन फोरै॥

श्याम की सफाई भी कितनी मनोहर है—

मैया मैं नहिं माखन खायौ।
ख्याल परैं ये सखा सबै मिलि, मेरैं मुख लपटायौ॥
देखि तुहीं सींके पर भाजन, ऊँचै धरि लटकायौ।
हौं जु कहत नान्हे कर अपनैं मैं कैसै करि पायौ॥
मुख दधि पोंछि बुद्धि इक कीन्ही दोना पीठ दुरायौ।

उलाहने बढ़ते ही जाते हैं—

भाजि गये मेरे भाजन फोरि।
मारग तौ कोउ चलन न पावत, धावत गोरस लेत अँजोरि।
सकुच न करत, फाग सी खेलत, तारी देत, हँसत मुख मोरि॥

उलाहनों से तंग आकर यशोदा ने श्याम को—

ऊखल सों गहि बाँधि जसोदा, मारन को साँटी कर तोरै।

किन्तु ये उलाहने भी प्यार के ही दूसरे रूप थे; क्योंकि—

साँटी देखि ग्वालि पछितानी, बिकल भई जहँ तहँ मुख मोरै।

× × ×

माखन लागि ऊलूखल बाँध्यौ, सकल लोग ब्रज जोवै।
ग्वालि कहैं या गोरस कारन कत सुत की पति खोवै?
आनि देहिं अपने घर तैं हम, चाहति जितौ जसोवै।

यशोदा खीझ उठती हैं—

जाहु चली अपने अपने घर।
तुम ही सबनि मिलि ढीठि करायौ, अब आई छोरन बर॥

अब श्याम गाय चराने को मचलने लगे हैं—

मैया हौं गाइ चरावन जैहौं।
तू कहि महरि नन्द बाबा सौं, बड़ो भयो न डरैहौं॥

श्याम गाय चराने चले गये। माँ ने चर्रा में भोजन भेजा—

हरि जू कौं ग्वालिनि भोजन ल्याई।
सानि-सानि दधि भात लियौ कर, सुहृद सखनि कर देत।
मध्य गोपाल मंडली मोहन, छाँक बाँटि कै लेत॥

गोधूलि बेला में श्याम गाएँ चराकर लौट रहे हैं—

बन तैं आवत धेनु चराए।
संध्या समय साँवरे मुख पर, गो-पद-रज लपटाए।
बिलसत सुधा जलज-आनन पर उड़त न जात उड़ाये।

× × ×

जसुमति दौरि लिए हरि कनियाँ।

दाऊ से श्याम कभी प्रसन्न हो जाते हैं—

मैया री मोहिं दाऊ टेरत।
मो कौं बन-फल तोरि देत हैं, आपुनि गैयन घेरत॥

तो कभी खीझ उठते हैं—

मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझायौ।
मोसौं कहत मोल कौ लीन्हौ, तोहिं जसुमति कब जायौ?
कहा कहौं यहि रिस के मारैं खेलन हौं नहिं जात।

× × ×

हरि के बाल-चरित अनूप।
निरखि रहीं ब्रज नारि इक टक अंग-अंग प्रति रूप॥

ब्रज नारियों के मिस हिन्दी संसार तीन सौ वर्षों से श्याम की बाल-सुषमा देख रहा है। आँखें रूप-पान कर अघातीं नहीं। आनन्द बढ़ता ही जाता है; और साथ ही साथ भींगती जाती हैं उस रूपमें हमारी आँखें!

प्रेम-लीला

दूध-दही की मटकी फोड़नेवाला श्याम समय के प्रवाह में कुछ और ढीठ हो गया है—

मारग चलत अनीति करत है, हठ करि माखन खात।
पीताम्बर वह सिर तैं ओढ़त, अंचल दै मुसुकात।
तेरी सौं कहा कहौं जसोदा, उरहन देति लजात।

फिर एक दिन वह भी आता है, जब—

गोपी तजि लाज, संग स्याम रंग भूलीं।
पूरब मुख-चंद देखि, नैन-कोइ फूलीं॥

× × ×

जबतैं बंसी स्रवन परी।
तब ही तैं मन और भयो सखि, मो तन सुधि बिसरी॥

बाँसुरी बजती ही रहती है—

बंसी री बन कान्ह बजावत।
आनि सुनौ स्रवननि मधुरे सुर, राग मध्य लै नाम बुलावत॥
मनौ मोहनी बेष धारि कै, मन मोहत मधु पान करावत।
सुर नर मुनि बस किए राग-रस, अधर-सुधा-रस मदन जगावत॥

प्रेमिका अपने प्रेमी पर पूरा एकाधिकार चाहती है। यही कारण है कि गोपियों को मुरली का भी कृष्ण के साथ रहना नहीं भाता। उन्हें आश्चर्य है कि कृष्ण दोषों से भरी मुरली को इतना प्यार क्यों करते हैं—

मुरली तऊ गोपालहिं भावति।
राखति एक पाँय ठाढ़ी करि अति अधिकार जनावति॥
कोमल अंग आपु आज्ञा गुरु कटि टेढ़ी ह्वै जावति।
आपुन पौढ़ि अधर सेज्या पर कर सों पद पलुटावति॥

वे कुढ़कर योजना बनाती हैं—

सखी री, मुरली लीजै चोरि।
जिनि गुपाल कीन्हें अपने बस, प्रीति सबन की तोरि॥

कभी वे सोचती हैं—

हम न भईं बृंदावन-रेनु।
जहँ चरनन डोलत नँद-नन्दन नित प्रति चारत धेनु॥
हम तैं परम धन्य ये बन, द्रुम, बालक बच्छऽरु बेनु।
'सूर' सकल खेलत हँसि बोलत, सँग मथि पीवत फेनु॥

और कभी यह कि—

मुरली कौन सुकृत फल पाये।
अधर-सुधा पीवति मोहन कौं, सबै कलंक गँवाए ॥
मन कठोर तन गाँठि प्रगट ही, छिद्र बिसाल बनाये।

लेकिन श्याम को इनकी योजनाओं की सफलता या विफलता की चिन्ता नहीं। वह बाँसुरी बजाये जा रहा है; पर इधर यह दशा है कि—

मुरली-सबद सुनि ब्रज-नारि।
करत अंग सिंगार भूलीं, काम गयौ तनु मारि॥
चरन सौं गहि हार बाँध्यो, नैन देखत नाहिं।
कंचुकी कटि साजि, लँहगा धरति हिरदय माहिं॥

. श्याम ने उनकी सारी चातुरी चुरा ली। मुरली चुराने की कौन कहे, उन्हें अपनी भी सुधि न रही।

श्याम की शरारतें दिनोंदिन बढ़ती जा रही हैं—

ठाढ़ी कुँअरि राधिका लोचन मींचत तहँ हरि आए।
अति बिसाल चंचल अनियारे हरि हाथन न समाए॥

अब बात कुछ आगे बढ़ी। चोरी कबतक छिपती? एक दिन खुल ही तो गई—

श्यामहिं देखि महरि मुसक्यानी।
पीताम्बर काकै घर बिसरयो, लाल ढिगनि की सारी आनी॥
यशोदा ने सोचा—
घर लै लै मोरो सुत भुरवति, ये ऐसी सब दिन की जानी।

× × ×

यशोदा जिसे भोला समझ रही थीं, उसने एक दिन गोपियों के—बसन हरे सब कदम चढ़ाए। गोप-बालाएँ प्रार्थना करने लगीं—

हमरे अम्बर देहु मुरारी ।
लै सब चीर कदम चढ़ि बैठे, हम जल माँझ उघारी ॥
तट पर बिना बसन क्यों आवैं, लाज लगति है भारी ।
चोली हार तुमहिं कौं दीन्हौं, चीर हमरि द्यो डारी ॥

श्याम ने मुस्कराकर कहा—

अब अन्तर मोसौं जनि राखहु वार-बार हठ वृथा करौ ।

और तब—

तरुनी निकसि-निकसि तट आईं ।
जल तैं निकसि भईं सब ठाढ़ी, कर उर अँग पर दीन्हें ।
× × ×
कीन्ही प्रीति प्रगट मिलिवे कौं, सबके सकुच गँवाए ।

पुरुष प्रकृति का द्वैत मिट गया, प्रकृति ने अपना नग्न रूप पुरुष पर उत्सर्ग कर दिया । व्रजवीथियों में—

नृत्यत श्याम नाना रंग ।
मुकुट-लटकनि, भृकुटि-मटकनि, धरे नटवर अंग ॥
चलत गति कटि कुनित किंकिनि घूँघरू झनकार ।
× × ×
गति सुधंगि नृत्यति व्रज-नारि ।
हाव-भाव नैननि सैननि दै रिझावति गिरिवरधारि ॥

सूर की [illegible] को निर्गुण सन्त-परम्परा से अलग नहीं किया जा सकता । निर्गुण सन्त-परम्परा के अनहद नाद को सूर ने कैसा मधुर रूप प्रदान किया है—

कंकन, चुरी, किंकिनी नूपुर, पैजनि बिछिया सोहति ।
अद्भुत धुनि उपजत इन मिलि कै, भ्रमि-भ्रमि इत-उत जोहति ॥

यदि इन मधुर ध्वनियों से आपको सन्तोष न हुआ हो तो और सुनिए—

ताल, मुरज, रबाब, बीना, किन्नरी रस सार।
सबद संग मृदंग मिलवत, सुघर नन्द कुमार॥

कन्हैया साँवला है और ब्रज-वनिताएँ गोरी। प्रकृति हरी है और पुरुष ज्योति स्वरूप, किन्तु मिलन में दोनों एक दूसरे के गुण ग्रहण कर लेते हैं। मिलन का यह आनन्द कितना मोहक है—

भामिनी अँग जोन्ह मानौ, जलद स्यामल गात।
परस्पर दोउ करत क्रीड़ा, मनहिं-मनहिं सिहात॥
कुचनि बिच कच परम सोभा, निरखि हँसत गोपाल।
सूर कंचन गिरि बिचनि मनु, रह्यौ है अँध काल॥

राधा-माधव

राधा और कृष्ण का प्रेम साहचर्य-जनित है। जीवन के प्रभात से ही दोनों ने एक दूसरे के सुख-दुख में योग दिया है। जब आगे चलकर कामना के पंख भींग जाते हैं, तब पाठकों की आँखें आर्द्र हो जाती हैं।

एक दिन—

खेलन हरि निकसे ब्रज खोरी।
कटि कछनी पीताम्बर काछे हाथ लिए भँवरा चक-डोरी॥
मोर मुकुट कुण्डल श्रवनन पर दसन दमक दामिनि छवि थोरी।
गये श्याम रवि-तनया के तट, अंग लसति चन्दन की खोरी।
औचक ही देखी तहँ राधा, नैन बिसाल भाल दिय रोरी।
नील बसन फरिया कटि पहिरे, बेनी पीठ रुचिर झकझोरी॥
संग लरिकिनी चली इत आवति, दिन थोरी अति छवि तन गोरी।
सूर' स्याम देखत ही रीझे, नैन नैन मिलि परी ठगोरी॥

और बाल-सुलभ चपलता से—

बूझत स्याम "कौन तू, गोरी !
कहाँ रहति ? काकी तू बेटी ? देखी नाहिं कहूँ ब्रज खोरी ॥"
"काहे को हम ब्रज तन आवति ? खेलत रहति आपनी पौरी।
सुनति रहति श्रवनन नँद ढोटा करत रहत माखन दधि चोरी ॥"
"तुम्हरो कहा चोरि हम लैहैं ? खेलन चलो संग मिलि जोरी।"
'सूरदास' प्रभु रसिक सिरोमनि बातनि भुरइ राधिका भोरी ॥

समय के प्रवाह में उनकी यही अबोध जिज्ञासा प्रेम में परिणत हो जाती है। यह प्रेम भी कितना सरल है ! यशोदा राधा से कहती हैं—'बार-बार तू ह्याँ जनि आवै।' राधा उत्तर देती है—

"मैं कह करौं सुतहिं नहिं बरजति, घर तें मोहिं बुलावै ॥
मो सों कहत तोहि बिनु देखे रहत न मेरो प्रान।
छोह लगत मो कों सुनि बानी, महरि तिहारी आन।"

कभी-कभी बनावटी मन-मुटाव भी हो जाता है—

करि ल्यौ न्यारी हरि आपनि गैयाँ।
नहिन बसात लाल कछु तुम सों, सबै ग्वाल इक ठैयाँ ॥

× × ×

तुम पै कौन दुहावै गैया ?
इत चितवत, उत धार चलावत, यहि सिखयो है मैया ?

× × ×

एक बार द्वारिका में कृष्ण के पेट में शूल हुआ। उन्होंने नारद से कहा कि यदि कोई नारी अपने चरण धोकर मुझे पिला सके तो मैं अच्छा हो सकता हूँ। नारद ने उनकी पट-रानियों से कहा; किन्तु उन्होंने यह कहकर अस्वीकृत

कर दिया कि पति को चरण धोकर जल कैसे दिया जाय ! कृष्ण ने उन्हें राधा के पास भेजा। राधा ने चरण धोकर जल देते हुए कहा यदि कृष्ण का शूल अच्छा हो सके तो उसके बदले मैं नरक में जाना भी स्वीकार कर सकती हूँ। प्रेम और मंगल-कामना की कितनी गहराई है !

राधा का प्रेम 'प्रेम' का आदर्श है। अपने आँसुओं से राधा ने प्रेम की बेलि सींची है। राधा-माधव के मिलन की चर्चा तो कवि कर पाये हैं, किन्तु उनके आँसुओं में डूबकर थाह लगाने की शक्ति किसी में नहीं है। भ्रमर-गीत में सूर ने काँपते हुए हाथों से अपने आँचल में उनके आँसु भरने का प्रयत्न किया है सही; पर सरस्वती भी अवतार लेकर लोक-दृष्टि के सम्मुख राधा के सारे आँसू नहीं रख सकती।

रूप

खंजन नयन रूप-रस माते।
अतिसय चारु चपल अनियारे पल पिंजरा न समाते॥

अन्ध कवि सूर रूप से परिचित था, उसकी प्यास से परिचित था और परिचित था आत्म-विस्मृति की उस अवस्था से जिसमें विरह और मिलन एकाकार हो जाते हैं। प्रश्न उठता है—आखिर कृष्ण में कितना सौन्दर्य था कि सारा ब्रज उन पर निछावर था ? उत्तर मेरे पास नहीं है। देखिए, एक गोपी बालकृष्ण को देखकर लौट रही है। उसी से पूछिए वह क्या कहती है—

बिधातहिं चूक परी मैं जानी।
आजु गोबिंदहि देखि देखि हौं इहै समुझि पछितानी॥
रचि पचि सोच सँवारि सकल अँग चतुर चतुरई ठानी।
दीठि न दई रोम-रोमनि प्रति इतनिहि कला नसानी॥
कहा कहौं अति सुख दुइ नैना चलत ढरत भरि पानी।
'सूर' सुमेरु समाइ कहाँ धौं बुधि बासनी पुरानी॥

देखा आपने ? इसे कवित्व कहते हैं ! जिसका रूप वर्णन किया गया है, उसके विषय में एक शब्द भी नहीं है। फिर भी जो कुछ कहा जा सकता था, वह सब कह दिया गया है ! भावना के इन मोतियों का कण्ठहार बनाकर पहन लीजिए; और तब सारे विश्व-साहित्य में गोता लगा आइए। यदि कहीं ऐसा रूप-वर्णन मिले तो हमें बताइएगा। पर सम्भवतः इन मोतियों के आगे सब कल्पनाएँ घोंघे और सीप की तरह जान पड़ेंगी। देखिए, श्याम खेल रहे हैं—

सुन्दर स्याम सरोज नील तन अँग-अँग सुभग सकल सुख-दनियाँ।
अरुण चरण नव-जोति जगमगति, रुनझुन करति पाइँ पैंजनियाँ॥
कनक-रतन-मनि-जटित रचित कटि किंकिनि कुनित पीत पट-तनियाँ।
बाल सुभाव बिलोल बिलोचन, चोरत चितहिं चारु चितवनियाँ॥

तरुण कृष्ण—

मोर-मुकुट मकराकृत-कुंडल, पीत बसन, तन चन्दन,
लोचन तृप्त भए दरसन तैं उर की तपति बुझानी॥

माधव के इस रूप को अपनी आँखों में भर लेनेवाली राधा कितनी रूपवती होगी ! कल्पना भी तो वहाँ तक नहीं जा पाती—

गोरैं भाल बिंदु बदन, मनु, इन्दु प्रातः रवि काँति।

जरा राधा-माधव को एक साथ देखिए—

सँग खेलत दोउ झगरन लागे सोभा बढ़ी अबाधा।
मनहुँ तड़ित घन इन्दु तरनि ह्वै बाल करत रस साधा॥

× × ×

हरि सों धेनु दुहावति प्यारी।
दूध धार मुख पर छबि लागति, सो उपमा अति भारी॥

मानौ चंद कलंकहिं धोवत जहँ-तहँ बूँद सुधा री।
हाव भाव रस मगन भये दोउ, छबि निरखति ललिता री॥

गोपियों के सौंदर्य की एक झाँकी लीजिए—

डोलत बाँकी कुञ्ज गली।
ब्रज बनिता मृग-सावक-नयनी बीनति कुसुम कली॥
कमल बदन पर बिथुरि रहीं लट कुंचित मनहुँ अली।
अधर बिम्ब नासिका मनोहर दामिनि दसन छली॥
नाभि परस लौं रस रोमावलि कुच जुग बीच चली।
मनहुँ बिवर तें उरग रिंग्यो तकि गिरि को संधि-थली॥
पृथु नितम्ब, कटि छीन हंस-गति जघन सघन कदली।
चरन महावर नूपुर मनिमय बाजत भाँति भली॥
ओट भये अवलोकि परस्पर बोलत अली-अली।
सूर सो मोहन लाल रसिक सँग वन घन माँझ रली॥

सूर के रूप-वर्णन में जिस अलौकिक पवित्रता के दर्शन होते हैं वह अन्यत्र दुलर्भ है। वय-संधि का एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

कुटिल अलक भ्रुव चारु नैन मिलि सँचरे स्रवन समीप सुमीति।
वक्र विलोकनि भेद भेदिया जोइ कहत सो करत प्रतीति॥
पोच पिसुन लस दसन सभासद, प्रभु अनंग मंत्री बिनु भीति।

... ...

मंद हास, मुख मंद बचन रुचि, मंद चाल चरननि भइ प्रीति।
नख सिख तें चित चोर सकल अँग जस राजा तस प्रजा बसीति।
सु करि सूर जेहि भाँति रहै पति जनि बल बाँधि बढ़ावहु छीति॥

× × ×

राधे यह छबि उलटि भई।
सारँग ऊपर सुन्दर कदली, तापर सिंह ठई॥

ता ऊपर द्वै हाटक बरनौं मोहन कुम्भ मई।
तापर कमल,कमल बिच विद्रुम तापर कीर लई॥
ता ऊपर द्वै मीन चपल हैं सौतिनि साध रही।
'सूरदास' प्रभु देखि अचम्भो कहत न परत कही॥

× × ×

किछु-किछु उतपति अंकुर भेल।
चरन चपल गति लोचन लेल॥
अब सब खन रह आँचर हात।
लाजे सखिअन पुछये बात॥

(विद्यापति)

विद्यापति की बाला के उरोजों के अंकुर निहारने को नयनों ने चरणों की चंचलता ले ली है। भाव वही है जो सूर कहना चाहते हैं; किन्तु सूर की-सी पवित्रता विद्यापति में नहीं है।

संयोग-शृंगार

सूरदास जी ने संयोग-शृंगार में प्रकृति और पुरुष (आत्मा और परमात्मा) का मिलकर एक हो जाना दिखाया है। मिलन की उस स्थिति में उनका अस्तित्व एक दूसरे में विलीन हो जाता है। दोनों एक दूसरे के गुण ग्रहण कर लेते हैं—

लाल तेरि बंसी नेकु बजाऊँ।
अपनो भूषण पिय पहिराऊँ पिय को पहिरि बताऊँ॥
तुम वृषभानु-लली बनि बैठो, मैं नँदलाल कहाऊँ।
तुम तौ छिपौ पिय कुंज-गलिन में, मैं पकरि फेंट गहि लाऊँ॥
तुम तौ मान मानिनि बनि बैठो, मैं गहि चरन मनाऊँ।
'सूरदास' प्रभु अचरज भारी तुम राधे मैं माधो कहाऊँ॥

सूर का श्रृंगार साधारण दृष्टि से देखने पर अश्लील जान पड़ता है। गंगा-जल भक्तों के लिए अमृत है और रोगियों के लिए विष, यदि ज्वर का रोगी गंगाजी में नहाकर अपने को सन्निपात का शिकार बना ले तो इसमें गंगा का क्या दोष ? जो अपरिपक्व बुद्धि के हैं, उन्हें चाहिए कि वे सूर का श्रृंगार न पढ़ें। जो उसकी भावनाओं की गहराई में पैठ सकें, वही उसका आनन्द लें—

भोर भये मुख देखि लजाने।
रति की केलि बेलि सुख सींचति, सोभित अरुन नैन अलसाने॥
काजर रेख बनी अधरन पर, नैन कपोल पीक लपटाने।
मनहु कंज ऊपर बैठे अलि, उड़ि न सकत मकरन्द लोभाने॥
है हिय हार अलंकृत बिनु गुन, आप सुरति इन जीति सयाने।
'सूरदास' प्रभु पाय धारिये जानति हौं पर हाथ बिकाने॥

× × × ×

अतिहिं अरुन हरि नैन तिहारे।
मानहु रति-रस भए रँग-मगे करत केलि पिय पलक न पारे॥
बार-बार अवलोक कुनखियन कपट नेह मन हरत हमारे॥

× × ×

रति संग्राम बीर रस माते।
डगमगात घूमत जनु घायल सोभा सुभट कला ते॥
'सूरदास' प्रभु रति-रन जीते अब सकात धौं काते।

संयोग की अवस्था में सूर लोक-मर्यादा लाँघ जाते हैं। इसी कारण आलोचकों ने उन पर अश्लीलता का दोष लगाया है। मर्यादा-रेखा टूट जाने के चार कारण जान पड़ते हैं—

(१) साख्य भक्ति—आराधक और आराध्य के बीच की दूरी मिट-सी गई है।

(२) लीलाधाम की कल्पना।

(३) प्रकृति की पुरुष में और पुरुष की प्रकृति में खो जाने की आकुलता। और—

(४) मुक्तक काव्य जिसमें प्रबन्ध काव्य की अपेक्षा कवि को अधिक स्वतन्त्रता मिलती है।

विप्रलम्भ शृंगार

वियोग वस्तुतः मिलन से पहले की वह अवस्था है, जिसमें प्रकृति और पुरुष एक दूसरे में अपना अस्तित्व खो देने को आतुर रहते हैं। वियोग की करुणा जितनी गोपियों के पक्ष में वर्णित है, उतनी कृष्ण के पक्ष में नहीं। इसका कारण सूर का गोपियों के माध्यम से अपनी आकुलता व्यक्त करना है। सूर की पीड़ा गोपियों के प्रेम और खीझ की भावनाओं के रूप में साकार हुई है।

वियोग की जितनी परिस्थितियों की कल्पना सूर ने की है, उतनी अन्य किसी कवि ने नहीं की। लगभग साढ़े तीन सौ परिस्थितियों में सूर ने विरह-वर्णन किया है।

संसार अपनी शाश्वत गति से चला जा रहा है; लेकिन—'मदन गोपाल बिना या तन की सबै बात बदली' श्याम सुन्दर के मिलन की आस में जैसे-तैसे जीवन के दिन बीत रहे हैं। जीवन का उन्हें मोह नहीं है, सारी आकांक्षा और उल्लास तो श्याम के संग चला गया। फिर भी उन्हे जीना है। प्राण श्याम की धरोहर हैं, उन्हें तो पहले ही वे उस छलिया पर उत्सर्ग कर चुकी हैं।

संध्या होती है। गोपियाँ सोच रही हैं—

यहि बेरियाँ बन तें ब्रज आवते।
दूरहिं ते वह बेनु अधर धरि बार-बार बजावते॥

धीरे-धीरे अन्धकार घना हो जाता है—

पिया बिनु साँपिनि कारी रात।
कबहुँ जामिनी होति जुन्हैया डँसि उलटी ह्वै जाति॥

नींद भी बैरिन बन बैठी है—

हम कौं सपनेहू में सोच।
मनौ गोपाल आये मेरे घर हँसि कर भुजा गही।
कहा करौं बैरिन भइ निंदिया निमिष न और रही॥

दिन एक-एक कर के बीते जा रहे हैं; किन्तु—

ब्रज तें द्वै ऋतु पै न गई।
ग्रीषम अरु पावस प्रवीन हरि, बिनु अधिक भई॥
ऊर्ध स्वास समीर, नयन घन, सब जल जोग जुरे।...

नयनों ने तो जैसे बादलों से होड़ लगा रखी है—

सखी री, नैनन तें घन हारे।
बिन ही ऋतु बरसत निसि वासर सदा सजल दोउ तारे॥

\+ + + +

निसि दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहत पावस रितु हम पर जबते स्याम सिधारे॥
दृग अंजन लागत नहिं कबहूँ, कर कपोल भये कारे।
कंचुकि पट सूखत नहिं सजनी, उर बिच बहत पनारे॥

'सूरदास' ब्रज डूबन चाहत काहे न लेत उबारे।
कहँ लौं कहौं स्याम घन सुन्दर बिकल होत अति भारे॥

गोपियाँ ही नहीं, ब्रज का कण-कण कृष्ण के वियोग में आकुल है—

अति कृस गात भई हैं तुम बिनु बहुत दुखारी गाय।
जल समूह बरसत अँखियन तें हूकति लीन्हें नाँव॥
जहाँ-जहाँ गो-दोहन करते ढूँढ़ति सोइ-सोइ ठाँव।

× × ×

यहाँ तक कि—

लखियत कालिन्दी अति कारी।

× × ×

'सँदेसन मधुबन कूप भरे'; फिर भी श्याम न आये, न आये। बहुत अनुग्रह किया जो 'ज्ञान-जोग की खेप' लादकर 'बड़ो व्यापारी ऊधो' को भेज दिया। भ्रमर-गीत के उद्धव वास्तव में निर्गुण उपासना के निर्वाणोन्मुख दीप की टिमटिमाती लौ के प्रतीक हैं। गोपियाँ कहती हैं—

हम तो निपट अहीर बावरी जोग दीजिए ज्ञानिन।
कहा कथत मामी के आगे जानत नाना नानिन।

× × ×

ऐसी को ठाली बैठी है तोसों मूँड़ खवावै।

अज्ञात सुखों की कल्पना में ज्ञात सुखों का बलिदान करना बुद्धिमानी नहीं है। प्रेम का सरल राज-मार्ग छोड़कर यौगिक क्रिया के कीचड़ में गोपियाँ नहीं फँसना चाहतीं—

काहे को रोकत मारग ऊधो?
सुनहु मधुप निर्गुन कंटक तें राजपंथ क्यों सूधो?

× × ×

सुनिहै कथा कौन निरगुन की, रचि-पचि बात बनावत।
सगुन सुभेस प्रगट देखियत तुम तृन ओट दुरावत॥

गोपियों की रग-रग में कृष्ण इस प्रकार समा गये हैं कि निर्गुण की कल्पना भी वे उन्हीं की पृष्ठ-भूमि पर करती हैं—

रेख न रूप बरन जाके नहिं ताको हमें बतावत।
अपनी कहौ, दरस वैसे को तुम कबहूँ हौ पावत?
मुरली अधर धरत है सो, पुनि गोधन बन-बन चारत।
नैन बिसाल भौंह बंकट करि देख्यो कबहुँ निहारत?
तन त्रिभंग करि, नटवर वपु धरि पीताम्बर तेहि सोहत।
सूर स्याम ज्यों देत हमें सुख त्यों तुमको सोउ मोहत?

ऊधो की बात वे मान भी लेतीं, पर करें क्या—

उर में माखन चोर गड़े।
अब कैसहु निकसत नहिं ऊधो, तिरछे ह्वै जु अड़े॥

और फिर तो सन्देशों की भर-मार हो जाती है। बेचारे ऊधो का सारा ज्ञान प्रेम की सरिता में बह जाता है। कृष्ण जहाँ रहें, जैसे रहें, गोपियों के ही रहेंगे—

ऊधो जाहु बाँह धरि ल्याओ सुन्दर स्याम पियारो।
ब्याहौ लाख, धरौ दस कुबरी, अंतहि कान्ह हमारो॥

उनकी तो यही कामना है—

जहँ-जहँ रहौ राज करौ तहँ-तहँ, लेहु कोटि सिर भार।
यह असीस हम देतिं सूर सुनु न्हात खसै जनि बार॥

यशोदा का सन्देश तो पाठकों की पलकें गीली कर देता है—

सँदेसो देवकी सों कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुत की कृपा करत ही रहियो॥

उबटन तेल और तातो जल देखत ही भजि जाते।
जोइ-जोइ माँगत सोइ-सोइ देती करम-करम करि न्हाते॥
तुम तौ टेव जानतिहि ह्वैहो तऊ मोहिं कहि आवै।
प्रात उठत मेरे लाल लड़ैतेहि माखन रोटी भावै॥
अब यह सूर मोहिं निसि वासर बड़ो रहत जिय सोच।
अब मेरे अलक-लड़ैते लालन ह्वैहैं करत सँकोच॥

उधर कृष्ण को भी गोपियों का वियोग कुछ कम नहीं अखर रहा है। द्वारका का सिंहासन व्रज की कँकरीली गलियाँ न भुला सका—

ऊधो मोहिं ब्रज बिसरत नाँहीं।
हंस-सुता की सुन्दर कगरी अरु कुंजन की छाँहीं॥
वै मुरली, वै बच्छ दोहनी, खटिक दुहावन जाँहीं।
ग्वाल बाल सब करत कुलाहल, नाचत गहि-गहि बाँहीं॥

\+ \+ \+ \+

जद्यपि सब सुख निधान द्वारिका मथुरा के सम नाहीं॥

× × × ×

कहँ वन धाम, कहाँ राधा सँग कहाँ संग ब्रज बाम।
कहाँ रस रास बीच अन्तर सुख, कहाँ नारि तनु दाम॥
कहाँ लता तरु-तरु प्रति झूलनि, कुंज-कुंज बन धाम।

अन्य रस

सूर की कविता में यद्यपि शृंगार रस का ही प्राधान्य है, तो भी अन्य रसों का परम अभाव नहीं है। वीभत्स रस को छोड़कर अन्य सभी उनकी कविता में आये हैं। कवित्व की दृष्टि से अन्य रसों की कविताएँ इतनी उत्कृष्ट हैं कि विश्वास नहीं होता कि उनमें सूर ने इतना कम

होगा। शृंगार की विस्तृत आलोचना हो चुकी है। यहाँ अन्य रसों के एक-दो उदाहरण दे देना पर्याप्त होगा।

हास्य—

मैया मैं नहिं माखन खायो।
ख्याल परे ये सखा सबै मिलि, मेरे मुख लपटायो॥

× × ×

निर्गुन कौन देस को बासी?
मधुकर हँसि समुझाय सौंह दे बूझति साँच न हाँसी॥
को है जनक? जननि को कहियतु? कौन नारि? का दासी?

वीर—

देखि नृप तमकि, हरि चमक तहाँई गये,
दमकि लीन्हो गिरहबाज जैसे।
धमकि मार्‍यो घाव, गमकि हिरदे रह्यो,
झमकि गहि केस लै चले ऐसे॥

× × ×

आजु जौ हरिहिं न सस्त्र गहाऊँ।
तौ लाजौं गंगा जननी को सान्तनु-सुत न कहाऊँ॥
स्यंदन खंडि महारथ खंडौं कपिध्वज सहित उड़ाऊँ।
इति न करौं सपथ तौ हरि की छत्रिय गतिहि न पाऊँ॥

करुण—

देखी मैं लोचन चुवत अचेत।
द्वार खड़ी इक टक मग जोवत ऊरध स्वाँस न लेत॥

× × ×

अति मलीन वृषभानु कुमारी।
हरि श्रम जल अन्तर तनु भीजे, ता लालच न धुवावति सारी।

अद्भुत—

देखौ अद्भुत अविगत की गति, कैसो रूप धर्‍यो है।
तीन लोक जाके उदर बसत सो सूप के कोन पर्‍यो है।

भयानक—

भहरात झहरात दावानल आयो।

रौद्र—

प्रथमहिं देउँ गिरिहि बहाइ।
वज्र घतिनि करौं चूरन, देउँ धरनि मिलाइ।

शान्त—

मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज को पंछी फिरि जहाज पर आवै॥

× × ×

थोरे जीवन भयो तन भारौ।
कियौ न सन्त समागम कबहूँ लियौ न नाम तुम्हारौ॥

× × ×

मातृत्व

सूर ने माता के दिन भर का जो कार्य-क्रम दिखलाया है, वह बहुत ही समुचित और वैज्ञानिक है। बच्चों के लालन-पालन का उनका ढंग यदि हमारी माताएँ अपने जीवन में ला सकें तो अति उत्तम हो।

तेल उबटनो लै आगैं धरि लालहिं चोटत-पोटत

और श्याम जब रोने लगते हैं तो—

पाछैं धरि राख्यौ छिपाइ कै उबटन तेल समाजैं री।

बच्चों के नहलाने-धुलाने का भी बहुत ही क्रमिक वर्णन है—

फूली फिरत जसोदा तन-मन, उबटि कान्ह अन्हवाइ अमोल।
तनक बदन दोउ तनक-तनक कर, तनक चरन पोंछति पटझोल॥
कान्ह गरे सोहति मनि-माला, अंग अभूषन अँगुरिन गोल।
सिर चौतनी दिठौना दीन्हौ, आँखि आजि पहिराइ निचोल॥
स्याम करत माता सौं झगरौ, अटपटात, कलबल करि बोल।
दोउ कपोल लै गहि मुख चूमति, बरष-दिवस कहि करति कलोल॥

× × ×

धूरि झारि तातो जल ल्याई, तेल परसि अन्हवाय।
सरस बसन तन पोंछि श्याम को भीतर गई लिवाय॥

बच्चों के सुलाने और जगाने का वर्णन मधुर ही नहीं, वैज्ञानिक भी है। यशोदा केदारा राग में गीत गाकर श्याम को सुलाती हैं और ललित, भैरव, तथा बिलावल राग गाकर उठाती हैं। जगाते समय के गीतों में प्रभात के बहुत सुन्दर चित्र खींचे गये हैं।

कलेवा की जिन चीजों की तालिका सूर ने प्रस्तुत की है, वे सभी बच्चों के स्वास्थ्य के लिए उपकारी हैं—

माखन-रोटी, सद्य जम्यो दधि, भाँति-भाँति के मेवा।

× × ×

खरिक, दाख, खोपरा, खीरा। केरा, आम, ऊख-रस, सीरा।
श्रीफल मधुर चिरौंजी आनी। सफरी चिउरा, अरुन खुबानी॥
घेवर फेनी और सुहारी। खेवा सहित खाहु, बलिहारी।
तब तमोल रचि तुमहिं खवावौं।······

× × ×

लुचुई, लपसी, सद्य जलेबी, सोइ जेंवहु जो लगै पियारी।
घेवर मालपुआ मोतिलाडू, सुघर सजूरी सरस सँवारी॥
दूध बरा उत्तम दधि वाटी,......

प्रकृति-वर्णन

सूर-काव्य में प्रकृति का राधा-माधव लीला से अलग अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। प्रकृति का मोहक स्वरूप सूर को विशेष प्रिय है—

सुन्दर स्याम ललना विहारी, बसन्त सरस ऋतु आयी।
लै लै छरी कुँवरि राधिका, कमल - नयन पर धायी॥
द्वादस बन रतनार देखियत चहुँ दिसि टेसू फूले।
बौरे अमुआ औ द्रुम बेली, मधुकर परिमल भूले॥
सरिता सीतल बहति मन्द गति रवि उत्तर दिसि आयो।

× × × ×

सरद निसि देखि हरि हरषि पायो।
विपिन वृन्दावन सुभग फूले सुमन रास रुचि श्याम के मनहिं आयो॥
परम उज्वल रैनि छिटकि रही भूमि परस तरुन प्रति लटकि लागे।
तैसोइ परम रमणीक यमुना पुलिन त्रिविध बहे पवन आनन्द जागे॥

संयोग काल की यही मोहक प्रकृति वियोग में अभिशाप बन जाती है—

बिनु गोपाल बैरिन भईं कुंजैं।
तब वै लता लगति तन सीतल अब भईं विषम ज्वाल की पुंज।
वृथा बहति जमुना, खग बोलत, वृथा कमल फूलनि अलि गुंजैं॥

सूर ने प्रकृति का चित्रण आलम्बन रूप में भी किया है। उदाहरणार्थ एक प्रधान वर्णन लीजिए—

जागिये, ब्रजराज कुँवर, कमल-कुसुम फूले।
कुमुद-बृन्द सँकुचित भये, भृंग लता भूले।
तमचुर खग-रोर सुनहु, बोलत बनराई।
राँभति गो खरिकनि मैं बछरा हित धाई।
बिधु मलीन रबि प्रकास गावत नर-नारी।

सौन्दर्य और माधुर्य के इस कवि ने सर्वत्र प्रकृति का कोमल चित्र ही खींचा है; किन्तु आवश्यकतानुसार कठोर चित्रों का चित्रण भी किया है—

भहरात झहरात दावानल आयौ।
घेरि चहुँ ओर करि सोर अन्दोर बन,
धरनि अकास चहुँ पास छायौ॥
बरत बन-बाँस, थरहरत कुस काँस,
जरि उड़त भाँस अति प्रबल धायौ।
झपटि-झपटत लपट, फूल-फल चट-चटकि,
फटत लटलटकि द्रुम द्रुमन वायौ॥
अति अगिनि-झार, भंभार धुंधार करि
उचटि अंगार झंझार छायौ॥
बरत बन पात, भहरात झहरात,
अररात तरु महा धरनि गिरायौ॥

सूर की कविता

सूर की कविता में हृदय पक्ष और कला पक्ष दोनों समान अनुपात में आये हैं। गेय पदों में रचना होने के कारण माधुर्य गुण की प्रचुरता है। भाषा का प्रवाह स्वाभाविक है। बोल-चाल के शब्दों का ही बहुलता से प्रयोग हुआ

है। दृष्टि-कूटों में समस्त पदावली और श्लेष तथा यमक का अधिकता से प्रयोग हुआ है। कविता अलंकारों के बोझ से दबी जान पड़ती है। अधिकतर सादृश्य-मूलक अलंकारों का प्रयोग कवि ने विषय स्पष्ट करने के लिए ही किया है।

सूर के भावना-प्रसून बिखरे हुए हैं। जैसे-तैसे काँपते हाथों पूजा के थाल में सूर ने इन्हें रख भर दिया है। प्रबन्ध काव्य वे नहीं लिख सकते थे, यह बात नहीं है। उन्हें बिखरे हुए फूलों की माला गूँथने का अवकाश ही कहाँ था!

प्रबन्ध काव्यत्व के सभी गुण सूर के काव्य में मिलते हैं। चार पंक्तियों में रामायण का कथानक देखिए—

रामचन्द्र दसरथ-सुत ताकी जनक-सुता गृह-रानी।
कहै तात के, पंचवटी बन, छाँड़ि चले रजधानी॥
तहाँ बसत सीता हरि लीन्हीं, रजनीचर अभिमानी।
लछिमन, धनुष देहु, कहि उठे हरि, जसुमति सुनति डरानी॥

अन्तिम पंक्तियों में तो राम-कथा के साथ कृष्णावतार की भी कथा का समन्वय बहुत सुन्दरता से हुआ है।

भाषा-शैली

सूर की भाषा शुद्ध ब्रज भाषा है। उन्होंने गेय पद ही लिखे हैं। नाना प्रकार के छन्दों का प्रयोग कर विद्वत्ता प्रदर्शन की चाह उन्हें न थी। अधिकतर पदों में भाषा का रूप बोल चाल की भाषा का है। भाषा पात्रानुकूल है। सरल शब्दों में गोपियों के चुभते व्यंग्य अद्वितीय हैं—

सूर श्याम जब तुम्हें पठाये तब नेकहु मुसुकाने?

मुहावरों का भी जहाँ-तहाँ यथेष्ट प्रयोग हुआ है।

अपने जियत नयन भरि देखौं हरि-हलधर की जोरी।
इक तनु जरो जात बिन देखे अब तुम दीन्हे फूँक।
सँदेसनि मधुबन कूप भरे।

विदेशी भाषाओं के प्रचलित शब्द भी उन्होंने ग्रहण किये हैं—

कुण्डल मकर कपोलन झलकत श्रम सीकर के दाग।

सूरदास जी की रचना में दो शैलियाँ विशेष रूप से पाई जाती हैं—सरल शैली और दुरूह शैली।

सरल शैली

सरल शैली में हम कृष्ण के बाल-लीला सम्बन्धी पद रख सकते हैं। इस शैली की रचनाएँ प्रसाद गुण से पूर्ण हैं—

मैया कब बढ़िहैं मोरी चोटी।
मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझायो।

अलंकारों की बहुलता के कारण सरल शैली भी कहीं-कहीं दुरूह हो गई है—

नूतन चन्द्र रेख मधि राजत सुर गुर शुक्र उदोत परस्पर।
नील स्वेत पर पीत लाल मनि लटकनि भाल लुनाई।
सनि-गुरु-असुर देव गुरु मिलि मनु भौम सहित समुदाई॥
अम्बुज रुचिर पराग पै मानो राजत मधुप सुदेस।
कछुक कुटिल कमनीय कुटिल अति गोरज मण्डित केस।
कुण्डल लोल कपोल किरण गण नैन कमल दल मीन।
अधर मधुर मुसुकानि मनोहर करत मदन मद-हीन॥

दुरूह शैली

दुरूह शैली के अन्तर्गत इनके दृष्टि-कूट आते हैं। माधुर्य से ये पद ओत-प्रोत हैं, पर प्रसाद गुण का इनमें अभाव है—

बैठी आजु कुंजन ओर।
नकन हैं वृषभानु नन्दिनि चलित नन्दकिसोर॥
भानु-सुत-हित-सत्रु-पितु लागत उठत दुख घेर।
है गये सुर सूल सूरज बिरह अस्तुति फेर॥

[भानु-सुत (कर्ण) का हित (दुर्योधन) का शत्रु (भीम) का पिता (पवन)। आशय है—पवन चलने से राधा दुःख से घिर जाती हैं।]

शब्दों के आदि, मध्य या अन्त के अक्षरों के योग से नया शब्द बनाने का भी कहीं-कहीं संकेत है—

भूसुत मेघ-काल निसि इनके आदि बरन चित आवै।

[भूसुत (कुंज), मेघ-काल (वर्षा) और निसि (जामिनी) तीनों शब्दों के पहले वर्ण को मिलाने से नया शब्द बना—कुब्जा। इस प्रकार इसका अर्थ हुआ कुब्जा कृष्ण के मन में समाई है।]

पूर्वा

अन्ध तमस दुर्निवार
दीखता न कहीं पार
मेघ से घिरा गगन
आकुल था जन-जीवन

बन प्रकाश-पुंज आई,
गोद हुलसी की थी !

श्रेय राम, प्रेय राम
जीवन का ध्येय राम
पथ का पाथेय राम
राम नाम पूर्ण-काम

हार मानी लहरों ने,
नाव तुलसी की थी !

गोस्वामी तुलसीदास

जन्म—सं० १५५४ निधन सं० १६८०

पिता—आत्माराम दूबे या मुरारी मिश्र या···? माता—हुलसी।

जन्मस्थान—राजापुर (बाँदा) या सोरों (एटा) या···?

मूल नक्षत्र में जन्म देकर माता-पिता ने गोस्वामी जी को 'असन-बसन बिन बावरो जहँ-तहँ' भटकने के लिए छोड़ दिया था। दरिद्रता की गोद में पलकर यह अमर कवि इधर-उधर माँगता-खाता रहा। शूकर क्षेत्र में गुरु (नरहरिदास ?) ने बालक रामबोला को राम की कथा सुनाई। तरुण होने पर उसके रूप तथा गुण पर रीझकर एक कुलीन ब्राह्मण ने अपनी कन्या रत्नावली का उससे ब्याह कर दिया। तरुण हृदय ने अपना सर्वस्व प्रिया पर समर्पित कर दिया। किन्तु विधाता का विधान कुछ और ही था। प्रिया के एक दिन अचानक मैके चले जाने पर बरसात की रात की भयंकरता को चीरकर वह ससुराल पहुँचा। प्रिया ने उसे इस परिस्थिति में अपने सामने देखकर कहा —मेरे 'चाम' से तुम्हें जितनी प्रीति है, उतनी यदि 'राम' से होती तो 'भव-भीति' न रहती। और दूसरे ही क्षण तरुण-हृदय हिन्दी का अमर कवि तुलसीदास बन गया।

सूरदास, रहीम और टोडरमल उनके सम-कालीन तथा मित्रों में से थे।

रचनाएँ—पार्वती-मंगल, जानकी मंगल, रामचरित मानस, कवितावली, गीतावली, रामाज्ञा प्रश्नावली, दोहावली, श्रीकृष्ण गीतावली, बरवै रामायण, रामलला नहछू, वैराग्य संदीपनी, विनय पत्रिका और हनुमान बाहुक।

तानसेन से लेकर पसीने से लथपथ हलवाहे की स्वर-लहरी तक पर यदि किसी के पद एक-से तैरे हैं तो वे तुलसी के हैं। काल तुलसी को पचाकर अमर हो गया। संसार का नक्शा बदल गया। धर्म, सभ्यता और संस्कृति सभी कुछ बदल गये। यहाँ तक कि ऋतुएँ भी आगे-पीछे होने लगीं। किन्तु 'रामचरित मानस' का सम्मान दिन-दूना रात-चौगुना बढ़ता ही जा रहा है। अब तो विदेशी भाषाओं में भी मानस के अनुवाद हो रहे हैं। तुलसीदास भारत के ही नहीं, सारी मानवता और सारे संसार के कवि हैं।

गोस्वामी जी की रचनाओं का धार्मिक मूल्य उनके साहित्यिक मूल्य की अपेक्षा बहुत अधिक है। रामचरित मानस ने जो सम्मान पाया है, विश्व की श्रेष्ठतम कृतियों को उसका शतांश सम्मान भी नहीं मिला। यह गोस्वामी जी की ही प्रतिभा थी कि धर्म और साहित्य का उन्होंने इस सुन्दरता से समन्वय किया है कि अन्य धर्मावलम्बियों को भी उसमें आनन्द आता है। शेक्सपियर ने अपनी धर्मान्धता से प्रेरित होकर 'मर्चैंट आफ वेनिस' में यहूदी शाइलाक का चरित्र ईसाई अन्टोनियो की अपेक्षा इतना अधिक गिराया है कि सहृदयों को ठेस-सी लगती है। किन्तु यवनों के अत्याचारों के होते हुए भी तुलसी ने अपने धर्म-ग्रंथ में एक भी बात ऐसी नहीं आने दी जिससे अन्य धर्मावलम्बियों को ठेस पहुँचे।

गोस्वामी जी ने भारत के लगभग सभी तीर्थ-स्थानों (चित्रकूट, काशी, अयोध्या, ब्रज, प्रयाग, जनकपुर आदि) का पर्यटन किया था। सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य को उन्होंने एक निष्काम साधक की भाँति मथा था। टोडरमल के पुत्र और पौत्रों के झगड़े में उनका पंचायतनामा उनकी व्यावहारिक बुद्धि का परिचय देता है। 'दोहावली' के कुछ दोहों से जान पड़ता है कि शतरंज खेलना भी वे जानते थे। ज्यौतिष और गणित का भी उन्हें पर्याप्त ज्ञान था। जीवन के समस्त अनुभवों को उन्होंने अपनी कविता का विषय बनाया। उनका प्रतिपाद्य विषय राम-कथा है। जान पड़ता है, मानों प्रत्येक काव्य के अन्त में कवि को भान होता है कि मैं काव्य को वह बात न दे सका, जो देना चाहता

था। इसी अपूर्णता का अनुभव करके कवि ने विभिन्न छन्दों और शैलियों में राम का यश-गान किया है। उनके समस्त काव्य-ग्रंथ एक दूसरे के पूरक हैं।

तुलसी-दर्शन

राम नाम का मरम है आना। —कबीर।

तुम जो कहा राम कोउ आना। जेहि श्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना॥
एक बात नहिं मोहिं सोहानी। जदपि मोह वस कहेउ भवानी॥

× × ×

कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जो मोह पिशाच।
पाखण्डी हरिपद विमुख जानहिं झूठ न साँच॥—तुलसी।

स्वामी रामानन्द की शिष्य-परम्परा में दो सन्त हुए—एक कबीर और दूसरे तुलसी। तुलसी का दोहा फिर से पढ़िए। यद्यपि यह दो सुधारकों की रूखी बात-चीत नहीं है, प्रिय (महादेव) और प्रिया (पार्वती) के मधुर वार्तालाप की सरसता का इसमें अभाव नहीं है, फिर भी साहित्यिक भाषा में जितनी सुन्दर गालियों की कल्पना की जा सकती है, तुलसी ने कबीर के लिए वे सब चुनकर रखी हैं। मजे की बात तो यह है कि वही तुलसी सहृदय पाठक के पीछे यह कहने के लिए लगे रहते हैं कि ये कौशल्या के पुत्र राम नहीं हैं।

कौशल्या जब बोलन जाई। ठुमुकि-ठुमुकि प्रभु चलहिं पराई॥

और अगली अर्द्धाली है—

निगम नेति शिव अन्त न पावा। ताहि धरै जननी हठि धावा॥

फिर बेचारे कबीर ने 'राम नाम का मरम है आना' लिखकर ऐसा क्या पाप किया, जिससे गोस्वामी जी को इनके लिए इतने अधिक विशेषणों की व्यवस्था करनी पड़ी ?

कबीर और तुलसी में सैद्धान्तिक मत-भेद नहीं है, मत-भेद अपनी बात कहने के ढंग का है। कबीर को जो कुछ कहना था, वह उन्होंने सीधे ढंग से कहा; और तुलसी ने वेद-शास्त्र की दोहाई देते हुए।

ब्रह्म और जीव

जल में कुम्भ कुम्भ में जल है भीतर बाहर पानी।
फुटा कुम्भ जल जलहिं समाना, यह तन कथौं गियानी ॥—कबीर।

× × ×

सो मैं तोंहि ताहि नहिं भेदा। —तुलसी।

जीव और ब्रह्म वास्तव में एक ही हैं। उनमें माया (सत्य या मिथ्या) के कारण द्वैत देख पड़ता है। ज्ञान-मार्गीय और अद्वैत वेदान्ती इसका समर्थन करते हैं।

जिस प्रकार सूरज का प्रकाश धरती पर जल से भरे सभी घड़ों में समान रूप से पड़ता है, उसी प्रकार ब्रह्म सभी जीवों में अंश रूप से व्याप्त है—

ईश्वर अंश जीव अविनाशी। चेतन अमल सहज सुख-रासी ॥

इस विभेद का कारण भी माया ही है; यह सिद्धान्त विशिष्टाद्वैत का है।

× × ×

जीव और ब्रह्म-सम्बन्धी प्रथम मत ज्ञान मार्ग का है। माया का स्वप्न-जाल आँखों के आगे से हटाकर जीव अपने में ब्रह्म की सत्ता का अनुभव करने लगता है और सृष्टि को ब्रह्ममय देखता है। 'मैं ही ब्रह्म हूँ' वाली भावना की इसमें प्रधानता रहती है।

गोस्वामीजी ने 'मैं अरु तोरि' को 'माया' कहकर इससे बचने की सलाह दी है; किन्तु प्रच्छन्न रूप से इसका समर्थन भी किया है। अहं की प्रबलता के कारण जीव में अहंकार आ जाने की सम्भावना है; इसी से गोस्वामी जी ने अहं का समर्थन नहीं किया।

जीव और ब्रह्म में भेद मानकर उन्होंने सेवक और सेव्य भाव की प्रतिष्ठा की है; क्योंकि—

सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि।

दशरथ को तुलसी ने तब तक मोक्ष नहीं दिया, जब तक राम को पर-ब्रह्म मानकर उन्होंने उनकी वन्दना नहीं की। जटायु (और बाद में रावण भी) इसके बहुत पहले सेवक-सेव्य भाव के कारण मोक्ष पा चुका था।

जीव और ब्रह्म का यह दिखावटी भेद माया के कारण है—

परबस जीव स्वबस भगवन्ता। जीव अनेक एक श्रीकन्ता॥

माया का आभास 'काम क्रोध मद मोह' के कारण होता है। इन भौतिक बन्धनों से छुटकारा पाकर हम सहज ही ब्रह्ममय हो सकते हैं। इसके लिए तपस्या की आवश्यकता नहीं। सामाजिक बन्धनों का पालन करते हुए भी भक्त सहज में मोक्ष (जीव और ब्रह्म का एकीकरण) पा सकता है।

× × ×

माया

गोस्वामी जी माया को मिथ्या नहीं मानते। माया ही निर्गुण ब्रह्म के अवतार का कारण है। दूसरे शब्दों में, माया के ही कारण भगवान (निर्गुण) अवतार लेकर भक्तों के बीच लीला करने आते हैं; अतः गोस्वामी जी माया को बुरा नहीं मानते—

निज इच्छा निर्मित वपु माया-गुन गोपार।

माया बहुत प्रबल है। इसी की शक्ति से—

उमा दारु-जोषित की नाईं। सबहिं नचावत राम गोसाईं।

ब्रह्म माया के साथ रहकर भी उससे अलिप्त रहता है। पर जीव उसके पंक में फँस जाता है। यही जीव के दुःख का कारण है। माया ब्रह्म की शक्ति है और जीव का बन्धन।

काजल तरुणी के नयनों की शोभा बनता है, शिशु के भाल पर दिठौना और पापी के मुँह पर कलंक। पर वह प्रत्येक दशा में काजल ही रहता है, उसका प्रभाव विभिन्न परिस्थितियों और पात्रों पर विभिन्न होता है। माया को भी इसी प्रकार का काजल समझना चाहिए। ब्रह्म से जीव का सम्मिलन न हो सकने का प्रधान कारण माया ही है। इससे मुक्ति भगवान ही देते हैं—

तुलसिदास यहि जीव मोह रजु सोइ बाँधे सोइ छोरै।

× × ×

बिनु तव कृपा दयालु दास-हित मोह न छूटै माया।

माया से मुक्त होने का सहज उपाय हरि-नाम-स्मरण है।

सोइ जानइ जेहि देउ जनाई। जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाई।

× × ×

संसार

अनविचार रमणीय सदा संसार भयंकर भारी।

मृग-मरीचिका की भाँति संसार का बाह्य स्वरूप बहुत लुभावना है; किन्तु इस सौन्दर्य का परिणाम बहुत भयानक है। मृग-मरीचिका के पीछे मानव दौड़ रहा है। इससे बचाव के दो उपाय हैं—एक तो मृग-मरीचिका ही आँखों के सामने से हटा दी जाय; दूसरे मानव अपनी चेतना सँभालकर वास्तविकता समझ ले। पहला मार्ग साधना का है जो हमें संसार छोड़कर

विरक्त जीवन में प्रवेश करने की सलाह देता है। दूसरा मार्ग भक्ति का है जो संसार में हमारा अस्तित्व बनाये रखकर भी हमें उसके दुःखों से बचाये रखता है। पहला मार्ग जन-साधारण के हित या लोकोपकार का नहीं है; पर दूसरा व्यावहारिक होने के साथ-साथ सामाजिक भी है। विनय-पत्रिका में कवि ने इसे और अधिक स्पष्ट कर दिया है—

सपने व्याधि विविध बाधा भइ मृत्यु उपस्थित आई।
वैद्य अनेक उपाय करैं जागे बिनु पीर न जाई॥

स्वप्न की पीर से छुटकारा पाने का एक मात्र मार्ग जागरण ही है।

संसार के दुःख का कारण हमारा भ्रम है। यदि बच्चा बाहर खेल रहा हो और माँ को भ्रम हो जाय कि वह मर गया तो वह दुःखी हो जाती है। इसी प्रकार यदि मरे हुए बच्चे के विषय में भ्रम हो जाय कि यह जीवित है, तो वह सुखी रहती है। यह सुख और दुःख वास्तव में भ्रम के कारण होते हैं। सच तो यह है कि बच्चा न तो मरता है, न जीता है। उसके प्रति हमारे सुख या दुःख की अनुभूति भ्रम के कारण है। आनन्द मानवीय सुख-दुःख की उच्चतम स्थिति है। सुख-दुःख के भौतिक बन्धनों से मुक्ति पाकर हम आनन्द की ओर उन्मुख होते हैं। अतः जीव को उचित है कि वह सब ओर से अपना मन खींचकर भगवान के चरणों में लगावे।

भक्ति

ध्यान प्रथम जुग[1] मख पुनि दूजे[2]। द्वापर परितोषत प्रभु पूजे॥
कलि केवल हरि नाम अधारा। ... ...।
ज्ञानहिं भगतिहिं नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव-संसय खेदा॥

१. सत्ययुग। २. त्रेता।

ग्यान बिराग जोग बिग्याना। ए सब पुरुष सुनहु हरिजाना॥
पुरुष प्रताप प्रबल सब भाँती। अबला अबल सहज जड़जाती॥

सोउ मुनि ज्ञान बिधान, मृगनयनी बिधु मुख निरखि।
बिबस होइ हरिजान, नारि विष्णु माया प्रगट॥

मोह न नारि नारि के रूपा। पन्नगारि यह रीति अनूपा॥
पुनि रघुबीरहिं भगति पियारी। माया खलु नर्तकी बिचारी॥
राम भगति निरुपम निरुपाधी। बसइ जासु उर सदा अबाधी॥
तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकइ कछु निज प्रभुताई॥
अस बिचारि जे मुनि बिग्यानी। जाँचहिं भगति सकल सुखखानी॥

कैसी सीधी सी बात कवि ने इतना घुमा फिराकर कही है। साधारण पाठक के लिए इस चक्र-व्यूह से निकलना कठिन हो जाता है और वह कवि के सामने घुटने टेक देने को विवश होता है। जान पड़ता है, कवि को अपने विचार में स्वयं अविश्वास है, तभी तो वह सोरठे के बाद लिखता है—

इहाँ न पच्छपात कछु राखउँ। बेद पुरान सन्त मत भाखउँ॥

पुराणों से तो कवि का मत मिलता है, किन्तु वेद और उपनिषद् निराकार के ही उपासक हैं। फिर गोरखनाथ और कबीर भी सन्त हैं। यदि उन्हें गोस्वामी जी सन्त न भी मानें तो भी वेद को यहाँ घसीट लाने की क्या आवश्यकता थी?

भक्ति का गोस्वामी जी ने कोई तार्किक विवेचन नहीं किया है। गरुड़-काक-भुशुण्डी संवाद से स्थिति स्पष्ट हो जायगी। इन्द्रजीत के बन्धन से राम को छुड़ाकर गरुड़ के मन में विषाद उत्पन्न होता है—

सो अवतार सुनेउँ जग माहीं। देखेउँ सो प्रभाव कछु नाहीं॥

वे अपनी शंका का समाधान करने नारद के पास गये। नारद ने 'महामोह उपजा उर तोरे' कहकर उन्हें चतुरानन के पास जाने को कहा। 'तब खगपति

बिरंचि पहिं गयऊ। निज सन्देह सुनावत भयऊ॥ सुनि बिरंचि रामहिं सिर नावा। समुझि प्रताप प्रेम अति छावा।' और कहा—'बैनतेय संकर पहिं जाहू।' शंकरजी कुबेर के घर जा रहे थे। मार्ग में गरुड़ मिले। शंकर जी को इतना अवकाश न था; अतः 'बहु भाँति करिय सतसंगा' का उपदेश देकर 'उत्तर दिसि सुन्दर गिरि नीला' में काकभुशुण्डी के पास भेज दिया। शंकर जी ने उनकी शंका का समाधान न करने का जो कारण उमा से बताया है, वह पाठक मानस के उत्तर काण्ड में देख लें। उससे जो ध्वनि निकलती है, उसका न कहना ही अच्छा है। मजे की बात तो यह है कि काकभुशुण्डी का आश्रम देखते ही गरुड़ का 'माया मोह सोच सब गयऊ'। इतने महासागर मथकर गरुड़ ने कौन-सा अमृत निकाला, यह जानने को पाठक तरसता ही रह जाता है। इसके बाद एक साँस में काकभुशुण्डी राम-कथा कह डालते हैं और तब जासूसी उपन्यासों की शैली में राम की महिमा।

तुलसी की भक्ति-भावना तर्क की कसौटी पर नहीं कसी जा सकती। शंका करनेवाले को गोस्वामी जी नरक का दरवाजा दिखा देते हैं।

काकभुशुण्डी और लोमश-संवाद में गोस्वामी जी ने सगुण उपासना को निर्गुण उपासना से श्रेष्ठ सिद्ध किया है; किन्तु तर्क का यहाँ भी अभाव-सा है। लोमश मुनि के इस कथन में—

लागे करन ब्रह्म उपदेसा। अज अद्वैत अगुन हृदयेसा॥
अकल अनीह अनाम अरूपा। अनुभव गम्य अखण्ड अनूपा॥
मन गोतीत अमल अबिनासी। निर्विकार निरवधि सुख-रासी॥
सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा। बारि बीचि इव गावहिं बेदा॥
बिविध भाँति मोहिं मुनि समुझावा। निर्गुन मत मम हृदय न आवा॥

ऐसा कौन-सा रहस्य है जो काकभुशुण्डी की समझ में न आया? जो—

सिया राम मय सब जग जानी। करहुँ प्रणाम जोरि जुग पानी॥

तुलसी के राम

राम सरूप तुम्हार, बचन अगोचर बुद्धि पर।
अविगत अकथ अपार, नेति नेति जेहि निगम कह ॥

राम 'व्यापक अकल अनीह अज निर्गुन नाम न रूप' हैं। किन्तु जब हम उनके सम्बन्ध में 'नेति-नेति' कहते हैं तो हमारा यह कथन ही उनका एक गुण हो जाता है। राम में गोस्वामी जी ने परब्रह्म की प्रतिष्ठा की है—

राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अविगत अलख अनादि अनूपा ॥
सकल बिकार रहित गत भेदा। कहि नित नेति निरूपहिं वेदा ॥

× × × ×

सोइ सच्चिदानन्द घन रामा। अज विज्ञान रूप बल-धामा ॥
व्यापक व्याप्य अखण्ड अनन्ता। अखिल अमोघ शक्ति भगवन्ता ॥
अगुन अदभ्र गिरा गोतीता। सम-दरसी अनवद्य अजीता ॥

किन्तु अरूप की आराधना नहीं की जा सकती; अतः गोस्वामी जी ने सगुण उपासना की व्यवस्था की है। राम को उन्होंने एक ही छन्द में सगुण और निर्गुण दोनों कह डाला है—

जय सगुण-निर्गुन रूप रूप अनूप भूप सिरोमने।
दस-कंधरादि प्रचण्ड निसिचर प्रबल खल भुज-बल हने॥
अवतार नर संसार भार विभंजि दारुन दुख दहे।
जय प्रनतपाल दयालु प्रभु संजुक्त सक्ति नमामहे ॥

गोस्वामी जी सगुण और निर्गुण में भेद नहीं मानते। ब्रह्म को हम न सगुण कह सकते हैं, न निर्गुण। वह इन दोनों से परे है। और प्रत्येक दशा में ब्रह्म है। उसमें सगुण और निर्गुण स्वरूपों की स्थापना मानव ने अपनी उपासना के सुभीते के लिए की है—

सब उपमा कवि रहे जुठारी। केहि पटतरिअ बिदेह-कुमारी ॥

रूप के लिए हर्ष केवल दीप-शिखा की कल्पना कर पाये हैं, किन्तु गोस्वामी जी उनसे एक पग आगे बढ़कर सीता के रूप-लावण्य को—

छबि गृह दीप शिखा जनु बरई।

लिखकर मानो आनेवाली पीढ़ियों की लेखनी ही कुण्ठित कर देते हैं।

कवि ने अपनी कल्पना से सीता के अनिर्वचनीय रूप का चित्रण किया है—

जो छबि सुधा पयोनिधि होई। परम रूप-मय कच्छप सोई ॥
सोभा रजु मंदरु सिंगारू। मथइ पानि-पंकज निज मारू ॥
एहि बिधि उपजै लच्छि जब, सुन्दरता सुख-मूल।
तदपि सकोच समेत कवि, कहहिं सीय सम तूल ॥

गोस्वामी जी ने बराबर रूप की पवित्रता की ओर ध्यान दिया है। लौकिक रूप का अलौकिक लावण्य एक पंक्ति में देखिए—

सोह नवल तन सुन्दर सारी। जगत-जननि अतुलित छवि भारी ॥

बरवै रामायण में सीता का सौन्दर्य अद्वितीय है—

सिय मुख सरद कमल जिमि किमि कहि जाइ।
निसि मलीन वह निसि दिन यह बिगसाइ ॥
× × ×
चम्पक हरवा अँग मिलि अधिक सोहाइ।
जानि परै सिय हियरे जब कुम्हिलाइ ॥

राम

जितने थोड़े शब्दों में तुलसी ने रूप-चित्र खींचे हैं, उतने थोड़े शब्दों में अन्य किसी कवि ने नहीं। सीता की सखी उससे राम का सौन्दर्य कुछ शब्दों में ही कह डालती है—

गिरा अनयन नयन बिनु बानी।

तुलसी का अनुकरण बहुतों ने किया, किन्तु सबके हाथ विफलता ही आई। बालक राम का रूप देखिए—

भाल विशाल विकट भृगुटी बिच तिलक रेख रुचि राजै।
मनहुँ मदन तन तकि मरकत धनु जुगल कलक सर साजै॥
रुचिर पलक लोचन जग तारक स्याम अरुन सित कोये।
जनु अलि नलिन कोस महँ बंधुक सुमन सेज सजि सोये॥
अधर अरुन तर दसन पाँति वर मधुर मनोहर हासा।
मनहुँ सोन सरसिज महँ कुलिसनि तड़ित सहित कृत वासा॥

अन्य पात्र

जाति-विलास में देव ने नारी का जो रूप देखा है, वह अद्वितीय है। तनिक तुलसी के 'रामलला नहछू' का भी रूप देखिए—

अहिरिनि हाथ दहेंड़ि सगुन लेइ आवइ हो।
उनरत जोबन देखि नृपति मन भावइ हो॥
रूप सलोनि तमोलिन बीरा हाथहिं हो।
जाकी ओर बिलोकहिं मन तेहि साथहि हो॥
दरजिन गोरे गात लिए कर जोरा हो।
केसरि परम लगाइ सुगन्धक बोरा हो॥
कटि कै छीन मलिनियाँ छाता पानिहि हो।
चन्द्र बदन मृगलोचनि सब रस खानिहि हो॥
नैन बिसाल नउनियाँ भौं चमकावइ हो।
देइ गारी रनिवासहिं प्रमुदित गावइ हो॥

तुलसी का रूप-चित्र जब अलौकिकता के धरातल से उतरकर लौकिक

जगत् में प्रवेश करता है, तब भी उसकी पवित्रता बनी रहती है, यही उसकी विशेषता है।

प्रेम

तुलसी का प्रेम समाज की आँखें बचाकर लुका-छिपी का नहीं है, वह सामाजिक मर्यादाओं में बँधा हुआ है। उनका प्रत्येक पात्र जिससे प्रेम करता है, अग्नि को साक्षी देकर सात भाँवरों के बीच जन्म भर के लिए उसे जीवन सहचर के रूप में स्वीकृत करता है। वह ऐसा प्रेम है जिसके आँसू आँचल और कपोलों पर ही नहीं सूख जाते, समुद्र पर भी पुल बाँध डालने की प्रेरणा देते हैं।

गोस्वामी जी ने प्रेम को केवल दाम्पत्य भावना तक सीमित नहीं रखा है, वरन् उसके विविध क्षेत्रों का सांगोपांग विवेचन किया है। प्रेम के लौकिक और अलौकिक दोनों पक्षों को तुलसी-काव्य में सम्यक् स्थान मिला है। लौकिक प्रेम की पवित्रता अलौकिक प्रेम के समकक्ष है। पिता-पुत्र का प्रेम, माता-पुत्र का प्रेम, भाई-भाई का प्रेम, राजा-प्रजा का प्रेम, सब का उन्होंने सुन्दर आदर्श उपस्थित किया है।

प्रेम के पीछे कवि संसार को भूल सकता है; किन्तु जहाँ राम का प्रश्न आता है, वहाँ सबसे अधिक महत्व उन्हीं को देता है—

जाके प्रिय न राम बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही॥

मन्दोदरी, विभीषण, सुग्रीव, अंगद और तारा इसी प्रकार के राम के भक्त हैं जिन्होंने राम-भक्ति में अपने प्रियजनों को ठुकरा दिया।

नारी जाति वृद्धि के लिए बनी है। प्रणय की सार्थकता ऐन्द्रिक तृप्ति के क्षणिक आनन्दोपभोग में नहीं, सन्तान-वृद्धि में है, जो केवल विवाह से

कन्या-दान देकर पिता भी मण्डप से चला जाता है, विवाह की बाकी रस्में वह नहीं देखता। यह सामाजिक मर्यादा है ; इसका कोई विधान नहीं है।

सुकुमारता की शोभा भी देखते ही बनती है। सीता के रूप पर मुग्ध होकर लक्ष्मण से राम कहते हैं—

तात जनक-तनया यह सोई। धनुष जग्य जेहि कारन होई॥
जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मन छोभा॥
सो सब कारन जान बिधाता। फरकहिं सुभग अंग सुनु भ्राता॥
रघुबंसिन कर सहज सुभाऊ। मन कुपंथ पग धरइ न काऊ॥
मोहिं अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहि सपनेहुँ पर नारि न हेरी॥

सीता के रूप पर रीझकर श्री राम को अपने पर विश्वास है। इसी को चरित्र की महत्ता कहते हैं—यही उनका मर्यादा-पुरुषोत्तमत्व है।

सीता के रूप पर रीझे हुए राम की मनोदशा का चित्रण एक ही दोहे में बहुत सुन्दर हुआ है—

करत बत-कही अनुज सन, मन सिय रूप लोभान।
मुख सरोज मकरन्द छबि, करइ मधुप इव पान॥

और राम के रूप पर रीझी सीता—

देखि रूप लोचन ललचाने। हरषे जनु निज निधि पहिचाने॥
थके नयन रघुपति छबि देखें। पलकन्हि हूँ परिहरीं निमेषें॥
अधिक सनेह देह भइ भोरी। सरद ससिहिं जनु चितव चकोरी॥
लोचन मग रामहिं उर आनी। दीन्हें पलक कपाट सयानी॥

और यहीं प्रथम मिलन समाप्त हो जाता है। 'रघुबंसिन कर सहज सुभाऊ' में कवि ने राम की जिस चारित्रिक महत्ता की ओर संकेत किया है, 'रघुपति छबि देखे' में वह अपनी पूर्णता पा लेता है। 'रघुपति' के स्थान पर राम का कोई अन्य पर्यायवाची नाम इतना सार्थक न हो पाता। यह कवि की

अपनी विशेषता है कि उसका एक-एक शब्द अपना स्वतन्त्र महत्त्व रखता है।

'पुनि आउब एहि बेरियाँ काल्ही' कहकर सयानी सखी राम को दूसरे दिन आने का संकेत करती है और सीताजी 'भयउ बिलम्ब मातु भय मानी' चली जाती हैं। राम से अलग होते समय उनकी शोभा देखने योग्य है—

देखन मिस मृग बिहग तरु, फिरइ बहोरि-बहोरि।
निरखि-निरखि रघुबीर छवि, बाढ़इ प्रीति न थोरि॥

प्रथम-दर्शन की इतनी पुनीत योजना साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है।

धर्म-काव्य और दास्य भक्ति ने तुलसी को एकान्तिक प्रेम की चर्चा करने में असमर्थ बना दिया है। फिर भी जहाँ-तहाँ इसका परिपाक सुन्दर ही हुआ है—

एक बार चुनि कुसुम सुहाये। निज कर भूषन राम बनाये।
सीतहिं पहिराये प्रभु सादर। बैठे फटिक सिला पर सुन्दर॥

वियोग शृंगार में भी गोस्वामी जी ने संयम नहीं खोया है। सीता-हरण के पश्चात् राम नर-लीला दिखाने को थोड़ा विलाप करते हैं; और फिर कर्म-पथ पर अग्रसर हो जाते हैं।

प्रकृति-वर्णन

प्रकृति का स्वतन्त्र वर्णन कवि ने कम किया है। चाँद का रूप मानस के पात्रों के लिए आकर्षक नहीं है। बाल-काण्ड में राम उसे देखकर जानकी के रूप के सम्मुख उसे तुच्छ समझते हैं; और लंका काण्ड में उसकी कालिमा को लेकर अच्छा खासा विवाद उठ खड़ा होता है। संध्या और प्रभात के वर्णन भी इसी प्रकार के हैं। अयोध्या, जनकपुर और लंका का नगर-वर्णन सुन्दर है।

कन्या-दान देकर पिता भी मण्डप से चला जाता है, विवाह की बाकी रस्में वह नहीं देखता। यह सामाजिक मर्यादा है; इसका कोई विधान नहीं है।

सुकुमारता की शोभा भी देखते ही बनती है। सीता के रूप पर मुग्ध होकर लक्ष्मण से राम कहते हैं—

तात जनक-तनया यह सोई। धनुष जग्य जेहि कारन होई॥
जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मन छोभा॥
सो सब कारन जान बिधाता। फरकहिं सुभग अंग सुनु भ्राता॥
रघुवंसिन कर सहज सुभाऊ। मन कुपंथ पग धरइ न काऊ॥
मोहिं अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहि सपनेहुँ पर नारि न हेरी॥

सीता के रूप पर रीझकर श्री राम को अपने पर विश्वास है। इसी को चरित्र की महत्ता कहते हैं—यही उनका मर्यादा-पुरुषोत्तमत्व है।

सीता के रूप पर रीझे हुए राम की मनोदशा का चित्रण एक ही दोहे में बहुत सुन्दर हुआ है—

करत बत-कही अनुज सन, मन सिय रूप लोभान।
मुख सरोज मकरन्द छबि, करइ मधुप इव पान॥

और राम के रूप पर रीझी सीता—

देखि रूप लोचन ललचाने। हरषे जनु निज निधि पहिचाने॥
थके नयन रघुपति छबि देखें। पलकन्हि हूँ परिहरीं निमेषें॥
अधिक सनेह देह भइ भोरी। सरद ससिहिं जनु चितव चकोरी॥
लोचन मग रामहिं उर आनी। दीन्हें पलक कपाट सयानी॥

और यहीं प्रथम मिलन समाप्त हो जाता है। 'रघुबंसिन कर सहज सुभाऊ' में कवि ने राम की जिस चारित्रिक महत्ता की ओर संकेत किया है, 'रघुपति छबि देखे' में वह अपनी पूर्णता पा लेता है। 'रघुपति' के स्थान पर राम का कोई अन्य पर्यायवाची नाम इतना सार्थक न हो पाता। यह कवि की

अपनी विशेषता है कि उसका एक-एक शब्द अपना स्वतन्त्र महत्त्व रखता है।

'पुनि आउब एहि बेरियाँ काल्ही' कहकर सयानी सखी राम को दूसरे दिन आने का संकेत करती है और सीताजी 'भयउ बिलम्ब मातु भय मानी' चली जाती हैं। राम से अलग होते समय उनकी शोभा देखने योग्य है—

देखन मिस मृग बिहग तरु, फिरइ बहोरि-बहोरि।
निरखि-निरखि रघुबीर छवि, बाढ़इ प्रीति न थोरि॥

प्रथम-दर्शन की इतनी पुनीत योजना साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है।

धर्म-काव्य और दास्य भक्ति ने तुलसी को एकान्तिक प्रेम की चर्चा करने में असमर्थ बना दिया है। फिर भी जहाँ-तहाँ इसका परिपाक सुन्दर ही हुआ है—

एक बार चुनि कुसुम सुहाये। निज कर भूषन राम बनाये।
सीतहिं पहिराये प्रभु सादर। बैठे फटिक सिला पर सुन्दर॥

वियोग शृंगार में भी गोस्वामी जी ने संयम नहीं खोया है। सीता-हरण के पश्चात् राम नर-लीला दिखाने को थोड़ा विलाप करते हैं; और फिर कर्म-पथ पर अग्रसर हो जाते हैं।

प्रकृति-वर्णन

प्रकृति का स्वतन्त्र वर्णन कवि ने कम किया है। चाँद का रूप मानस के पात्रों के लिए आकर्षक नहीं है। बाल-काण्ड में राम उसे देखकर जानकी के रूप के सम्मुख उसे तुच्छ समझते हैं; और लंका काण्ड में उसकी कालिमा को लेकर अच्छा खासा विवाद उठ खड़ा होता है। संध्या और प्रभात के वर्णन भी इसी प्रकार के हैं। अयोध्या, जनकपुर और लंका का नगर-वर्णन सुन्दर है।

प्रकृति-चित्रण कवि से सुन्दर बन पड़ा है। उपमा, उत्प्रेक्षा और उपदेशात्मकता आवश्यकता से अधिक होने के कारण प्रकृति का सौन्दर्य धुँधला पड़ गया है—

दामिनि दमक रही घन माहीं। खल कै प्रीति जथा थिर नाहीं॥
बरसहिं जलद भूमि नियराये। जथा नवहिं बुध बिद्या पाये॥

स्पष्ट है कि दामिनि की दमक की अपेक्षा कवि की दृष्टि 'खल की प्रीति' की ओर अधिक है।

प्रकृति के रूप की ओर जब कवि मंत्र-मुग्ध-सा निहारने लगा है, तब काव्य का सौन्दर्य निखर उठा है। यद्यपि उसके चित्र कवि-परम्परा की पृष्ठ-भूमि पर ही हैं, किन्तु उसने अपनी कल्पना की तूलिका का समुचित प्रयोग किया है—

बोलत जल कुक्कुट कल हंसा। प्रभु बिलोकि जनु करत प्रसंसा॥
सुन्दर खग गन गिरा सोहाई। जात पथिक जनु लेत बोलाई॥
चम्पक बकुल कदम्ब तमाला। पाटल पनस पलास रसाला॥
नव पल्लव कुसुमित तरु नाना। चंचरीक पटली कर गाना॥
सीतल मन्द सुगन्ध सुभाऊ। संतत बहइ मनोहर बाऊ॥

× × ×

लागे बिटप मनोहर नाना। बरन बरन बर बेलि बिताना॥
नव पल्लव फल सुमन सुहाये। निज संपति सुर-रूख लजाये॥
चातक कोकिल कीर चकोरा। गूँजत बिहँग नचत कल मोरा॥

सीता के वियोग में सूर की-सी करुणा नहीं आने पाई है, पर प्रकृति-चित्रण विप्रलम्भ के उद्दीपन रूप में सुन्दर हुआ है—

खंजन सुक कपोत मृग मीना। मधुप निकर कोकिला प्रबीना॥
कुन्द कली दाड़िम दामिनी। कमल सरद ससि आइ भामिनी॥

बरुन पास मनोज धनु हंसा। गज केहरि निज सुनत प्रसंसा ॥
श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं। नेकु न संक सकुच मन माहीं ॥
सुनु जानकी तोहि बिनु आजू। हरषे सकल पाइ जनु राजू ॥

× × ×

सूक्ष्म-दर्शिनी दृष्टि

मानव-हृदय में पैठकर अन्तर की बात जान लेना गोस्वामी जी के लिए साधरण-सी बात है। प्रत्येक पात्र का उन्होंने मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। भरत की ग्लानि तो साहित्य में बे-जोड़ है।

पात्रों के कथन उनकी योग्यता और मनोवृत्ति के अनुकूल ही हैं; फिर भी इससे उनका प्रभाव कम होने के बदले बढ़ता ही है। यथा—

मंथरा—

हमहुँ कहब अब ठकुर-सोहाती। ....॥
कोउ नृप होइ हमइँ का हानी। चेरि छाँड़ि न होउब रानी ॥

कैकेयी—

नइहर जनम भरब बरु जाई। जियत न करब सवति सेवकाई ॥

भरत—

जननी तू जननी भई...... ।

लक्ष्मण—

इहाँ कोंहँड़ बतिया कोउ नाहीं। जे तरजनि देखत मरि जाहीं ॥

मैना (पार्वती की माँ) का भूतनाथ को पार्वती के वर रूप में देखकर क्षोभपूर्वक विलाप—

कस कीन्ह बरु बौराह बिधि जेहिं तुम्हइ सुन्दरता
जो फल चहिअ सुर तरुहिं सो बरबस बबूरहिं ला।

तुम्ह सहित गिरि तें गिरौं पावक जरौं जलनिधि महँ परौं।
घरु जाउ अपजसु होउ जग जीवत बिवाहु न हौं करौं॥
नारद कर मैं काह बिगारा। भवनु मोर जिन्ह बसत उजारा॥

इन पंक्तियों में माँ का सरल हृदय छलक पड़ा है।

ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है कि सरल भाषा और कम शब्दों में इतना अधिक भाव भर दिया गया है जो अन्यत्र दुर्लभ है।

तुलसी का कवित्व

कविता लिखने में गोस्वामी जी को कभी श्रम नहीं करना पड़ा। वह उनकी लेखनी से अनायास ही निकलती चलती है। अनुभूतियों को उन्होंने भाषा के माध्यम से व्यक्त किया है। उन्हीं के शब्दों में—

भयेउ हृदय आनन्द उछाहू। उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रवाहू॥
चली सुभग कविता सरिता सी। राम विमल जस जल भरिता सी॥

अपने को उन्होंने कभी कवि नहीं समझा। उनके सम-कालीनों ने भी उन्हें भक्त और सन्त ही कहा है—

कलि कुटिल जीव निस्तार हित बालमीकि तुलसी भयो।

कवि के रूप में उनका सम्मान जॉर्ज ग्रियर्सन के एक लेख के साथ बढ़ा, जिसमें उन्होंने गोस्वामी जी को एशिया के छः श्रेष्ठ कवियों में स्थान दिया था। वास्तव में तुलसी का काव्य धर्म और साहित्य का संगम है।

तुलसी के काव्य में काव्य के तीनों गुणों (ओज, प्रसाद और माधुर्य) का समावेश है। विनय पत्रिका को छोड़कर उनकी सभी कृतियों में प्रसाद गुण मिलता है। संस्कृत के तत्सम शब्दों को तद्भव बनाकर अनुप्रास और यमक के प्रयोग से भाषा को मधुर बना देना उनकी विशेषता है। वीर, भयानक, रौद्र और वीभत्स रसों में ओज गुण पाया जाता है। समस्त पदा-

वली, संयुक्त वर्ण, दीर्घ स्वरों की बार-बार आवृत्ति, रेफ और टवर्गवाले कर्कश शब्दों का प्रयोग भी उसमें चार चाँद लगा देता है। युद्ध से पूर्व वीरों की गर्वोक्तियों में रस का अच्छा परिपाक हुआ है।

महाकाव्य के लिए जितने वर्णन आवश्यक हैं, गोस्वामी जी ने वे सभी वर्णन सुन्दरतापूर्वक किये हैं। विवाह और ज्योनार-सी साधारण बातें भी कवि की सूक्ष्म-दर्शिनी दृष्टि से अछूती नहीं बची हैं। कवितावली में लंका-दहन का जैसा विशद वर्णन तुलसी ने किया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

सब विधि भरत सराहन जोगू

वाल्मीकि रामायण के अनुसार विवाह के समय दशरथ ने कैकेयी को उसके गर्भ-जात पुत्र को अपने उत्तराधिकारी के रूप में स्वीकृत करने का वचन दिया था; किन्तु ज्येष्ठ पुत्र राम का गुण-शील देखकर बाद में उन्हें अपना विचार बदलना पड़ा। कौशल्या जैसी सुशीला पत्नी के प्रति वे कभी पति के कर्त्तव्यों का पालन न कर सके। सुमित्रा उनका स्नेह पा चुकी थी और लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न का उनके उत्तराधिकारी होने का प्रश्न ही नहीं उठता था। कैकेयी उनके तन और मन की अधिकारिणी थी। यदि उसका पुत्र सिंहासन का अधिकारी होता तो कौशल्या का क्या होता?

राम में राजा होने के सभी गुण विद्यमान् थे। इन्हीं परिस्थितियों को सुलझाने के लिए भरत को ननिहाल भेज दिया गया; और राम के राज्याभिषेक की तिथि निश्चित करने में शीघ्रता कर युधाजित् और जनक की भी उपेक्षा की गई। गोस्वामी जी इन राजनीतिक ग्रन्थियों में उलझने नहीं गये। कैकेयी का राम के प्रति मातृत्व भाव दिखाकर और 'गई गिरा मति फेरि' का सहारा लेकर ही उन्होंने अपना प्रयोजन सिद्ध किया है।

वास्तव में कैकेयी ने पति की सत्य-प्रियता और अपने प्रति अनुराग की

भावना से लाभ नहीं उठाया है, अपने अधिकार भर चाहे हैं। भरत ने भ्रातृत्व प्रेम से राम के लिए राज्य नहीं छोड़ा है, अपने अधिकारों को ठोकर मारी है। अयोध्या राज्य के वास्तविक उत्तराधिकारी राम नहीं, भरत थे। कैकेयी और भरत के प्रति गोस्वामी जी के अत्याचार कुछ कम नहीं हैं। कथानक का रूप बदल देने पर भी भरत का त्याग उनकी आँखों के आगे नाचता रहा। अयोध्या काण्ड का अन्तिम सोरठा है—

भरत चरित करि नेमु, तुलसी जो सादर सुनहिं।
सीय राम पद पेमु, अवसि होइ भव रस बिरति॥

भरत का त्याग तुलसी भूल न सके। शायद इसी से भरत का चरित्र निखारने में उन्होंने मानस का सर्वश्रेष्ठ अंश (अयोध्या काण्ड) दे डाला। अयोध्या काण्ड के बाद कथावस्तु बहुत शीघ्रता से चलने का कारण यही है कि राम-राज्य का तत्व पहले ही समाप्त हो चुका था। गोस्वामी जी ने अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा का सदुपयोग भरत-चरित्र के विवेचन में किया है; किन्तु कैकेयी…?…?

× × ×

राम के वन-गमन का समाचार सुनकर भरत के सामने एक ही समस्या आई—

केहि बिधि होइ राम अभिषेकू। मोहिं अवकलत उपाय न एकू॥
एकउ जुगति न मन ठहरानी। सोचत भरतहिं रैन बिहानी॥

अन्त में उन्होंने राम को अयोध्या वापस बुला लाने का निश्चय किया। मार्ग में जाते हुए भरत के दर्शन कीजिए—

गवने भरत पयादेहिं पाए।

इसलिए कि—

राम पयादेहि पाय सिधाए। हम कहँ रथ गज बाजि बनाये॥

सिर भर जाउँ उचित अस मोरा। सबतें सेवक धरमु कठोरा॥
और—

झलका झलकत पायन कैसे। पंकज कोस ओसकन जैसे॥
प्रयाग में—

देखत स्यामल धवल हलोरे। पुलकि सरीर भरत कर जोरे॥

भरत 'निज धरम' त्यागकर भीख माँगते हैं—

अरथ न धरम न काम रुचि, गति न चहहुँ निरवान।
जनम जनम रति राम-पद, यह बरदानु न आन॥
जानहुँ राम कुटिल कर मोहीं। लोग कहबु गुरु साहिब द्रोही॥
सीता राम चरन रति मोरे। अनुदिन बढ़इ अनुग्रह तोरे॥

सुना आपने, त्रिवेणी के तीर पर जहाँ हर्ष (जिसका वैभव अयोध्या राज्य के सामने कुछ भी न था) किसी याचक को निराश नहीं करता था, वहीं अयोध्या का उत्तराधिकारी क्या भीख माँग रहा है? मेरे जैसे नास्तिक की आँखें भी भर आई हैं, लिखा नहीं जाता।

× × ×

राम मर्यादा-पुरुषोत्तम थे, विष्णु के अवतार थे। 'सुर-रंजन भंजन महि भारा' हेतु उन्होंने स्वर्ग ठुकराकर धरती की धूल छानना अच्छा समझा था। पर भरत मनुष्य थे, हाड़ मांस के बने मनुष्य। राम और भरत में कोई तुलना नहीं है; किन्तु भरत के समान और चरित्र है ही कौन, जिसे साथ रखकर उन्हें देखा जाय?

× × ×

वन-राज राम को देखिए—

राम वास बन संपति भ्राजा। सुखी प्रजा जनु पाइ सुराजा॥
सचिव बिरागु बिबेकु नरेसू। बिपिन सुहावन पावन देसू॥

भट जम नियम सैल रजधानी। सांति सुमति सुचि सुन्दर रानी॥
सकल अंग संपन्न सुराऊ। राम चरन आश्रित चित चाऊ॥

जीति मोहि महिपालु दल, सहित विवेकु भुवाल।
करत अकंटक राजु पुर, सुख संपदा सुकाल॥

और अवध-पति भरत—

जटा जूट सिर मुनिपट धारी। महि खनि कुस साँथरी सँवारी॥
असन बसन बासन व्रत नेमा। करत कठिन रिषिधरम सप्रेमा॥
भूषन बसन भोग सुख भूरी। मन तन बचन तजे तिन तूरी॥

सीता जी—

राम संग सिय रहति सुखारी। पुर परिजन गृह सुरति बिसारी॥
छिनु छिनु पिव बिधु बदन निहारी। प्रमुदित मनहुँ चकोर कुमारी॥

किन्तु माण्डवी ?...?...?

भारत यदि फिर कोई तुलसी जैसा महाकवि पैदा कर सके, तभी माण्डवी का चरित्र-निरूपण हो सकता है।

भरत क्या थे, यह जानने के लिए सीता जी की मनोदशा देखिए—

सीय असीस दीन्ह मन माँही। मगन सनेह देह सुधि नाहीं॥
कानन करउ जनम भर बासू। एहि तें अधिक न मोर सुपासू॥

चित्रकूट में अयोध्या के राज-मुकुट को गेंद बनाकर दो खिलाड़ी (भरत और राम) खेल रहे थे। दो में से कोई उसे लेना न चाहता था। भरत ने राम के सामने शर्तें रखीं—

सानुज पठइअ मोहिं बन, कीजिअ सबहिं सनाथ।
नतरु फेरिअहि बन्धु दोउ, नाथ चलौं मैं साथ॥

नतरु जाहिं बन तीनहुँ भाई। बहुरिय सीय सहित रघुराई॥
जेहि बिधि प्रभु प्रसन्न मन होई। करुना-सागर कीजिअ सोई॥

किन्तु राम को न लौटना था, न लौटे; अतः—

प्रभु करि कृपा पाँवरी दीन्ही। सादर भरत सीस धरि लीन्ही॥

भरत के भाग्य में इससे अधिक सुख बदा ही न था! वे करते क्या?

अभावों से तो सभी सन्तोष कर लेते हैं; जो भाव में भी अभाव की कल्पना कर उससे सन्तोष कर ले, वही वास्तविक मनुष्य है।

राम देवता हैं और भरत मनुष्य। देव के देवत्व की महत्ता मनुष्य के मनुष्यत्व के कारण है। मनुष्यत्व से भिन्न कोरे देवत्व का कोई मूल्य नहीं है।

तुलसी के पात्र

तुलसी के पात्र अपने 'टाइप' के अकेले हैं। राम-कथा पर अनेक ऋषि-महर्षियों ने कलम चलाई है। आज भी राम पर लिखा जा रहा है और भविष्य में भी यह क्रम चलता रहेगा; पर तुलसी के समान पात्रों का चित्रण कोई न कर सका। आगे भी कोई कर सकेगा, इसमें सन्देह ही है।

पीठ पर भारी बोझ लादे मजदूर सीढ़ियाँ चढ़ते समय कहता है—'जै बजरंग'; और अनरवत एक-एक करके सीढ़ियाँ चढ़ जाता है। जान पड़ता है, 'बजरंग' नाम में कुछ ऐसा प्रभाव है जो उसका बोझ कम कर देता है।

तुलसी के सभी पात्र राम-भक्ति में लीन हैं। नर और नारायण की तो बात ही क्या, रावण और मन्दोदरी तक राम-भक्ति में डूब-से गये हैं।

× × ×

युग के अनुरूप

(शाश्वत समस्याएँ)

जिनके लिए हमने फर्स्ट क्लास के डेढ़ टिकट और ४० रुपये प्रति दिन भत्ते की व्यवस्था की है, वही जब हमें थर्ड क्लास में भी स्थान नहीं दे पाते

और मिलने पर सीधे मुँह बात भी नहीं करते, तब हमारे मुँह से अनायास निकल पड़ता है—

प्रभुता पाइ काहि मद नाहीं।

प्रश्न उठता है कि हम तीन सौ वर्ष पुराने कवि को क्यों उदाहरणार्थ प्रस्तुत किया करते हैं? उत्तर स्पष्ट है। उन्होंने मानव की शाश्वत समस्याओं को अपनी कविता का विषय बनाया था। जब तक मानवता है, उसकी समस्याएँ हैं, तब तक तुलसी अमर रहेंगे।

तत्कालीन सामाजिक दशा के करुण चित्र भी हमें उनके काव्य में यत्र-तत्र मिलते हैं; यथा—

खेती न किसान को भिखारी को न भीख बलि,
बानिक को बारिज न चाकर को चाकरी।
जीविका विहीन लोग सीद्यमान सोच बस,
कहैं एक एकन सों 'कहाँ जाइ का करी'॥

× × ×

एक तो कराल कलि काल सूल मूल तामें
कोढ़ में की खाज सी सनीचरो है मीन की।
बेद धर्म दूरि गये, भूमि चोर भूप भये
साधु सीद्यमान जानि रीति पाप पीन की॥

× × ×

बादहिं शूद्र द्विजन सन, हम तुमसे कुछ घाटि।
जानहिं बेद सो विप्रवर, आँखि दिखावहिं डाटि॥

× × ×

नारि बिबस नर सकल गोसाईं। नाचहिं नर मरकट की नाईं॥

गोस्वामी जी का काव्य धर्म-काव्य है, राजनीति उनके उद्देश्य से परे है।

किन्तु कथावस्तु राजघराने की होने के कारण राजनीतिक सिद्धान्त भी उसमें आ ही गये हैं—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥

× × ×

मुखिया मुख सों चाहिये, खान पान को एक।
पालै पोसै सकल अँग, तुलसी सहित विवेक॥

निरंकुश राज-तंत्र के वातावरण में पले कवि ने जन-तंत्र का भी सपना देखा है—

जौ पाँचहि मत लागहि नीका। देउँ हरसि हिय रामहिं टीका॥

गोस्वामी जी ने राम-राज्य के रूप में आदर्श राज्य की सुन्दर कल्पना की है। विश्व के किसी दार्शनिक के मन में आदर्श राज्य की इससे सुन्दर कल्पना नहीं आ सकी है—

बयरु न कर काहू सन कोई। ... ... ॥

बरनाश्रम निज निज धरम, निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि, नहिं भय सोक न रोग॥

दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम-राज काहुहि नहिं ब्यापा॥
सब नर करहिं परसपर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती॥
... सपनेहु अघ नाहीं ... । राम भगति रत नर अरु नारी॥
अलप मृत्यु नहिं कवनेउ पीरा। सब सुन्दर सब बिरुज सरीरा॥
सब गुनग्य सब पण्डित ज्ञानी। ... ... ॥
फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन। ... ... ॥
खग मृग सहज बयरु बिसराई। सबन्हि परसपर प्रीति बड़ाई॥
अभय चरहिं बन करहिं अनन्दा। ... ... ॥
सरसिज संकुल सकल तड़ागा। अति प्रसन्न दस दिसा बिभागा॥

नारी-निन्दा

अमिय गारि गारेउ गरल, नारि कीन्ह करतार।
प्रेम बैर की जननि जुग, जानहिं बुध, न गँवारि॥

उस सन्त कवि को क्या पता था कि जिस देश को वह मानस दे रहा है, उसमें कभी 'नारी-स्वातन्त्र्य' का आन्दोलन भी उठेगा और 'हिन्दू कोड-बिल' में एक धारा 'तलाक' की भी रखी जायगी! तुलसी की नारी-निन्दा की उक्तियों पर चौंकनेवाली आधुनिक नारी ने कभी यह भी सोचने का कष्ट किया है कि तुलसी के प्रति नारी का व्यवहार कैसा था? पहली नारी जो तुलसी के जीवन में आई, वह उनकी माँ थी जिसने उन्हें त्याग दिया! दूसरी नारी एक दासी थी जिसने उनके लालन-पालन का भार लिया। चार-पाँच वर्ष बाद ही वह मर गई। नारी की ममता (?) ने तुलसी को दर-दर भटकने को विवश किया। तरुण होने पर तीसरी और अन्तिम नारी पत्नी के रूप में उनके जीवन में आई, जिसने उनकी वह खबर ली कि यदि आज का पति होता तो ज़हर ही खा लेता। यह था तुलसी के प्रति नारी का व्यवहार, जिसके बल पर वह उनसे सहानुभूति की आशा करती है। नारी से निरन्तर तिरस्कार पाते रहने पर भी तुलसी की नारी पात्रियों में शूपर्णखा के अतिरिक्त एक भी ऐसी पात्री नहीं है, जिसे बुरा कहा जा सके। कैकेयी और मन्थरा को भी 'गई गिरा मति फेर' कहकर उन्होंने ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया है।

तुलसी की नारी-निन्दा की कुछ उक्तियाँ इस प्रकार हैं—

नारि सहज जड़ अज्ञ।

× × ×

निज प्रतिबिम्ब बरुक गहि जाई। जानि न जाय नारि गति भाई॥

× × ×

सहज अपावनि नारि, पति सेवत सुभ गति लहइ।...

× × ×

अधम तें अधम अधम अति नारी।

× × ×

नारि निविड़ रजनी अँधियारी।

× × ×

अवगुन मूल सूलप्रद, प्रमदा सब दुख खानि।

× × ×

दारुन बैरी मीच के बीच बिराजति नारि।

(जन्म-कुण्डली में ६ठा, ७ वाँ और ८ वाँ स्थान शत्रु, स्त्री और मृत्यु का माना जाता है।)

तुलसी की नारी-निन्दा की कितनी ही सफाई क्यों न दी जाय, किन्तु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि कैकेयी को तुलसी ने निर्दोष जताकर भी जितना कोसा है, उतना कौशल्या और सुमित्रा को नहीं सराहा है।

काम तत्व की प्रधानता

भली भाँति विचार करने पर तुलसी के नारी-निन्दावाले कथन ठीक ही जान पड़ते हैं। अमेरिका के एक विद्वान् ने आँकड़ों के आधार पर बतलाया है कि पैंसठ प्रति शत स्त्रियाँ पर-पुरुषों से प्रेम करती हैं। फिर बेचारे तुलसी ने यह लिखकर क्या पाप किया कि—

राखिय नारि जदपि उर माँहीं। जुवती सास्त्र नृपति बस नाहीं॥

महर्षि वात्स्यायन ने स्त्रियों में काम तत्व पुरुषों की अपेक्षा अठ-गुना माना है। अचेतन मन के अद्वितीय समीक्षक फ्रायड भी वात्स्यायन से सहमत हैं। गोस्वामी जी ने लिखा है—

दीप-सिखा सम जुवति तन, मन जनि होसि पतंग।

× × ×

मातु पिता भ्राता हितकारी । मित प्रद सब सुनु राजकुमारी ॥
अमित दानि भर्ता बैदेही । अधम सो नारि जो सेव न तेही ॥
धीरज धरम मित्र अरु नारी । आपद काल परिखिअहि चारी ॥
वृद्ध रोग बस जड़ धन-हीना । अंध बधिर क्रोधी अति दीना ॥
ऐसेहु पति कर किय अपमाना । नारि पाव जमपुर दुख नाना ॥
एकइ धर्म एक व्रत नेमा । काय वचन मन पति पद प्रेमा ॥
जग पतिव्रता चारि बिधि अहहीं । बेद, पुरान, संत सब कहहीं ॥
उत्तम के अस बस मन माहीं । सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं ॥
मध्यम पर पति देखइ कैसे । भ्राता पिता पुत्र निज जैसे ॥
धरम बिचारि समुझि कुल रहई । सो निकिष्ट त्रिय श्रुति असकहई॥
बिनु अवसर भय तें रह जोई । जानेहु अधम नारि जग सोई ॥
पतिवंचक पर पति रति करई । रौरव नरक कलप सत परई ॥
छन सुख लागि जनम सत कोटी । दुख न समुझ तेहि सम को खोटी॥
बिनु श्रम नारि परम गति लहई । पतिव्रत धरम छाँड़ि छल गहई ॥
पति प्रतिकूल जनम जहँ जाई । बिधवा होइ पाइ तरुनाई ॥

गोस्वामी जी ने नारी के कर्त्तव्यों की ही व्यवस्था की है; उसके अधिकारों की ओर से वे उदासीन रहे हैं । कर्त्तव्य और अधिकार का पारस्परिक सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि इनमें से किसी की उपेक्षा नहीं की जा सकती । किन्तु यह तो राजनीति की बात हुई । भारतीय विवाह-प्रणाली धर्म का एक अंग है । पत्नी का दूसरा नाम सहधर्मिणी है । विवाह हमारे यहाँ एक संस्कार माना जाता है—यह सम्बन्ध जन्म-जन्मान्तर का होता है । कर्त्तव्य और अधिकार की बात तो तब उठती है, जब विवाह को सामाजिक समझौता भर माना जाय । भारतीय पति-पत्नी तो अपना अस्तित्व एक दूसरे में खो देते हैं । तन मिलने के पहले भारतीय दम्पति का मन मिलता है । अतः भारतीय दाम्पत्य जीवन के अधिकार ही कर्त्तव्य हैं और कर्त्तव्य ही अधिकार । इन्हें अलग करने के लिए कोई सीमा-रेखा नहीं खींची जा सकती ।

भ्राता पिता पुत्र उरगारी। पुरुष मनोहर निरखत नारी॥
होइ बिकल सक मनहिं न रोकी। जिमि रविमन द्रव रबिहिं बिलोकी॥

नारी के अनन्य आराधक 'प्रसाद' जी भी कह गये हैं—

नारी के नयन, त्रिगुणात्मक ये सन्निपात,
किसको प्रमत्त नहीं करते।

काम-भावना की प्रधानता तो नारी में होती ही है। गोस्वामी जी को इस कटु सत्य की चर्चा के लिए दोष न देना चाहिए।

माया का प्रतीक

गोस्वामी जी भक्त कवि थे। नारी उनके काव्य में माया के प्रतीक के रूप में आई है—

नारि विश्व-माया प्रगट································।

× × +

तात तीन अति प्रबल खल, काम क्रोध अरु लोभ।
मुनि विज्ञान धाम मन, करहिं निमिष महँ छोभ॥
लोभ के इच्छा दम्भ बल, काम के केवल नारि।
क्रोध के परुष बचन बल, मुनिवर करहिं बिचारि॥

× × ×

जप तप नेम जलासय झारी। होइ ग्रीषम सोखइ सब नारी॥

माया ही जीव और ब्रह्म के बीच दीवार का काम करती है। साधना और भक्ति के पथ की सबसे बड़ा शत्रु माया है। माया की चाहे जितनी निन्दा की जाय, थोड़ी है। प्रतीक अपनी रुचि पर निर्भर होते हैं। जायसी ने अलाउद्दीन और नागमती को माया का प्रतीक माना; तुलसी ने नारी मात्र को। इसमें बुरा मानने की कोई बात नहीं है।

मर्यादा के कवि होने के कारण और मर्यादा की रक्षा के लिए ही तुलसी ने नारी-स्वातन्त्र्य का विरोध किया है। पुरुष का पाप एक वीभत्स मुस्कराहट के साथ समाप्त हो जाता है; परन्तु नारी को जन्म भर उसका अभिशाप भोगना पड़ता है। जन्म भर ही क्यों, न जाने कितनी अभागिनी बहनें अपनी दादी-परदादी तक के किसी छोटे-मोटे पाप का मूल्य ताँबे और निकल के टुकड़ों पर शरीर वेचकर चुका रही हैं। कौन कह सकता है कि उनकी सन्तानें कब उस पाप-पंक से निकल सकेंगी! तुलसी ने तो मूक साधक की भाँति संकेत भर कर दिया है—

महावृष्टि चलि फूट कियारी। जिमि स्वतन्त्र होइ बिगरहिं नारी॥

मर्यादा का उल्लंघन कर पुरुष भी तुलसी की घृणा का पात्र बना है। कवि ने उसके लिए भी स्वर्ग के दरवाजे बन्द कर दिये हैं—

सुभ गति पाव कि पर-तिय-गामी?

× × ×

अनुज-बधू भगिनी सुत नारी। सुनु सठ कन्या ये सम चारी।
इन्हहिं कुदृष्टि बिलोकै जोई। ताहि बधे कछु पाप न होई॥

× × ×

जो आपन चाहइ कल्याना। सुजस सुमति सुभ गति सुख नाना॥
सो पर-नारि लिलार गोसाईं। तजइ चौथ के चन्द की नाईं॥

भावावेश में आकर तुलसी ने लोक-मर्यादा की कभी उपेक्षा नहीं की। कबीर की विफलता से उन्होंने लाभ उठाया। भारतीय इतने अधिक परम्परा-प्रेमी हैं कि प्रत्येक अगले पग पर पीछे मुड़कर देख लेते हैं कि कहीं लोक-लीक से दूर तो नहीं जा रहे हैं। 'बच्चन' की मधुशाला में भी कहा है—

वेद विहित यह रस्म न छोड़ो वेदों के ठेकेदारो।
नई नहीं है, युग-युग से पुजती आई है मधुशाला॥

गोस्वामी जी ने जो कुछ कहा, निगमागम-सम्मत कहा। प्रचलित कुरीतियों का विरोध भी यही कहकर किया कि वे वेद-विरुद्ध हैं। राम के राज्याभिषेक जैसे पुण्य कार्य के लिए भी 'पाँचइ मत' लेना अनिवार्य समझा। यदि कोई भारतीय संस्कृति का पूरा चित्र एक स्थान पर देखना चाहे तो उसे मानस ही पढ़ना होगा।

नारी का आदर्श

कहति न सीय सकुच मन माहीं। इहाँ बसब रजनी भल नाहीं॥

इसलिए नहीं कि राम के बिना उनसे रहा नहीं जाता था, वरन् इसलिए कि बनवासी राम की पत्नी राज-वैभव का सुख कैसे भोगे? पत्नीत्व का चरम उत्कर्ष सीता जी हैं और मातृत्व की कौशल्या। सुमित्रा कर्त्तव्य-परायण माँ के रूप में आई हैं। ऊर्मिला के चरित्रांकन के लिए गोस्वामी जी के पास अवकाश न था; किन्तु उनकी मूक वेदना बहुत हृदय-ग्राही है।

कवि ने पत्नीत्व का आदर्श सीता के द्वारा बन-गमन के अवसर पर प्रस्तुत कराया है—

जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहि तरनिहु तें ताते॥
तनु धनु धामु धरनि पुर राजू। पति बिहीन सब सोक समाजू॥
प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं। मो कहुँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं॥
जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी॥
नाथ सकल सुख साथ तुम्हारे। सरद बिमल बिधु बदनु निहारे॥

खग मृग परिजन नगरु बनु बलकल बिमल दुकूल।
नाथ साथ सुर सदन सम परनसाल सुख मूल॥

अरण्य काण्ड में गोस्वामी जी ने अनुसूया के मुख से नारी धर्म की इस प्रकार चर्चा कराई है—

मातु पिता भ्राता हितकारी। मित प्रद सब सुनु राजकुमारी॥
अमित दानि भर्ता बैदेही। अधम सो नारि जो सेव न तेही॥
धीरज धरम मित्र अरु नारी। आपद काल परिखिअहि चारी॥
बृद्ध रोग बस जड़ धन-हीना। अंध बधिर क्रोधी अति दीना॥
ऐसेहु पति कर किय अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना॥
एकइ धर्म एक ब्रत नेमा। काय वचन मन पति पद प्रेमा॥
जग पतिब्रता चारि बिधि अहहीं। बेद, पुरान, संत सब कहहीं॥
उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥
मध्यम पर पति देखइ कैसे। भ्राता पिता पुत्र निज जैसे॥
धरम बिचारि समुझि कुल रहई। सो निकिष्ट त्रिय श्रुति असकहई॥
बिनु अवसर भय तें रह जोई। जानेहु अधम नारि जग सोई॥
पतिवंचक पर पति रति करई। रौरव नरक कलप सत परई॥
छन सुख लागि जनम सत कोटी। दुख न समुझ तेहि सम को खोटी॥
बिनु श्रम नारि परम गति लहई। पतिब्रत धरम छाँड़ि छल गहई॥
पति प्रतिकूल जनम जहँ जाई। बिधवा होइ पाइ तरुनाई॥

गोस्वामी जी ने नारी के कर्त्तव्यों की ही व्यवस्था की है; उसके अधिकारों की ओर से वे उदासीन रहे हैं। कर्त्तव्य और अधिकार का पारस्परिक सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि इनमें से किसी की उपेक्षा नहीं की जा सकती। किन्तु यह तो राजनीति की बात हुई। भारतीय विवाह-प्रणाली धर्म का एक अंग है। पत्नी का दूसरा नाम सहधर्मिणी है। विवाह हमारे यहाँ एक संस्कार माना जाता है—यह सम्बन्ध जन्म-जन्मान्तर का होता है। कर्त्तव्य और अधिकार की बात तो तब उठती है, जब विवाह को सामाजिक समझौता भर माना जाय। भारतीय पति-पत्नी तो अपना अस्तित्व एक दूसरे में खो देते हैं। तन मिलने के पहले भारतीय दम्पति का मन मिलता है। अतः भारतीय दाम्पत्य जीवन के अधिकार ही कर्त्तव्य हैं और कर्त्तव्य ही अधिकार। इन्हें अलग करने के लिए कोई सीमा-रेखा नहीं खींची जा सकती।

तुलसी की भाषा एवं शैली

सरल भाषा में इस सन्त कवि ने अपने भावना-प्रसून आराध्य के चरणों पर समर्पित किये हैं। उसे अपने कवित्व पर गर्व नहीं है, वह तो उसे 'साबर मंत्र' समझता है। सन्तोष इतना ही है कि 'यामें चरित कथा रघुनायक' है। मानस आज भारतीयों का कण्ठ-हार बन चुका है। शिक्षित अशिक्षित सभी उससे समान रूप से आनन्द पाते हैं। अशिक्षित समाज भी 'राम नाम कहु एकहि बारा' में 'बारा' का अर्थ उर्दू का 'बड़ा' लगाकर उसका सम्बन्ध 'जनम जनम मुनि जतन कराहीं' की 'कराही' से जोड़ लेता है। बात हँसी की अवश्य लगती है; पर इस गलत अर्थ और उस सही अर्थ के भावार्थ में अन्तर नहीं आता। ऋषियों की जन्म भर की उपासना का फल 'राम' नाम है। यही तो कवि का भी तात्पर्य है। मानस न जाने कितने विद्वानों की जीविका का साधन बना है। इसके एक एक शब्द और एक एक मात्रा पर जितना अधिक विचार किया गया है, उतना विश्व की किसी कृति पर नहीं।

तुलसी के पहले कविता के लिए दो भाषाएँ प्रचलित थीं—अवधी और ब्रज भाषा। उनका दोनों भाषाओं पर समान अधिकार था। प्रबन्ध काव्य के अनुरूप अवधी थी और अपने माधुर्य गुण के कारण गेय पदों के लिए ब्रज-भाषा। अवधी में जायसी का 'पदमावत' सफलता भी पा चुका था।

गोस्वामी जी ने पश्चिमी अवधी में रामचरित मानस लिखा और पूर्वी अवधी में राम लला नहछू, पार्वती मंगल और जानकी मंगल। विनय पत्रिका, गीतावली, श्रीकृष्ण गीतावली, कवितावली और दोहावली में ब्रज-भाषा का प्रयोग हुआ है। भोजपुरी, बुन्देलखण्डी और राजस्थानी आदि प्रादेशिक भाषाओं के शब्दों का भी यत्र-तत्र प्रयोग हुआ है। भाषा को उन्होंने अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में ग्रहण किया है; इसी से भाषा-सम्बन्धी छोटी-मोटी भूलों से उनका काव्य अछूता नहीं है। यथा—

प्रस्न तुम्हारि मोहिं अति प्यारी ।❀

भावानुकूल भाषा बराबर बदलती रहती है। राम और सीता के प्रथम मिलन का 'कंकन किंकिनि नूपुर धुनि' का कवि युद्ध-भूमि में पहचाना ही नहीं जाता। ऐसे स्थल पर वह विद्यापति की भाँति कोमल कान्त पदावली छोड़कर चारण-कालीन शैली अपना लेता है—

भये क्रुद्ध जुद्ध विरुद्ध रघुपति सेन सायक कसमसे।
कोदण्ड धुनि अति चंड सुनि मनुजाद सब मारुत ग्रसे॥
मन्दोदरी उर कंप कंपित कमठ भू भूधर त्रसे।
चिक्करहिं दिग्गज दसन गहि गहि, देखि कौतुक सुर हँसे॥

× × ×

डिगति उर्वि अति गुर्वि, सर्व पब्बे समुद्र सर।
काल बधिर तेहि काल, बिकल दिगपाल चराचर॥
दिग्गयंद लरखरत, परत दसकंठ मुक्ख भर।
सुर विमान हिम भानु भानु संघटति परस्पर॥
चौंके बिरंचि संकर सहित, कोल कमठ अहि कलमल्यो।
ब्रह्मांड खंड किय चंड धुनि जबहिं राम सिव धनु दल्यौ॥

धनुष यज्ञ में व्यर्थ के शब्दाडम्बर से कोसों दूर, वीर रस का सरस भाषा में सुन्दर परिपाक हुआ है—

जो राउर अनुसासन पाऊँ। कन्दुक इव ब्रह्माण्ड उड़ाऊँ॥
काँचे घट सम डारौं फोरी। ... ... ।

गूढ़तम दार्शनिक गुत्थियाँ भी कवि ने इतनी सरल और सुबोध भाषा में

❀ कुछ लोग 'मरम बचनु सीता जब बोला' को भी अशुद्ध मानते हैं; पर यहाँ वस्तुतः 'ने' विभक्ति का लोप मात्र है।

सुलझाई हैं कि वे साधारण पाठकों तक के हृदय में घर कर लेती हैं। विभीषण की इस जिज्ञासा पर—

नाथ न रथ नहिं तनु पद-त्राना। केहि विधि जितब बीर बलवाना॥

राम उत्तर देते हैं—

सुनहु सखा कह कृपा-निधाना। जेहि जय होइ सो स्यंदन आना॥
सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका॥
बल बिबेक दम परिहित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे॥
ईस भजनु सारथी सुजाना। बिरति चरम सन्तोष कृपाना॥
दान परसि बुध सक्ति प्रचंडा। बर बिज्ञान कठिन कोदंडा॥
अमल अचल मन भौन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना॥
कवच अभेद बिप्र गुरु पूजा। एहि सम बिजय उपाय न दूजा॥
सखा धरम मय अस रथ जाके। जीत न कहुँ न कतहुँ रिपु ताके॥

ऐसे कुछ और उदाहरण 'तुलसी का दार्शनिक-चिन्तन' शीर्षक के अंतर्गत दिये गये हैं।

विनय-पत्रिका को छोड़कर तुलसी के शेष सम्पूर्ण काव्य की भाषा इतनी सरल है कि अन्य-भाषा-भाषी भी उसे सरलता से समझ सकते हैं। अलंकारों का प्रयोग विषय को बोध-गम्य बनाने के लिए ही हुआ है।

विदेशी भाषाओं के शब्द

उस समय की मुख्य विदेशी भाषाओं (अरबी-फारसी) के प्रचलित शब्दों का प्रयोग भी गोस्वामी जी ने धड़ल्ले से किया है।

गनी, हुनर, हवाले, खसम, सही, साहब, खलक, हलक, खासी, सबील, कलई, बकुचौ, ताज, गरीब नेवाज, जमात, सालिम, गुमान, निसान, नेब, जहाज, जुबान, कमान, खुआरू, सहनाई, बजार, देवान, निवाजिहैं,

कसाई, हुसियार, खवास, दरबार, दाम, दाग, खलल, खरगोस, बेगार आदि इसी प्रकार के शब्द हैं।

तुलसी के छन्द

उस समय तक कविता में जितने छन्द प्रचलित थे, लगभग सभी में गोस्वामी जी ने सफलतापूर्वक रचनाएँ की हैं। अकेले मानस में आठ प्रकार के मात्रिक (दोहा, सोरठा, चौपाई, चौपैया, तोमर, डिल्ला, त्रिभंगी और हरि-गीतिका) और ग्यारह प्रकार के वर्णिक (इन्द्रवज्रा, तोटक, नग-स्वरूपिणी, भुजंगप्रयात, मालिनी, रथोद्धता, वसन्ततिलका, वंशस्थ, (शार्दूल विक्री-ड़ित और स्त्रग्धरा) कुल उन्नीस प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ है। वर्णिक वृत्तों का प्रयोग संस्कृत में ही किया है। कवितावली में कवित्त, छप्पय, सवैया और झूलना छन्दों का प्रयोग हुआ है और रामलला नहछू में सोहर (लोक गीत) का।

तुलसी की संदर्भण कला

मधु-मक्खी मीठे-कड़वे सभी तरह के फूलों का रस लेकर मधु बनाती है। फूलों का कुछ बिगड़ता नहीं, पर समाज को एक उपयोगी वस्तु मिल जाती है। मधु चखनेवाले को पता भी नहीं चलता कि किन फूलों से रस इकट्ठा किया गया है। गोस्वामी जी इसी प्रकार के मधुकर थे। 'नाना पुराण निगमा-गम' निचोड़कर जो मधु उन्होंने दिया, उसके लिए मानवता सदा उनकी ऋणी रहेगी। अकेले अयोध्या काण्ड में ही लगभग पाँच सौ ग्रंथों का तत्व भरा पड़ है।

मानस की कथा-वस्तु का अधिकांश वाल्मिकि रामायण, अध्यात्म रामा-यण, योगवाशिष्ठ, और भुशुण्डि रामायण से लिया गया है। साथ ही सती चरित्र, काम-दहन, पार्वती मंगल, नारद-मोह, भानुप्रताप की कथा आदि प्रासंगिक कथाएँ भी चलती रहती हैं। किन्तु पाठक यह नहीं कह सकते की कवि हमें कथा-वस्तु से दूर ले जा रहा है।

भागवत से गोस्वामी जी अधिक प्रभावित हुए हैं। मानस के सुन्दरतम स्थलों की प्रेरणा उन्हें भागवत से ही मिली है। वर्षा-वर्णन, सत्संग-महिमा, धनुष-यज्ञ में राम का रूप, शरद्-वर्णन, उत्तर काण्ड में भगवान का विराट स्वरूप, कलियुग-वर्णन सभी थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ भागवत से ही आये हैं। शिवपुराण से अनुसूया के उपदेश और गीता से भगवान का अलौकिक स्वरूप लिया गया है। नीति के अधिकतर दोहे पंचतंत्र, चाणक्य-नीति और शुक्र-नीति के हैं। इस प्रकार हम तुलसी को कवि से अधिक सफल संकलनकर्त्ता कह सकते हैं। पर जहाँ मौकिलता नहीं है, वहाँ भी उनका व्यक्तित्व खूब निखरा है। आवश्यकतानुसार उन्होंने संकलनों में भी पर्याप्त संशोधन और परिवर्द्धन किये हैं।

काव्य का उद्देश्य

मानस का उद्देश्य कवि ने 'स्वान्तः सुखाय' बताया है, किन्तु इसके पीछे कुछ अन्य उद्देश्य भी छिपे हैं। वे स्वयं चाहते थे कि इसे 'गावहिं सुनहिं सदा नर नारी'। उनका विश्वास था कि 'जे गावहिं ये चरित सँभारे' उन्हें अवश्य मुक्ति मिल जायगी।

दूसरे शब्दों में तुलसी 'कला कला के लिए' के थोथे सिद्धान्त के समर्थक न थे। उनके सन्तोष भर को विनय पत्रिका ही बहुत थी। पर वे तो राम-कथा के छल से माया में पड़े हुए जीवों को त्राण का मार्ग बताना चाहते थे। उनका सब से बड़ा उद्देश्य था—लोक-कल्याण।

मुगल राज्य का वैभव तुलसी को आकर्षित न कर सका। रहीम उनके मित्र थे। यदि वे चाहते तो सहज में अकबर के नवरत्नों में स्थान पा सकते थे। पर उन्हें भौतिक सुख अभीष्ट न था। तुलसी ने जो कुछ लिखा, नारायण के लिए लिखा। मित्रता से प्रेरित होकर टोडर के लिए ये चार दोहे उन्हें लिखने पड़े थे—

> चार गाँव को ठाकुरो, मन को महा महीप।
> तुलसी या कलि काल में, अथये टोडर दीप॥ १॥

तुलसी राम सनेह को, सिर धरि भारी भार।
टोडर काँधा ना दियो, अब कहि रहे उतार ॥ २ ॥
तुलसी उर थाला विमल, गुन गन टोडर बाग।
ये दोउ नैननि सींचिहौं, समुझि समुझि अनुराग ॥ ३ ॥
राम धाम टोडर गये, तुलसी भये असोच।
जियबो मीत पुनीत बिन, यहै जानि संकोच ॥ ४ ॥

तुलसीदास का झोला

एक जन-श्रुति है—

एक दिन गोस्वामी जी किसी मन्दिर में पूजा-पाठ कर रहे थे। वहीं संयोग से उनकी पत्नी रत्नावली भी उपासनार्थ आ पहुँची। गोस्वामी जी ने तो उसे नहीं पहचाना; किन्तु उसने इन्हें पहचान लिया। थोड़ी देर बाद वह नमक लेने के बहाने इनके पास आई। गोस्वामी जी ने अपने झोले की ओर संकेत किया। कुछ क्षण बीते होंगे कि उसे हल्दी की आवश्यकता पड़ी। वह भी उसी तरह झोले में मिल गई। धीरे-धीरे उसके माँगने पर मिर्च, मसाला, दाल, चावल सभी कुछ उस छोटे से झोले से निकल आया। अन्त में उसने कहा—"महाराज, जब सब-कुछ आपके झोले में था ही, तो फिर इस अभागिनी को क्यों दूर कर दिया? इसे भी वहीं स्थान दीजिए।" गोस्वामी जी ने झोला फेंकते हुए कहा—यह तुम्हारी दूसरी शिक्षा है!

इस जन-श्रुति में सत्य कितना है, यह नहीं कहा जा सकता। किन्तु यदि इस घटना को रूपक ही मान लें तो यह रूपक भी बहुत सुन्दर होगा। सच पूछिए तो गोस्वामी जी का 'मानस' ही उनका वह झोला है जो वे इस संसार के लोगों के लिए छोड़ गये हैं। धर्म, नीति, विज्ञान, राग, भोग जो कुछ आप ढूँढ़ना चाहें, वह सब आपको इसमें मिल जायगा। वे अपना झोला

सहृदयों को दे गये हैं। वे तो सन्त थे, मानवीय बन्धनों से ऊपर उठ चुके थे—उन्हें इसकी क्या जरूरत थी !

राम-कथा का सांग रूपक

एक था राजा। उसकी तीन रानियाँ थीं—पहली सुशीला, दूसरी शक्ति और तीसरी माधुरी।

एक था पिता। उसके चार पुत्र थे—पहला शील, दूसरा स्नेह, तीसरा शौर्य और चौथा श्रेय।

राजा माधुरी से प्रेम करता था; और पिता शील को चाहता था।

चारों पुत्रों का परिणय हुआ—पहले का सुषमा के साथ, दूसरे का साधना के साथ, तीसरे का वेदना के साथ और चौथे का कामना के साथ।

माधुरी रानी अपनी दासी के बहकावे में आ गई, जिसके फल-स्वरूप स्नेह को राज्य मिला और शील को चौदह वर्षों का बनवास।

सुषमा और शौर्य ने भी शील के साथ वन की राह ली। उस समय स्नेह ननिहाल में था। जब उसे सब बातें ज्ञात हुईं, तो उसे बहुत रोना आया।

वनवासियों को वापस लाकर वह स्वयं वन जाने की सोचने लगा पर उसके किये कुछ हो न सका—वह जल में रहकर भी प्यासा था !

वन में माया ने शौर्य और शील को अपनी ओर आकर्षित करना चाहा; किन्तु उनके द्वारा वह नकटी बनाकर छोड़ दी गई।

माया के भाई मोह ने बदले की भावना से सुषमा को हर लिया। शील ने अपने सहायकों की सहायता से मोह का नाश किया। सुषमा उसे फिर मिल गई।

चौदह वर्षों की अवधि बीतने पर वे तीनों घर लौट आये। धरती हँस रही थी, आकाश फूल बरसा रहा था।

पूर्वी

पिउ की बानी ना बोल पपिहरा
घन आये घनश्याम दूर हैं।
हिरदय में बसी मोहिनी मूरति
पर पलकन से श्याम दूर हैं।

'जोति में जोति मिला' जा मोहन
तरस रहीं दरसन बिनु अँखियाँ।
बने नयन दोउ सावन भादों
पिय सँग झूल रहीं सब सखियाँ।

'पुरब जनम को कौल' निभाओ तुमसे आस बड़ी।
'सेज सुखमणा मीराँ सोवे, सुभ है आज घड़ी'॥

प्रेम हम दुनियाँवालों के लिए नहीं है। वह तो स्वर्ग की विभूति है। कोई पागल, जिसे शायद स्वर्ग से जमीन ही अधिक प्रिय थी, प्रेम को स्वर्ग से उठा लाया होगा। किन्तु दुनियाँ में इसकी बेल मुरझा जाती है। यदि हम स्वर्ग के इस पौधे को यहाँ लगाना ही चाहें तो इसे निरन्तर आँसुओं से सींचना होगा और हिचकियों से थपकियाँ देनी होंगी।

आश्चर्य की बात है कि जोधपुर के संस्थापक राठौर राजा राव जोधा जी की प्रपौत्री, इतिहास-प्रसिद्ध वीर जयमल की (चचेरी) बहन और राणा साँगा की पुत्र-वधू में इतनी करुणा कहाँ से आ गई! भरे-पूरे संसार में जन्म लेकर भी मीराँ सदा आँसुओं की लड़ियाँ पिरोती रही—गिरिधर नागर के चरणों पर चढ़ाने को।

मीराँ के काव्य में पाण्डित्य या दर्शन नहीं है। हाँ, उसकी कविता में करुणा मानो साकार हो उठी है। इस मूर्त्तमती करुणा को मीराँ ने कल्पना के रंगों से सजाने का प्रयास नहीं किया है; उसके चित्र आँसुओं से ही धुलकर इतने पवित्र हो गये हैं कि सहज में मन मोह लेते हैं। मीराँ का उद्देश्य कविता करना नहीं था। 'मिलन की साध' जब हृदय में समा न पाती थी, तब कण्ठ से फूट पड़ती थी; और भक्त उसे लिपि-बद्ध कर लेते थे। मीराँ को क्या पता था कि मेरे यही भावना-प्रसून हिन्दी साहित्य की अमर निधियाँ हैं!

पाँच वर्ष की अवस्था में माँ और बीस वर्ष की अवस्था में पति को खोकर भी मीराँ ने संसार में बहुत-कुछ पा लिया था। भौतिक आकर्षण उसके किसी काम के न थे—

ऐसे वर को क्या वरूँ जो जनमे औ मर जाय।
वर वरियो गोपाल को म्हारो चुड़लो अमर हो जाय॥

लेकिन वह सोचती—श्याम मुझे क्यों अपनाने लगे! मन ने सन्देह किया—

मैं मैली पिय ऊजरो मिलणा कैसे होय।

अतः उसने निश्चय कर लिया—

या तन को दियना करौं मनसा करौं बाती हो।
तेल भराओं सनेह का बारौं सारी राती हो॥

अतः एक दिन उसने स्वप्न में श्याम से ब्याह कर ही लिया—

माई री म्हाँने सपने वरी गोपाल।
राती पीती चुनड़ी ओढ़ी, मेंहदी हाथ रसाल॥

सूर की उच्छृंखलता, तुलसी की मर्यादा, बिहारी की मादकता, देव की अश्लीलता और घनानन्द की पिपासा से मीराँ का काव्य बिलकुल निराला है। हिन्दी के अन्य कवियों को अपने हृदय की भावनाएँ व्यक्त करने के लिए किसी को माध्यम बनाना पड़ा है। नारी होने के नाते मीराँ को इस माध्यम की आवश्यकता न पड़ी। मीराँ के मिलन की आकुलता राधा-कृष्ण के मिलन की आकुलता नहीं, मीराँ-कृष्ण के मिलन की आकुलता है।

गिरिधर नागर के चरणों में सर्वस्व समर्पित कर देने पर भी स्त्री-सुलभ लज्जा मीराँ न छोड़ सकी—आत्म-गोपन का भाव बना ही रहा। यही कारण है कि प्रेम की पीर की इस दीवानी गायिका के गीतों में सात्विक लक्षणों (स्वेद, कम्प, वैवर्ण्य, रोमांच आदि) का भी उल्लेख नहीं मिलता—

उमग्यो इन्द्र चहूँ दिसि बरसै, दामिणि छोड़ी लाज।
धरतो रूप नवा नवा धरिया, इन्दु मिलण के काज॥

× × ×

उड़त गुलाल लाल भयो अम्बर, बरसत अंग अपार रे।
घट के पट सब खोल दिये हैं, लोक-लाज सब डार रे॥

× × ×

ऊँची अटरिया लाल केवड़िया निर्गुण सेज बिछी।
पँचरंगी झालर सुभ होवै फूलन फूल कली।

बाजूबन्द लै कडुला सोहै मोतियन माँग भरी।
सेज सुखमणा मीराँ सोवै शुभ है आज घड़ी।

आँसुओं की बाढ़ में भी मीराँ ने लोक-मर्यादा का सदैव ध्यान रखा। वेदना होंठों तक ही आकर रुक गई—

जाओ हरि निरमोहड़ारे, जाणी थारी प्रीति।

× × ×

आवण कहि के अजहुँ न आये, जिवड़ो अति उकलावै।
तुम दरसण की आस रमैया, कब हरि दरस दिखावै॥

× × ×

दरस बिण दूखन लागे नैन।
सबद सुनत मेरी छतिया काँपै मीठे लागैं बैण॥
एक टकटकी पंथ निहारूँ, भई छमासी रैण।
मीराँ के प्रभु कब रे मिलोगे, दुख मेटण सुख दैण॥

श्याम के प्रति उसकी खीझ भी कम नहीं है—

डारि गयो मनमोहन फाँसी।
आँवा की डालि कोइल इक बोलै, मेरो मरण अरु जग केरि हाँसी॥

इसी खीझ के फल-स्वरूप कभी-कभी वह पपीहे पर भी बरस पड़ती है—

पपइया रे पी की बोली न बोल।

और कभी प्रसन्न होकर कहती है—

तेरा सबद सुहावणा रे जो पिय मेला आज।
चोंच मढ़ाऊँ थारी सोवनी रे तू मेरे सिर-ताज॥

मीराँ को वही वेश-भूषा प्रिय है जिस पर श्याम रीझें—

कहो तो मोतियन माँग सँवारूँ कहो छिटकाऊँ केस।

× × ×

जोई भेस साहब रीझया, सोई भेस धारणा।
चीर को फारूँ करूँगी गल कंथा रहूँगी बैरागण होइ री।
चुरिया फोरूँ माँग पखेरूँ कजरा को डारूँ धोइ री॥

यदि श्याम पति है तो मीराँ पत्नी, श्याम प्रेमी है तो मीराँ प्रेमिका; और यदि श्याम जोगी है तो मीराँ जोगिन। प्रत्येक दशा में वह श्याम की है। मीराँ की कुछ कविताओं में 'जोगी' शब्द आ जाने से कुछ भ्रमात्मक धारणाएँ फैली हैं; किन्तु वास्तविकता यह है कि 'जोगी' शब्द श्याम के लिए ही आया है—

तेरो मरम नहिं पायो रे जोगी!

× × ×

जोगियाड़ी प्रीतड़ी है दुख डारो मूल।
हिल मिल बात बनावत मीठी पीछे जावत भूल॥

× × ×

जोगी मत जा मत जा मत जा, पाँव पड़ूँ मैं तेरे॥
प्रेम भगति को पैंडो ही न्यारो, हम कूँ गैल बता जा।
अगर चन्दन की चिता जलाऊँ अपने हाथ जला जा॥
जल बल भई भस्म की ढेरी अपने अंग लगा जा।
मीराँ कहै प्रभु गिरधर नागर जोति में जोति मिला जा॥

× × ×

जोगिया कहाँ गया नेहड़ी लगाय।

भाषा-शैली

मीराँ की भाषा राजस्थानी है, किन्तु उसमें चन्द की रूक्षता के स्थान पर जयदेव का माधुर्य है। ब्रज और गुजराती के शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। मीराँ का सम्पूर्ण काव्य मुक्तक और गेय पदों में है।

अलंकार—भावनाओं के प्रवाह में अलंकारों के लिए स्थान नहीं होता। मीराँ की कविताओं में अलंकार अपने स्वाभाविक रूप में ही आये हैं, जबरदस्ती गढ़कर लाये हुए रूप में नहीं।

अनुप्रास—सूनो गाँव, देस सब सूनो, सूनी सेज अटारी।
समरथ सरण तुम्हारी सइयाँ सरब सुधारण काज।

उपमा—जळ विनु कमल, चन्द बिन रजनी,
ऐसे तुम देख्याँ बिन सजनी,
घायल ज्यूँ घूमूँ सदा री।

उत्प्रेक्षा—कुण्डल की अलक झलक कपोलन पर धाई।
मनो मीन सरवर तजि, मकर मिलन आई॥

रूपक—अँसुवन जल सींच सींच प्रेम बेलि बोई।
अतिशयोक्ति—गिणताँ गिणताँ घसि गई रेखा आँगुरियाँ की सारी।
विभावना—बिन करताल पखावज बाजे, अणहद की झनकार रे।
उदाहरण—तुम बिच हम बिच अन्तर नाहीं जैसे सूरज घामा।

रीति-काल

मोहन की माधुरी जब मैथिल-कोकिल विद्यापति के हृदय में न समा सकी, तब उनका कंठ फूटा और उत्तर भारत उस माधुरी से भींग उठा। आगे चलकर सूर ने उसके दो भाग कर दिये—प्रथम मुरलीधर की बाल-लीलाएँ और द्वितीय उनके लीला-विलास। श्रृंगार में यदि अपनी कोई पवित्रता है तो वह उसका वात्सल्य है। रीति-काल के कवि ने सूर के लीला-विलास को ही अपनी कविता का विषय बनाया।

काव्य की शास्त्रीय विवेचना रीति-काल में अपने चरम उत्कर्ष तक पहुँच चुकी थी। प्रायः सभी बड़े कवियों ने लक्षण ग्रंथ और नायिका-भेद लिखे हैं। यद्यपि उनका यह विवेचन परम्परागत है, किन्तु आवश्यकतानुसार उन्होंने प्राचीन मान्यताओं में संशोधन परिवर्द्धन भी किये हैं। अलंकार-विवेचन की भाषा सरल है। किसी-किसी ने तो संस्कृत की परिपाटी के अनुसार लक्षण और उदाहरण एक ही छन्द में देने का भी यत्न किया है। रसों और अलंकारों की अभिव्यंजना जहाँ तहाँ अस्पष्ट-सी देख पड़ती है। इसका कारण आचार्यों का अज्ञान नहीं, गद्य के माध्यम का अभाव है।

नायिका-भेद की इतनी विशद विवेचना अन्यत्र नहीं मिलती। देश-काल के अनुसार नायिकाओं का वर्गीकरण अद्वितीय है। नायिका के एक एक हाव-भाव का सैकड़ों परिस्थितियों में चित्रण हुआ है।

रीति-काल के कृष्ण

विद्यापति और सूर के कृष्ण का रूप रीति-काल तक पहुँचते-पहुँचते कुछ वकृत हो चला था। भक्ति और कवित्व-प्रदर्शन दो परस्पर विरोधी तत्व हैं।

जब भक्त के भाव निर्माल्य बनकर फूट निकलते हैं, तब आराध्य और आराधक के बीच की दूरी मिट जाती है; और साथ ही मिट जाता है श्लीलता और अश्लीलता का विधान। किन्तु जब समर्पण की भावना अहं और कवित्व-प्रदर्शन से दब जाती है, तब कविता का क्षेत्र पंकिल हो जाता है। जान पड़ता है, जैसे मोर का पंख सजाने के लिए किसी ने कालिख पोत दी हो।

रीति-काल में भक्ति-साहित्य का दम घुटता-सा दिखाई देता है। राधा-कृष्ण का पवित्र प्रेम देश-काल के अनुसार नायिकाओं का चीर-फाड़ करनेवाले इन नीम-हकीमों के हाथ में पड़कर वासना की चाशनी में इस बुरी तरह से लिपट गया कि उसे पहचानना भी कठिन हो गया। हम रीति-काल की श्रृंगारिक प्रवृत्ति की निन्दा नहीं करते। हमारा आशय इतना ही है कि यदि उत्तान श्रृंगार की कविताओं में राधा-कृष्ण को न घसीटा जाता तो हमारी पवित्र भावनाओं को ठेस न लगती।

रीति-काल में भक्ति-भावना का एक दम अभाव नहीं है। देव और विहारी की भक्ति की रचनाएँ किसी भक्त कवि से उन्नीस न पड़ेंगी। कृष्ण को लोक-जीवन के सम्पर्क में लाने का श्रेय रीति-काल के कवियों को ही है। कृष्ण-सम्बन्धी इनकी रचनाएँ विद्यापति और सूर की पूरक हैं।

कला

हिय सागर तें दृग मेघ भरे उघरैं बरसैं दिन औ रतियाँ।

इन थोड़े से शब्दों में ही वर्षा के पहले की ऊमस, अन्तर में बाड़व ज्वाला छिपाये सिन्धु की मचलती लहरों का नर्त्तन, रवि की प्रखर रश्मियों की ऊष्मा से लहरों का बादल बन जाना, नभ में कजरारे बादलों का घुमड़ना, हवा और बादलों के पुनीत मिलन के फल-स्वरूप बरसात और मानव की अन्तः प्रकृति से बाह्य प्रकृति का तादात्म्य, सब कुछ साकार हो उठा है। वर्षा-

विज्ञान की किसी पुस्तक में इतनी ही बात समझाने के लिए कई अध्यायों की आवश्यकता पड़ेगी। और यह निश्चित सत्य है कि इतने पर भी वह वर्णन घनानन्द की इस एक पंक्ति-सा प्रभावशाली न हो सकेगा।

सरिता की मचलती लहरें सुन्दर लगती हैं और उनके किनारे पर खिले रंग-बिरंगे फूल भी सुन्दर लगते हैं। किन्तु गुलदस्ता बनानेवाला इस सारे सौन्दर्य को एक छोटे-से गुलदस्ते में ला देता है। लहरों के प्रतीक के रूप में गुलदान का जल और किनारे पर खिले फूलों के सौन्दर्य के समन्वय के रूप में फूलों का गुच्छा है। बाह्य प्रकृति के सौन्दर्य के प्रति गुलदस्ता जितना ही अधिक ठिकाने का होगा, उसमें हमें उतनी ही अधिक कला मिलेगी।

कवि साधारण बातें भी असाधारण ढंग से कहता है। बिदा-बेला में नव-वधू के रुदन में करुणा साकार हो उठती है। किन्तु कालिदास की शकुन्तला की करुणा कुछ और ही है। जहाँ तक अनुभूति की सच्चाई का प्रश्न है, वह नव-वधू में शकुन्तला से अधिक होती है। किन्तु नव-वधू के रुदन में हम उस कलात्मक प्रतिभा का अभाव पाते हैं, जो हमें कालिदास की शकुन्तला में मिलती है। आज तक न जाने कितनी नव-वधुओं का रुदन वायु ने अपने अंक में समेट लिया; किन्तु शकुन्तला के आँसू अब भी भारती के प्राणों में ज्यों के त्यों बने हैं। शकुन्तला की करुणा की इस अमरता का श्रेय कालिदास की कला को ही है।

रीति-काल में कविता का कला-पक्ष अपने चरम उत्कर्ष को पहुँच चुका था। भाव-पक्ष का विकास कला-पक्ष के अनुपात में न हो सका था, जिसका प्रधान कारण कवियों का राजाश्रय में रहना है। महफिलों में शास्त्रीय संगीत की अपेक्षा गजलें, दादरे और चलते गाने ही अधिक पसन्द किये जाते हैं। रीति-काल के कवियों को अपनी कविताएँ दरबारों में सुनानी पड़ती थीं; इसी कारण ऐसी कविताएँ अलंकारों (प्रधानतया शब्दालंकारों) से बोझिल देख पड़ती हैं। इतना होते हुए भी दरबार में रंग जमाने के लिए किसी कवि ने भावना की हत्या करके कला-पक्ष को प्रधानता नहीं दी।

रस का पूर्ण परिपाक मुक्तक के सीमित क्षेत्र में सम्भव नहीं है। अनुभूतियों से पाठक का हृदय छूने के लिए एक विशिष्ट वातावरण की आवश्यकता होती है। मुक्तक में वह वातावरण बनाने का कवि को अवकाश नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त एक मुक्तक में एक से अधिक विचार व्यक्त भी नहीं किये जा सकते। मुक्तक काव्य की इन सीमाओं के कारण ही रीति-काल के कवि को उक्ति-वैचित्र्य और वाग्विदग्धता के द्वार पर जाना पड़ा। काव्य में सरसता लाने का दूसरा मार्ग ही न था।

सौन्दर्य की अभिव्यंजना के लिए अलंकारों का प्रयोग अनिवार्य था। फल-स्वरूप कवियों ने कल्पना की ऊँची उड़ानें भरीं। अलंकारों की प्राचीन परिपाटी अपनाते हुए भी कवियों ने इस क्षेत्र में नये प्रयोग किये। यथा—

घटहिं जँवाई लौं घट्यो खरो पूस दिन-मानु।

सीमा में बँधे रहने पर भी उनके व्यक्तित्व की छाप सर्वत्र व्याप्त है।

अश्लीलता

अश्लीलत्वं व्रीड़ाजुगुप्साऽमंगल व्यञ्जकत्वात् त्रिविधम्।

—साहित्य-दर्पण।

[लज्जा, घृणा और अमंगल-व्यंजक होने से अश्लील तीन प्रकार का होता है।]

लजवन्ती-सी प्रिया के कपोलों पर जो लाज की अरुणिमा दौड़ जाती है, उसे अश्लीलता नहीं कहा जा सकता। अश्लील वह है जो कहा नहीं जा सकता, जो पाप होता है। पलकें नीची किये, अँगूठे से भूमि खोदती हुई नव-वधू जब मधु राका के दूसरे दिन सखियों द्वारा किये गये प्रश्नों के उत्तर देती है, तब वह अश्लील नहीं होता। अश्लील तो कुलटा का वह कथन है जिसमें वह अपने कार्य-व्यापारों की विरुदावली बखानने बैठती है।

सूरदास जी की एक कविता है—

राधा रचि रचि सेज सँवारति ।
भवन गवन करिहैं हरि मेरे, हरखि दुखहिं निरवारति ।
तापर सुमन सुगंध बिछावति, बारंबार निहारति ॥

इसी भावना का रीति काल का अगला पग है—

रंग घने, पति प्रेम सने, सब रैन गने, मन मैन हिलोरन ।
अंगनि मोरति भोर उठी, छिति पूरति अंग, सुगंध झकोरन ॥
रूप अनूप निहारि निहारि, गुमान जनाय कह्यो दृग कोरन ।
नन्द किसोर, अहो चित-चोर, न जाउँ मैं न्हान सरोवर ओरन ॥

'देव' की वासक-सज्जा का भी रूप देखिए—

सुख सेजहिं साजि, सिंगार सजे, गुहि बार सुगंधि सबै बसिकै ।
चुनि चूनरी लाल खरी पहिरी, कवि 'देव' सुबेस रह्यो लसिकै ॥
पिय भेंटिबे को उमही छतियाँ, सु छिपावति हेरि हियो हँसिकै ।
अँगिया की तनी खुलि जाति घनी, सु बनी फिरि बाँधति है कसिकै ॥

'अँगिया की तनी खुलि जाति' में प्रिया के जिस हुलास की अभिव्यंजना हुई है, वह 'सुमन सुगंध बिछावति' में नहीं हो पाई है। 'सुमन सुगंध बिछावति' और 'बारंबार निहारति' में जिस भावी कार्य-व्यापार की ओर संकेत है, वह भी 'अँगिया की तनी खुलि जाति' से अपेक्षाकृत अधिक अश्लील है। किन्तु इतना होते हुए भी अश्लीलता का सेहरा देव के ही सिर पहनाया गया है!

× × ×

मधुप ने मकड़ी से पूछा—तुम्हें यह बन्धन इतना प्रिय क्यों है जो तुम इसे किसी तरह छोड़ना नहीं चाहतीं? मकड़ी ने मुस्कराकर उत्तर दिया—तुम्हारा

हमें अपने बन्धन सचमुच बहुत ही प्रिय हैं। हम जानते हैं कि वे हमारे लिए भार-स्वरूप हैं; फिर भी उनमें न जाने ऐसा कौन-सा आकर्षण है जो हमें अपनी ओर खींच ले जाता है। हमें अपने आवरण प्रिय हैं, किन्तु परमात्मा तो आवरण नहीं चाहता; वह हमें उसी रूप में अपनाना चाहता है, जैसे हम हैं। और हम हैं जो युधिष्ठिर की भाँति अपना कुत्ता भी स्वर्ग ले जाना चाहते हैं! बस, यहीं से हमारे दुःखान्त अभिनय का प्रारम्भ हो जाता है। हम माया के आवरण को प्यार करते हैं और ईश्वर हमें माया-विहीन (नग्न) देखना चाहता है। किन्तु हम उससे कब तक छिपेंगे? पहेलियाँ जाने दीजिए, देव की एक कविता देखिए—

'कम्पत हियो', 'न हिया कम्पत हमारो',
'मो हँसी तुम्हैं अनोखी' 'नेकु सीत में ससन देहु।
'अम्बर हरैया, हरि, अम्बर उजेरो होत,
हेरि कै हँसै न कोई', 'हँसै, तो हँसन देहु॥'
'देव' दुति देखिबे को लोयन में लागी रहै',
'लोयन में लाज लागै', 'लोयन लसन देहु।'
'हमरे बसन देहु, देखत हमारे कान्ह,
अजहूँ बसन देहु, ब्रज में बसन देहु॥'

कविता चीर-हरण की है। आपको अश्लील लगी या नहीं, यह तो आप ही बता सकेंगे। एक और कविता लीजिए—

आजु गई हुती कुंजनि लौं, बरसे उत बूँद घने घन घोरत।
'देव' कहैं—हरि भींजत देखि अचानक आय गये चित चोरत॥
फेरि भटू, तट ओट कुटी के लपेटि पटी सों कटी-पट छोरत।
चौगुनो रंगु चढ्यो चित मैं, चुनरी के चुचात, लला के निचोरत॥

रीति-काल के कवि ने कृष्ण को बहुत निकट से देखा है; किन्तु उनमें अश्लीलता कहीं दिखाई नहीं देती। यों अपवाद तो हर जगह होते ही हैं।

'ग्वालिनि, तैं मोरी गेंद चोराई' और 'कंचुकी में कन्दुक छिपाये कहाँ जाति हौ' दोनों का भाव एक ही है। अन्तर इतना ही है कि एक गीत है, दूसरा कवित्त। गीत के स्वरों के आरोह-अवरोह में भावुकता प्रकट होती है और कवित्त में लोच। गीत की अपेक्षा कवित्त द्रुत गति से पढ़ा जाता है। किन्तु क्या छन्द या पढ़ने का ढंग बदलने मात्र से कोई कविता श्लील या अश्लील हो जाती है?

प्रणय जीवन का सबसे मधुर और आवश्यक अंग है। रीति-काल के कवियों ने इसे महत्त्व दिया है; किन्तु नायिका-भेद में उनकी दृष्टि सर्वदा 'जग-नायक की नायिका' पर ही रही है। यौवन और प्रेम का उन्होंने उच्चतम आदर्श-विन्दु स्थापित करने का प्रयत्न किया है; और अपने इस प्रयत्न में वे सफल भी हुए हैं। मतिराम के 'रसराज' की गणिका का प्रेम देखिए—

पूरि रहे मन-भावन के गुन मान को ठौर नहीं मन मेरे।

× × ×

नागरि सकल सिंगार करि, चली प्राण-पति पास।
बाढ़ि चली बिहसनि मनो, बारिधि बीच बिलास॥

× × ×

आँखिन तें आनँद के आँसू उमगाय प्यारी,
प्यारे को दिखावति सुरति मुकुतानि की।

अब स्वकीया नायिका के प्रेम में कितनी सरसता होगी, पाठक इसका स्वयं अनुमान कर सकते हैं।

रीति-काल से पहले प्रेम देवताओं की वस्तु थी। स्वर्ग के इस फूल की सुगन्धि से धरती पर आनन्द बरसाने का श्रेय हमारे इन्हीं कवियों को है,

अस्तित्व की कल्पना ही नहीं की जा सकती। कुछ अपवादों के आधार पर ही रीति-कालीन कविता को अश्लील नहीं कहा जा सकता।

आश्चर्य की बात तो यह है कि 'विलासिता की चाशनी' में डूबी इन अश्लील कही जानेवाली कविताओं-वाले युग के शौर्य की तुलना में लोक-मर्यादा के नियमों का पालन करते हुए भी आज हम कुछ नहीं हैं। तत्कालीन विदेशी यात्रियों ने भी रीति-युग के शौर्य की प्रशंसा की है। बाढ़ या भूचाल के कारण डेढ़-दो सौ वर्षों की पुरानी ठठरियाँ जब कब्रों से बाहर आ जाती हैं, तब उन्हें देखने पर आज के आदमी बच्चे जैसे लगते हैं। तथा-कथित अश्लीलता से दूर भागकर भी वर्त्तमान सभ्यता के युग में हमने अपने चरित्र को रीति-युग की अपेक्षा गिराया ही है! इससे तो यही अच्छा है कि हम पुनः उसी युग में लौट जायँ।

प्रकृति और कवि

कविता में प्रकृति दो रूपों में आती है—(१) आलम्बन रूप में और (२) उद्दीपन रूप में।

आलम्बन रूप में प्रकृति अपने यथार्थ रूप में ही कविता का विषय बन जाती है, जब कि उद्दीपन रूप में वह हृदय की वीथियों से विचरती हुई कविता का विषय बनती है।

प्रश्न उठता है कि सौन्दर्य का निवास कहाँ है। प्रकृति में या कवि के नयनों में? थोड़ा विचार करने पर उत्तर सहज जान पड़ता है। यदि देखने-वाली आँखों में सौन्दर्य हो तो वे प्रकृति में सौन्दर्य ढूँढ़ ही लेंगी। जिन 'करील के कुंजन पर' रसखान 'कोटिक हू कलधौत के धाम' वारने को तैयार थे, क्या उन्हें सुन्दर न कहा जायगा? यों साधारण दृष्टि से देखने पर ठूँठ कभी सुन्दर नहीं लग सकता।

सरिता की मचलती लहरें सुन्दर लगती हैं, लहरों के सरगम पर थिरकती चाँदनी सुन्दर लगती है, ऊषा के नीले नयनों की अरुणिमा सुन्दर लगती है, शिशु की भोली मुस्कान सुन्दर लगती है—लेकिन कब? जब रूप देखनेवाली आँखें रसिक हों। लहरों के सरगम पर नाचती हुई चाँदनी तभी सुन्दर लगेगी, जब दर्शक का हृदय भी उन्हीं लहरों के सरगम पर नाच रहा हो। नहीं तो—

अफ्सुर्दः दिल के वास्ते क्या चाँदनी का लुत्फ।
लिपटा पड़ा हो मुर्दः सा गोया कफन के साथ॥

एक देहाती गीत है—

बेला फूलेला आधी रतियाँ हो रामा, गजरा मैं केकरे गरे डारौं।

बेला आधी रात फूले या सबेरे, इससे हमें क्या? किन्तु उसके आधी रात फूलने की सार्थकता तो प्रिया की इस समस्या में है कि आधी रात को फूलनेवाले इन फूलों के गजरे का वह क्या करे? यदि बेला कुछ पहले फूलता तो वह उसका सदुपयोग कर पाती। पर बेले ने उसकी एक न सुनी। आज भी वह आधी रात को ही फूलता है।

द्विजदेव की एक कविता देखिए—

सुर ही के भार सूधे सबद सुकीरन के
मंदिरन त्यागि करैं अनत कहूँ न गौन।
'द्विज देव' त्यों हीं मधु मारन अपारन सौं
नैकु झुकि झूमि रहे मोगरे मरुअ दौन।
खोलि इन नैननि निहारौं तौ निहारौं कहा
सुखमा अभूत छाइ रही प्रीति भौन भौन।
चाँदनी के भारन दिखात उनयो सो चंद
गन्ध ही के भारन बहत मंद मंद पौन॥

प्रकृति का यह चित्र आलम्बन-सा जान पड़ता है; किन्तु यदि हृदय के हुलास से अलग रखकर इसका मोल आँका जाय तो शायद कुछ भी हाथ न लगे।

रीति-काल के कवियों को इसलिए कोसा गया है कि उन्हें प्रकृति का उद्दीपन रूप ही प्रिय था। नीचे चिड़ियों की बोली का एक उदाहरण दिया जा रहा है। पाठक ही बतावें कि इसमें रस या सौन्दर्य कहाँ है—

बाँसों का झुरमुट
संध्या का झुटपुट
हैं चहक रही चिड़ियाँ
टी-वी-टी-टुट् टुट् !
\+ + +

रीति काल के कवि ने प्रकृति का उद्दीपन-पक्ष अपनाकर क्या सचमुच कोई पाप किया है ?

एक बात और है। जिसे आधुनिक युग के आलोचक प्रकृति का उद्दीपन चित्र कहते हैं, वह वास्तव में प्रकृति का चित्रण नहीं है। रस के पूर्ण परिपाक के लिए कवि प्रकृति, घटनाओं, स्मृतियां आदि की सहायता लिया करता है। संयोग और वियोग के उद्दीपन रूप में हमें जो प्रकृति-चित्र मिलते हैं, उनका उद्देश्य प्रकृति-चित्रण नहीं, बल्कि संयोग और वियोग श्रृंगार का पूर्ण परिपाक करना है। उद्दीपन की प्रकृति अनुपात में घटनाओं और स्मृतियों के बराबर ही आई है। प्रकृति-चित्रण कहलाने के वास्तविक अधिकारी प्रकृति के आलम्बन चित्र ही हैं। रीति-काल में प्रकृति के आलम्बन-चित्रों की भी कमी नहीं है।

रीति-काल के कवि और उनके आश्रयदाता

रीति-काल के कवि राजाश्रयों में रहते थे, किन्तु इसके लिए उन्हें दोष

नहीं दिया जा सकता। स्वामित्व (रॉयल्टी) और प्रकाशन की सुविधाओं तथा रेडिओ के अभाव में उनकी जीविका का दूसरा साधन भी तो न था। और फिर कालिदास भी तो दरबारी कवि थे। राजाश्रय में रहने मात्र से कोई कवि बुरा नहीं हो जाता।

कवि का जिनसे सम्बन्ध रहता है, जान या अनजान में वह उनमें से कुछ का नाम अपनी कविता में ले ही आता है। चेतन मन चाहे कितना ही छिपाना चाहे, अचेतन मन से भेद छिपाये नहीं छिपता। 'राधा रानी के चाकर' की कविता में भी कवि की प्रेमिका 'निबानी' का नाम आ ही गया; और घन आनन्द 'सुजान' के केन्द्र की परिधि बनकर रह गये। आधुनिक काव्यों में भी ऐसे बहुत-से नाम बिखरे पड़े हैं। खींच-तानकर उनका अर्थ भले ही कुछ और कर लिया जाय, किन्तु उनका रहस्य खुले बिना पाटक मधुमती भूमिका तक नहीं पहुँच पाते। रीति-काल के कवियों की कविता में उनके आश्रयदाताओं के नाम जहाँ-तहाँ आये हैं; किन्तु अनुपात में उनसे बहुत अधिक उनके जीवन से सम्बद्ध व्यक्तियों के नाम हैं। केशव की कविता में इन्द्रजीत का नाम देखकर चौंक उठनेवालों को यह भी जानना चाहिए कि उनकी कविता में बीरबल के द्वारपाल चन्द्र और पड़ोसी पतिराम सुनार के नाम भी मिलते हैं।

रीति-युग का साहित्य राजा-महाराजाओं के संरक्षण में ही पनपा था। स्वतंत्रता-प्राप्ति के पूर्व तक भी देशी नरेश ही हमारी साहित्यिक संस्थाओं के संरक्षक रहे हैं। इतना ही नहीं, हिन्दी साहित्य सम्मेलन के वार्षिक अधि-वेशनों में भी कवियों और लेखकों से अधिक देशी नरेशों का ही सम्मान किया गया है। आश्रयदाताओं की प्रशंसा में कवि का दो-चार पंक्तियाँ लिख देना अपराध नहीं कहा जा सकता। कवि कभी कृतघ्न नहीं होता।

प्रशस्तियाँ लिखने की परिपाटी आज के लोक-तंत्रात्मक युग में भी समाप्त नहीं हो सकी। आज-कल के अभिनन्दन ग्रन्थ प्रशस्तियों से ही भरे

रहते हैं। बड़े बड़े प्रकाशकों और लेखकों के नाम पर पत्रों के जो विशेषांक निकलते हैं, उनमें भी प्रशस्तियाँ ही प्रमुख होती हैं।

रीति-काल के कवि ने कभी आत्म-सम्मान बेचकर धन लेना स्वीकृत नह किया। महाराज छत्रसाल ने भूषण की पालकी अपने कन्धे पर उठाई थी। अन्य कवियों का सम्मान इससे कुछ कम न था। राजाओं से इतना अधिक धन-मान पाकर उनकी प्रशंसा में दो-चार पंक्तियाँ कहना पाप नहीं कहा जा सकता। आवश्यकता पड़ने पर राजाओं के मुँह पर ही खरी-खोटी सुनाने में भी हमारे कवि पीछे नहीं रहे हैं; और अपनी स्पष्टवादिता का फल भी उन्होंने हँसकर भोगा है।

आश्रयदाताओं की मिथ्या प्रशंसा इन कवियों ने कभी न की। राजाओं की प्रशस्तियाँ ऐतिहासिक सत्य से दूर नहीं हैं। एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

> घर घर तुरकिनि, हिंदुनी देति असीस सराहि।
> पतिनु राखि चादर, चुरी तैं राखी, जय साहि॥

इतिहास साक्षी है कि मिर्जा राजा जयसिंह नवम्बर सन् १६४७ ई० में औरंगजेब की सेना को बलखवाले अफगानी घेरे से सुरक्षित निकाल लाये थे।

'पल्लव' की भूमिका और रीति-काल

कल्पना कीजिए कि एक मनोहर उद्यान में एक फुहारा है। तेज हवा के झोंके उसके जल को रह-रहकर भूमि पर गिरा देते हैं, जिससे वहाँ की मिट्टी गीली हो जाती है। वायु के इस व्यापार में सौन्दर्य की भावना निहित है। अब यदि कोई हठकर गीली मिट्टी में पत्थर फेंके तो उससे उद्यान के सौन्दर्य

का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। उलटे पत्थर फेंकनेवाले के ही कपड़े खराब होंगे।

× × ×

श्री सुमित्रानन्दन पंत के 'पल्लव' में एक सौ छत्तीस पृष्ठों में कुल बत्तीस कविताएँ संगृहीत हैं। छः पृष्ठों के विज्ञापन और अट्ठावन पृष्ठों के 'प्रवेश' में आपने बहुत परिश्रम से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि रीति-काल में जो कुछ लिखा गया, वह सब हेय और अग्राह्य है; और उन्होंने (अर्थात् पन्तजी ने) हिन्दी कविता को नई दिशा दी है। आलोचना तो की है आपने रीति-काल की, पर जान पड़ता है, जैसे आप स्वयं अपनी ही आलोचना कर रहे हों। उन्हें शिकायत है कि 'तीन फुट के नख-शिख के संसार से बाहर ये कवि-पुंगव नहीं जा सके'। लेकिन अपराध क्षमा हो तो कह दूँ कि पन्त जी की कविता का क्षेत्र ('ग्राम्या' तक) भी डेढ़ फुट का नख-शिख ही है। डेढ़ फुट इसलिए कि पन्त जी को नारी का कटि के ऊपर का भाग ही प्रिय है। उनकी 'बाल युवतियाँ सतत-उत्सुक दृग-द्वार खोलकर' और 'कान तक चल-चितवन के बन्दनवार तान कर' जिस अनंग का स्वागत करती हैं, उसे वे 'पल्लव' की छाँह में अपने 'मानस की तरंग में पुनः साकार' बनने को कहते हैं।

आगे आप लिखते हैं—'हास्य, अद्‌भुत, भयानक आदि रसों के तो लेखनी को—नायिका के अंगों को चाटते-चाटते रूप की मिठास से बँध रहे मुँह को खोलने, खखारने के लिए—कभी-कभी कुल्ले मात्र करा दिये हैं।' इस कटु सत्य को अस्वीकृत करने का साहस किसी को नहीं हो सकता। पर यह तो मालुम हो कि स्वयं पन्त जी ने इन रसों पर कितनी पंक्तियाँ लिखी हैं! जिस अँगरेजी भाषा के 'विंग' में कवि को 'उड़ान का जीता-जागता चित्र' मिला है, 'टच' में 'छूने की कोमलता' मिली है, उसमें भी इन रसों का कितने प्रति शत साहित्य है?

कविता हृदय की आनन्दमयी अनुभूति है जो भाषा के माध्यम से व्यक्त होती है। आनन्द और शृंगार में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है; और शान्त रस

शृंगार का उच्चतम उत्कर्ष-विन्दु है। हिन्दी साहित्य की तो बात ही छोड़िए, यदि विश्व-साहित्य में से भी शृंगारिक कविता हटा दिया जाय तो शायद, 'साहित्य' कहलाने को कुछ भी शेष न बचेगा। विश्वास न हो तो राज्य-क्रान्ति के बाद का रूसी साहित्य देखिए, जो मिलों की चिमनी के धूएँ से आच्छादित है और जिसमें सरकारी गजट तथा कविता का भेद दिन पर दिन मिटता जा रहा है।

पंत जी को शिकायत है—'व्रज-भाषा की उपत्यका में, उसकी स्निग्ध अञ्चल-छाया में सौन्दर्य का कश्मीर भले बसाया जा सके...पर उसका वक्षःस्थल इतना विशाल नहीं कि उसमें पूर्वी तथा पश्चिमी गोलार्ध, जल-स्थल,...आचार-व्यवहार...जिसके पृष्ठों पर मानव जाति की सभ्यता का उत्थान-पतन, वृद्धि-विनाश, आवर्त्तन-विवर्त्तन, नूतन-पुरातन सब कुछ चित्रित हो सके, बाँधा जा सके।' व्रज-भाषा से पंत जी का अभिप्राय 'प्राचीन साहित्यिक-हिन्दी से है, जिसमें अवधी भी शामिल है।' पन्त जी के कथन का सीधा-सादा अर्थ यह है कि विद्यापति से रत्नाकर तक जो कुछ लिखा गया, वह सब व्यर्थ है। भारत की मूर्ख जनता को क्या कहा जाय जो नहा-धोकर रामचरित मानस और सूर-सागर का ही पारायण करती है, या भारतीय ग्रामों के चित्रण में 'पश्चिमी गोलार्ध' के फूलों के नाम नहीं गिनाती। जिस गीता प्रेस, गोरखपुर के मानस का मूल गुटका इस समय इस लेखक के सामने है, उसकी सात लाख, सत्तर हजार प्रतियाँ पिछले तेरह वर्षों में बिक चुकी हैं। हिन्दी का कोई बिरला ही बड़ा प्रकाशक होगा जिसने दो-चार विभिन्न आकारों में मानस न छापा हो; और भारत का बिरला ही घर होगा जिसमें मानस की एक-दो प्रतियाँ न हों। मानस के पृष्ठों में यदि 'मानव जाति की सभ्यता का उत्थान-पतन, वृद्धि-विनाश, आवर्त्तन-विवर्त्तन, नूतन-पुरातन' सब कुछ नहीं है तो क्यों वह भारत के कण-कण में समाया है?

व्रज-भाषा संसार की समृद्धतम भाषा है। उसके कोमल स्वरों में एक ओर जहाँ मोहन की माधुरी मुरली की तान है, वहीं दूसरी ओर शंकर के

डमरू और श्रृंगी का निनाद भी है। मधुरता के साथ-साथ परुषता की भी उसमें कमी नहीं है—

संका दै दसानन को हंका दै सु बंका बीर
डंका दै विजय को कपि कूदि पर्यो लंका मैं।

× × ×

रीतौ करौं लंक-गढ़ इन्द्रहि अभीतौ करौं
जीतौं इन्द्रजी कौ आजु तौ मैं लछमन हौं।

—पद्माकर।

'दर्शन-विज्ञान' का आशय यदि एटम बम और हाइड्रोजन बम बनाकर मानवता का नाश करना हो, तब तो 'ब्रज-भाषा की आलमारी' में सचमुच उसका अभाव है। किन्तु जहाँ तक जीवन की सर्वांगीण उन्नति का प्रश्न है, ब्रज भाषा में 'दर्शन-विज्ञान' की कमी नहीं है। 'राम-चन्द्रिका' के इक्कीस पाठ कर मुक्त होनेवाले, कठिन-काव्य के प्रेत, पिंगलाचार्य, भाषा के मिल्टन, 'उडगन-केशवदासजी' की 'विज्ञान गीता' और बहत्तर ग्रंथों के रचयिता, 'नभ-मंडल के समान देव' की 'ब्रह्मदर्शन पचीसी' और 'आत्मदर्शन पचीसी' श्रेष्ठतम दार्शनिक ग्रंथ हैं।

समाज-नीति का आशय यदि पापियों का अध्ययन और अनाचार की वृद्धि मात्र न माना जाय तो समाज-नीति की भी ब्रज भाषा में कमी नहीं है। 'कला-कौशल, कथा-कहानी, काव्य-नाटक' सब कुछ 'ब्रज-भाषा की आलमारी' में सजाये गये हैं; हाँ उन्हें देखने को आँखें चाहिएँ। और सबकी तो बात ही छोड़िए 'देखन में छोटे लगें घाव करें गम्भीर' तीर छोड़नेवाले कुसुमायुध बिहारी (जिन्हें 'तरुनाई आई सुखद बसि मथुरा ससुराल') का भी काव्य राजनीति, समाज-नीति और दर्शन से भरा पड़ा है।

रीति-काल के कवि और कविता को जी भरकर कोसा जा सकता है। किन्तु उनमें कुछ ऐसा आकर्षण अवश्य है जो हमें अब तक रिझाये हुए है।

'जिसकी भूल-भुलैयाँ में फँसकर, देश के लिए अपनी सरल सुशील सती को पहचानना कठिन हो गया" उस 'वीभत्स, विकार-ग्रस्त विलासपुरी' से दूर भागने में पन्त जी जैसे सच्चरित्र व्यक्ति को भी वीणा, ग्रंथि, पल्लव, गुंजन, युगान्त, युगवाणी और ग्राम्या की मंजिलें पार करनी पड़ीं; और अब भी न जाने कितने 'स्रवन समीप भये सित केसा' साहित्य-महारथी सुर्ती और पान की कृपा से दन्त-विहीन पोपले मुँह से उन्हीं के स्वर में स्वर मिलाये चलते हैं।

"ब्रज भाषा के अलंकृत काल में 'सवैया' और 'कवित्त' का ही बोल-बाला रहा,......सवैया तथा कवित्त छन्द भी मुझे हिन्दी की कविता के लिए अधिक उपयुक्त नहीं जान पड़ते। सवैया में एक ही सगण की आठ बार पुनरावृत्ति होने से, उसमें एक प्रकार की जड़ता, एक-स्वरता आ जाती है। उसके राग का स्वर-पात बार-बार दो लघु अक्षरों के बाद आनेवाले गुरु अक्षर पर पड़ने से सारा छन्द एक तरह की कृत्रिमता तथा राग की पुनरुक्ति से जकड़ जाता है।" छन्द के सम्बन्ध में पन्त जी का यह विरोध केवल विरोध करने के लिए जान पड़ता है। यह निर्विवाद सत्य है कि शृंगार रस के लिए सवैया सबसे उपयुक्त छन्द है। देव, घनआनन्द और रसखान के सवैये पढ़ते समय हमारा मन उनकी माधुरी से इतना भर जाता है कि सगण गिनने का हमें अवकाश ही नहीं मिलता। अनादि काल से ऊषा सुहाग की एक ही लाल चूँदरी पहने हमारे सामने आती है, किन्तु उसकी यह आवृत्ति हमें कभी बुरी नहीं लगती। नीचे गोस्वामी जी की एक ही भावना चौपाई और सवैया छन्द में व्यक्त हुई है—

तिन्हहिं बिलोकि बिलोकत धरनी। दुहुँ सकोच सकुचति बर बरनी॥
बहुरि बदन बिधु अंचल ढाँकी। पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेउ तिन्हहि सिय सयननि॥

× × ×

तिरछे करि नैन दै सैन तिन्हैं समुझाय कछू मुसकाय चली।

चौपाई के सोलह शब्दों में जिस भावना की अभिव्यक्ति हुई है, वही भाव सवैया के दस शब्दों में ही उससे भी सुन्दरता से आ गया है।

महादेवी जी का भी एक सवैया देखिए—

जिसको अनुराग सा दान दिया, उससे कण माँग लजाता नहीं।
अपना-पन भूल समाधि लगा, यह पी का विहाग भुलाता नहीं।
नभ देख पयोधर श्याम घिरा, मिट क्यों उसमें मिल जाता नहीं।
वह कौन सा पी है पपीहा तेरा, जिसे बाँध हृदय में बसाता नहीं॥

काव्य की सफलता में छन्द का भी योग है। विश्वास न हो तो इसी भाव की महादेवी जी की ही कोई अन्य रचना किसी दूसरे छन्द में देखिए।

पल्लव के 'प्रवेश' की एक करुण-कहानी है। इसके रचना-काल की परिस्थिति देखते हुए पंत जी को अधिक दोष नहीं दिया जा सकता। लेखक पंत जी का आदर करता है। सीधी-सी बात है कि 'तीन फुट' की नायिका का समर्थक 'डेढ़ फुट' की नायिका का विरोधी नहीं हो सकता। विरोध केवल अट्ठावन पृष्ठों के 'प्रवेश' से है। कुछ इधर-उधर की सुनी-सुनाई जन-श्रुतियों के आधार पर हिन्दी भाषा को समृद्ध और गौरवशाली बनानेवालों पर अपना क्रोध न प्रकट कर यदि पंत जी अपने विरोधियों का ही उत्तर देते तो लेखक श्रद्धा से सिर झुका लेता।

पूर्वा

'सनाढ्य जाति सर्वदा । यथा पुनीत नर्वदा ॥'
धन्य हुई पा तुम्हें । गोद में खिला तुम्हें ॥
मुदित हुई बसुन्धरा । थिरक उठी थी अप्सरा ॥

× × ×

'राम चन्द्रिका' की ज्योत्सना में उतरा स्वर्ग धरा पर ।
सुगम हुआ पथ 'कवि-प्रिया' का 'रसिक-प्रिया' को पाकर ॥

× × ×

नर-चरित बखाना कवीश्वर ने नर पीछे रहे क्यों नरायन से ।
शुक-सारिका नागरिका ने पढ़ाया झरे रँग चम्पई पायन से ॥
अँधियारी मिटी, उजियारी भई, खुलि गाँठ गई सद्भायन से ।
नव-यौवन छाया वसुन्धरा पर शुचि ज्योति मिली सुखदायन से ॥

केशव

जन्म—सं० १६१२ निधन—सं० १६७४

आचार्य केशवदास जी को सरस्वती का वर-दान उत्तराधिकार रूप में मिला था। आपके पितामह पं० कृष्णदत्त मिश्र और पिता पं० काशीनाथ मिश्र संस्कृत के प्रकांड पण्डित और ओड़छे के राजगुरु थे। आपका जन्म सनाढ्य ब्राह्मण कुल में हुआ था। ओड़छा नरेश महाराज रामसिंह के छोटे भाई इन्द्र-जीत सिंह केशवदास जी का बहुत आदर करते थे। प्रवीण राय सम्बन्धी विवाद पर सम्राट् अकबर द्वारा इन्द्रजीतसिंह पर एक करोड़ का जुर्माना बीरबल की सहायता से आपने माफ करा दिया था। हिन्दी के लक्षण-ग्रन्थों के आप आदि आचार्य हैं। आपकी रचनाओं में तत्कालीन समाज का यथार्थ चित्रण मिलता है। नई खोजों के आधार पर अनुमान किया जा रहा है कि रीति-काल के प्रमुख कवि बिहारी आपके पुत्र थे। बीरबल, टोडर मल, गंग और गोस्वामी तुलसीदास आपके सम-कालीन और मित्रों में से थे।

रचनाएँ—राम-चन्द्रिका, कवि-प्रिया, रसिक-प्रिया, वीर सिंहदेव चरित, जहाँगीर-जस चन्द्रिका और विज्ञान गीता।

"मखतूल के झूल झुलावत केशव भानु मनो शनि अंक लिए।" लिखने के कारण आचार्य केशवदास प्रेत चाहे न हुए हों, पर नव-रत्नों की गद्दी से उतार अवश्य दिये गये, जब कि उन्हीं के सम-कालीन तुलसीदास जी—

सेवत लखन सीय रघुवीरहिं। जिमि अविवेकी पुरुष सरीरहिं॥

लिखकर भी हिंदी के सर्वश्रेष्ठ कवि बने रहे। जनता 'सूर सूर तुलसी ससी उड़गन केशवदास' की रट लगाती रही, पर उसकी सुनता कौन था? यहाँ तो जायसी, तुलसी और सूर की त्रिवेणी बहाई गई।

क्या केशव हृदयहीन थे?

केशव की हृदय-हीनता के सम्बन्ध में सबसे बड़ा यह तर्क है कि राम-कथा के भावपूर्ण स्थलों की उन्होंने उपेक्षा की है। 'मानस' के अयोध्या काण्ड जैसा 'राम-वन-गमन' और 'भरत मिलन' केशव से न बन पड़ा। सीधी-सी बात यह है कि केशव राम को परब्रह्म मानकर अपने हृदय की सम्पूर्ण श्रद्धा भेंट न कर सके थे। एक बात और है। वाल्मीकि के अनुसार अयोध्या के वास्तविक अधिकारी भरत थे, जिस प्रसंग को तुलसीदास पचा गये। भरत ने राम के लिए अपने वास्तविक अधिकार भी छोड़े थे। भरत का चित्र निखार कर तुलसी ने प्रायश्चित्त किया था। पर केशव के लिए ऐसी कोई बात नहीं थी। जिस वातावरण में केशव पले थे, उसके अनुकूल यह प्रसंग था भी नहीं। किन्तु जहाँ तक नगर-वर्णन, युद्ध-वर्णन और दरबार आदि के प्रसंग हैं, तुलसी से केशव किसी प्रकार कम नहीं हैं।

बालि-बध केशव को रुचा नहीं, मर्यादा-पुरुषोत्तम राम के लिए इस घटना को उन्होंने कलंक माना था। इसी से जब मरणोन्मुख बालि ने उनसे पूछा—

तुम आदि मध्य अवसान एक। जग मोहत हौ वपु धरि अनेक॥
तुम सदा सुद्ध सबको समान। केहि हेतु हत्यो करुना-निधान॥

तब उन्होंने कृष्णावतार में उससे बदला लेने को कहा—

यह साँटो लै कृष्णावतार। जब ह्वैहौ तुम संसार पार॥

सीता की अग्नि-परीक्षा का दृश्य भी बहुत भव्य है—

महादेव के नेत्र की पुत्रिका सी, कि संग्राम की भूमि में चण्डिका सी।
कि सिन्दूर शैलाग्र में सिद्ध कन्या, किधौं पद्मिनी सूर संयुक्त धन्या॥
सरोजासना है मनो चारु बानी, जपा पुष्प के बीच बैठी भवानी।
धरा-पुत्र ज्यों स्वर्ण-माला प्रकासै, किधौं जोतिसी तक्षका भोग भासै॥
आसावरी माणिक कुम्भ सोभै, अशोकलग्ना वन देवता सी।
पालाश माला कुसुमालि मध्ये, वसन्त लक्ष्मी शुभ लक्षणा सी॥
है मणिदर्पण में प्रतिबिंब कि, प्रीति हिये अनुकूल अभीता।
पुञ्ज प्रताप में कीरति सी, तप तेजन में मनु सिद्धि विनीता॥
ज्यों रघुनाथ तिहारिय भक्ति लसै उर केशव के शुभ गीता।
त्यों अवलोकिय आनदकन्द हुतासन मध्य सवासन सीता॥

राम-भक्ति में डूबी तुलसी की लेखनी सीता-निष्कासन का करुण प्रसंग न लिख सकी। किन्तु केशव का भावुक हृदय सीता के आँसू न पी सका। हर कवि के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह जीवन के सभी मार्मिक स्थलों की एक-सी अभिव्यंजना कर सके। दुर्बलताएँ सब में होती हैं। केशव यदि कुछ मार्मिक स्थल छोड़ गये तो इतनी-सी भूल के लिए उन्हें हृदय-हीन नहीं कहा जा सकता।

केशवदास की प्रौढ़तर प्रमुख कृतियों में अधिकतर प्रबन्ध-काव्य हैं। प्रबन्ध-काव्यों की दूरूहता तब और भी बढ़ जाती है, जब वह महाकाव्य होते हैं। कवि को महाकाव्यत्व का ध्यान रखते हुए कथा-सूत्र में प्रवाह लाना

पड़ता है। कथा-सूत्रों की लता-बेलि इस बुरी तरह से उलझी होती है कि उसे बिना तोड़े राह बनाना सहज नहीं। सीता का विलाप तुलसी जैसे समर्थ कवि की लेखिनी से भी सूर की गोपियों जैसा न बन पाने का यही रहस्य है। कवि का हृदय मुक्तक में ही बोल पाता है। बेचारे केशव का साथ परिस्थितियों ने भी न दिया। उन्हें न तो सूर की भाँति "नैनन हू की हानि" थी और न तुलसी की तरह "मातु-पिता जग जाय तज्यो बिधि हू न लिखी कछु भाल भलाई" जैसी ही कोई बात थी। ऐसे प्रतिष्ठित सनाढ्य कुल में उनका जन्म हुआ था जिसके दास भी भाषा (हिन्दी) नहीं, संस्कृत बोलते थे। इस प्रकार के संस्कृत-निष्ठ परिवार में पले कवि के लिए 'प्रेम की पीर' का भी अनुभव असम्भव-सा है। यदि घनानन्द की भाँति उनकी प्रेम की उक्तियाँ हृदय-ग्राही न हो पाईं तो इसमें उनका अधिक दोष नहीं है।

मर्यादा के कवि

हिन्दी के एक गण-मान्य आलोचक ने लिखा है—'इन्होंने नायिका-भेद के तत्व को न समझकर उसमें कुछ बातें 'काम-तन्त्र' की जोड़ दी हैं।'' एक दूसरे सज्जन लिखते हैं—"वेश्याओं का वर्णन केशवदास बड़ी श्रद्धा से करते हैं।" इन पंक्तियों के लेखक को इन बातों में सन्देह है; क्योंकि मंगलाचरण के बाद ही कवि ने लिखा है—

श्री वृषभानु-कुमारि हेतु शृंगार रूपमय।
बास हास रस हरे मात बन्धन करुणामय।
केसी प्रीति अति रौद्र वीर मारे वत्सासुर।
भय दावानल पान किये वीभत्सव की उर।
अति अद्भुत वंच विरंचि मति सांत संतते सोच चित।
कहि केसव से बहु रसिक जन नव रस में ब्रजराज नित।

'काम-तन्त्र' की कौन-सी बात नायिका-भेद के तत्त्व को न समझनेवाले आचार्य केशव ने रसिक-प्रिया में जोड़ी है, यह बताने की विद्वान् आलोचक ने कृपा नहीं की। मैं उनका ध्यान रसिक-प्रिया की इस पंक्ति की ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ—

जग नायक की नायिका, बरणी केसवदास।

रही वेश्याओं के वर्णन में श्रद्धा की बात; सो केशवदास ने 'रसिक-प्रिया' में गणिका नायिका का उल्लेख तक नहीं किया है। उनकी नायिकाएँ गिन लीजिए—

केसवदास सु तीन बिधि, बरणी सुकिया नारि।
परकीया द्वै भाँति पुनि, आठ-आठ अनुहारि॥
उत्तम मध्यम अधम अरु, तीन-तीन बिधि जानि।
प्रकट तीन सौ साठ तिय केसवदास बखानि॥

तीन सौ साठ की गणना भी स्पष्ट है। स्वकीया (३×४) १२ + २ परकीया=१४ + १ (पुनि से सामान्या की ओर संकेत है)=१५। १५×८ (प्रत्येक के आठ-आठ भेद)=१२०। १२०×३ (उत्तम, मध्यम, अधम)= ३६०। कवि की मर्यादा-शीलता ने उन्हें गणिका का नाम तक न लेने दिया।

राय प्रवीण इसका अपवाद है। उस जैसी सती-साध्वी को वेश्या कहना नारीत्व का अपमान करना है। अकबर का वैभव जिसके सतीत्व के सम्मुख न ठहर सका, उसे 'रमा कि राय प्रवीन' कहना अतिशयोक्ति नहीं है। माना कि महाराज इन्द्रजीत पर वह अनुरक्त थी, किन्तु उसके किसी पुत्र का उल्लेख नहीं मिलता। किसी पर अनुरक्त होने मात्र से किसी को अपवित्र नहीं कहा जा सकता। ध्यान देने की बात है कि वह युग 'बर्थ कंट्रोल' का नहीं था; और पाप छिपाने के लिए वैज्ञानिक साधनों का भी अभाव था। उस गरिमामयी नारी को 'वेश्या' के घेरे में ले आना ठीक नहीं।

परकीया के विषय में केशव का मत है—

पावक पाप सिखा बड़वारी। जारति है नर को पर नारी॥

रावण के 'सीता-हरण' की निन्दा करते समय मन्दोदरी कहती है—

तोरि सरासन संकर को पिय, सीय स्वयंबर क्यों न लई जू॥

पातिव्रत का आदर्श उपस्थित करती हुई सीता लक्ष्मण से कहती है—

सहिहौं तपन ताप, पति के प्रताप, रघु-
बीर को बिरह बीर मोसों न सह्यो परै।

वन-गमन के प्रसंग में कवि ने दाम्पत्य जीवन की बहुत सरस झाँकी दिखाई है, किन्तु मर्यादा का ध्यान उसे वहाँ भी बना रहा—

मग को श्रम श्रीपति दूरि करैं, सिय को सुभ बाकल अंचल सों॥
श्रम तेऊ हरैं तिन को कहि केसव, चंचल चारु दृगंचल सों॥

दाम्पत्य जीवन के सुख-दुःख का इससे सुन्दर आदान-प्रदान तथा प्रेम का चित्रण इस समर्थ कवि की लेखनी से जैसा सुन्दर बन पड़ा है, वैसा अन्यत्र नहीं मिलता। फिर भी विशेषता यह है कि कहीं मर्यादा का उल्लंघन नहीं होने पाया है—

तरनि तनूजा तीर तरवर तर ठाढ़े
तारी दै दै हँसत कुमार कान्ह प्यारी सों।

प्रेम वहीं सफल है जहाँ—

एकै गति, एकै मति, एकै प्राण एकै मन,
देखिबे को देह द्वै हैं नैनन की जोरी सी।

सीता जी के नख-शिख का वर्णन कवि ने नहीं किया; उनकी सखियों के रूप-वर्णन से ही उसने सन्तोष कर लिया है।

'जग-नायक की नायिका' की तो बात ही दूसरी, साधारण नायिका के श्रृंगार-वर्णन में भी कवि ने संयम से काम किया है—

चले ही बनत जौ तौ चलिए चतुर पीय,
सोवत ही जैयो छाँड़ि जागौंगी आये ही।

जान पड़ता है, कवि ने इन पंक्तियों में प्रिया का हृदय ही खोलकर रख दिया है। एक अन्य नायिका की विवशता देखिए—

जौ हौं कहौं 'रहिये' तो प्रभुता प्रगट होति,
चलन कहौं तो हित-हानि नहीं सहनो।
'भावै सो करहु' तौ उदास भाव प्राण-नाथ,
'साथ लै चलहु' कैसे लोक-लाज बहनो॥
'केसौदास' की सौं तुम सुनहु छबीले लाल,
चले ही बनत जो पै नाहीं आज रहनो।
तैसियै सिखाओ सीख तुमहीं सुजान पिय,
तुमहीं चलत मोहिं जैसो कछु कहनो॥

शृंगार में केशवदास सर्वत्र संयत ही रहे हैं, लोक-मर्यादा का उन्होंने कभी उल्लंघन नहीं किया ('जानि आगि लागी वृषभानु के निकट भौन'वाले छन्द में भी नहीं)। हमारी लोक-मर्यादा का घेरा इतना संकुचित नहीं है कि एकान्त में प्रिया को पाकर उसका चुम्बन या आलिंगन मात्र करने से टूट जाय। पर केशव ने ऐसी परिस्थितियों से भी बचने का प्रयत्न किया है।

रूप

केशव के रूप-चित्रों में सर्वत्र पवित्रता व्याप्त है। उनके यौवन और रूप की सार्थकता नारी के मातृत्व में है। प्रेम (रूप के प्रति आकर्षण) की सफलता भी वे सन्तान-वृद्धि ही मानते हैं; विलास को उन्होंने कभी प्रश्रय नहीं दिया। व्रज की कुमारिका का रूप देखिए—

ब्रज की कुमारिका वै लीन्हे सुख सारिका
पढ़ावै कोक कारिका केसव सबै निबाहि।
गोरी गोरी, भोरी भोरी, थोरी थोरी, बैस फिरि
देवता सी दौरि दौरि आई चोर चोरी चाहि॥
बिन गुन तेरी आन भृकुटी कमान तानि,
कुटिल कटाछ बान, यह अचरज आहि।
एते मान ढीठ, ईठ मेरे को अदीठ मन,
पीठ दै दै मारती पै चूकती न कोऊ ताहि॥

कटि की क्षीणता के विषय में कवि कहता है—

कटि को तत्व न जान्यो जाइ। जो जग सत न असत कहि जाइ॥
इहि तें अति नितम्ब गुरु भये। कटि के विभव लूटि सब लये।

निश्चय ही इस भावना पर फारसी का प्रभाव है, किन्तु कवि ने इसे भारतीय साँचे में इस प्रकार ढाल लिया है कि वह विदेशी नहीं जान पड़ती। इसमें फारसी परम्परा की अश्लीलता का भी अभाव है।

कवि ने मर्यादा-वश सीता के नख-शिख का वर्णन नहीं किया है। सखियाँ कहती हैं—

एक कहैं अमल कमल मुख सीता जू को,
एक कहैं चंद सम आनँद को कन्द री।
होइ जो कमल तो रयनि में न सकुचै री,
चंद जो तो बासर न होइ दुति मंद री।
बासर ही कमल, रजनि में ही चंद, मुख
बासर हू रजनि बिराजै जग बंद री।
देखे मुख भावे, अनदेखे हू कमल चंद
ताते मुख मुखैं, सखी, कमलौ न चंद री॥

इसी छन्द के आधार पर लोगों ने केशव को 'हृदय-हीन' तक कह डाला; पर वास्तविकता यह है; कि यह कवि-प्रिया के चौदहवें प्रभाव में निर्णयोपमा का उदाहरण है और कवि ने रामचन्द्रिका के अयोध्या काण्ड में इसे यथा-स्थान रख दिया है। हिन्दी साहित्य में निर्णयोपमा अलंकार का यह सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। एक बात और है। मुख यदि चन्द्र और कमल से सुन्दर न होता तो हम प्रिया का मुख-चन्द्र देखने को तरसते ही क्यों ? देखने के लिए कमल और चन्द्र तो प्रकृति की विभूतियाँ हैं ही जिनके लिए हमें कुछ देना नहीं पड़ता। फिर सीता जी के मुख के लिए 'ताते मुख मुखै सखी कमलौ न चन्द री' कहकर कवि ने कौन-सा पाप किया ?

सरयू के तीर पर खेलते हुए चारों भाइयों का रूप देखिए—

पीरी पीरी पाट की पिछौरी कटि केसौदास,
पीरी पीरी पागैं, पग पीरियै पनहियाँ।
बड़े बड़े मोतिन की माला बड़े बड़े नैन,
भृगुटी कुटिल नान्ही नान्ही बघ-नहियाँ।
बोलनि, चलनि, मृदु हँसनि चितौनि चारु,
देखत ही बनै बैन कहत बनै नहियाँ।
सरजू के तीर तीर खेलैं चारों रघुबीर,
हाथ द्वै द्वै तीर, राती रातियै धनुहियाँ॥

राम की शोभा का वर्णन भला कौन कर सकता है ?

जाकी किरपा सोभिजति, सोभा सब संसार।

फिर भी कवि ने यत्न किया है। सफलता कहाँ तक मिली है, यह पाठक ही देखें—

गंगा जल की पाग सिर, सोहत श्री रघुनाथ।
सिव सिर गंगा जल किधौं, चन्द्र चन्द्रिका साथ॥

× × ×

श्रवण मकर कुंडल लसत, मुख सुखमा एकत्र।
ससि समीप सोहत मनो, श्रवण मकर नक्षत्र॥

लोक-जीवन

केशव कोरे आदर्शवादी नहीं थे। उस आदर्श का मूल्य ही क्या, जिसका लोक-जीवन में उपयोग न किया जा सके? केशव ने जीवन के जो आदर्श स्थापित किये हैं, उनका व्यावहारिक जीवन में उपयोग है।

विवाह के उपरान्त वर के पिता के रूप में दशरथ कहते हैं—

हमको तुमसे नृपति की, दासी दुर्लभ राज।
पुनि तुम दीनी कन्यका, त्रिभुवन की सिर-ताज॥

कितना विनय है दशरथ के इस कथन में! यहाँ दशरथ एक आदर्श वर के पिता के रूप में चित्रित किये गये हैं।

राम-राज्य के रूप में केशव ने आदर्श राज्य का चित्र उपस्थित किया है। सुख ढूँढ़ने केशव को स्वर्ग नहीं जाना पड़ा; धरती को ही उन्होंने सुखों का स्वर्ग बना दिया। राम-राज्य की ऐसी व्यावहारिक कल्पना का तुलसी के काव्य में भी अभाव है—

सबै जीव हैं सर्वदानन्द पूरे। क्षमी, संयमी, विक्रमी, साधु सूरे॥
युवा सर्वदा सर्व विद्या विलासी। सदा सर्व सम्पत्ति शोभा प्रकासी॥
चिरंजीव संयोग योगी अरोगी। सदा एक पत्नी व्रती भोग भोगी॥
सबै पुत्र पौत्रादि के सुक्ख साजैं। सबै भक्ति माता-पिता के बिराजैं॥
सबै सुन्दरी सुन्दरी साधु सोहैं। शची-सी सती-सी जिन्हैं देखि मोहैं॥
सबै प्रेम की पुण्य की सद्मिनी-सी। सबै पुत्रिणी चित्रिणी पद्मिनी-सी॥

रावण के महल का वैभव-विलास मध्य-कालीन राजाओं और सामन्तों के हरम-सा लगता है—

कहूँ किन्नरी किन्नरी लै बजावैं। सुरी आसुरी बाँसुरी गीत गावैं॥
पियै एक हाला, गुथै एक माला। बनी एक बाला नचै चित्रसाला॥
कहूँ कोकिला कोककी कारिकाकों। पढ़ावै सुआ लै सुकी सारिका कों॥

कविप्रिया में कवि ने राजा, दलपति, मन्त्री और दूत के जो गुण बताये हैं, वे आधुनिक युग के राष्ट्रपति, सेनापति, मन्त्री और दूत के लिए आदर्श और अनुकरणीय हैं—

राजा वर्णन—

प्रजा, प्रतिज्ञा, पुण्य पन, धर्म, प्रताप, प्रसिद्धि।
शासन नाशन शत्रु के, बल विवेक की वृद्धि॥
दण्ड, अनुग्रह, धीरता, सत्य, शूरता, दान।
कोश, देश-युत बरणिये, उद्यम, क्षमा-निधान॥

दलपति वर्णन—

स्वामि-भगत, श्रमजित, सुधी, सेनापती अभीत।
अनालसी, जनप्रिय, जसी, सुख, संग्राम अजीत॥

मन्त्री वर्णन—

राजनीति रत, राज-रत, शुचि, सरवज्ञ, कुलीन।
क्षमा, शूर, यश, शीलयुत, मन्त्रा-मन्त्र प्रवीन॥

दूत-वर्णन—

तेज बढ़ै निज राज को, अरि डर उपजै छोभ।
इंगित जानहिं समय-गुण, बरनहुँ दूत अलोभ॥

तड़ाग भी कवि को इसी कारण सुन्दर लगता है कि वह—

आपु धरैं मल औरनि केसव निर्मल गात करैं चहुँ ओरैं।
पंथिन के परिताप हरैं हठि ··· ··· ··· ॥
ज्यावत जीव निहारिनि को, निज बंधन कै जग बन्धन छोरैं॥

केशव को देश-काल की परिधि में नहीं बाँधा जा सकता। वे मानवता के कवि हैं।

प्रकृति

प्रकृति को भारतीय कवि-परम्परा ने उद्दीपन के ही रूप में देखा है। फिर केशव के सिर ही सारा दोष क्यों मढ़ा जाय? उनका पंचवटी वर्णन—

सब जाति फटी दुख की दुपटी कपटी न रहै जहँ एक घटी।
निघटी रुचि मीचु घटी हू घटी, जग जीव जतीन की छूटी तटी।
अघ ओघ की बेटी कटी-विकटी निकटी प्रकटी गुरु ज्ञान गटी।
बहु ओरन नाचत मुक्ति नटी गुन धूरजटी वन पंचवटी।

परम्परा-गत है। हनुमन्नाटक का पंचवटी-वर्णन भी बहुत-कुछ इसी प्रकार का है—

तरु तालीस तमाल ताल हिन्ताल मनोहर।
मंजुल बंजुल लकुच बकुच कुल केर नारियर।
एला ललित लवंग संग पुंगीफल सोहैं।
सारी शुक कुल कलित चित्त कोकिल अलि मोहैं।

शुभ राजहंस कलहंस कुल, नाचत मत्त मयूर गन।
अति प्रफुलित फलित सदा रहै, केशवदास विचित्र वन॥

वृक्षों और विहगों के नामों की यह सूची भी परम्परा-गत ही है। नामों की इस लम्बी सूची का भी एक युग था। यदि कविता में एक फल वा

फूल का नाम 'क' वर्ण से आरम्भ हो गया तो केरा, कदली, कनेर आदि 'क' से प्रारम्भ होनेवाले सभी फलों और फलों के नाम लिख दिये जाते थे। उस काल में कवि के बुद्धि-वैभव की परख की यही कसौटी थी। रघुराज और लछिराम ने राम की बरात के वर्णन में घोड़ों की जातियाँ तक गिनाई हैं। जायसी ने पदमावत के पूरे एक सर्ग में पकवानों की तालिका प्रस्तुत की है। सूर और तुलसी भी इससे अछूते नहीं बचे हैं।

जहाँ प्रकृति-चित्रण में उनकी मौलिक अनुभूतियाँ हैं, वहाँ वे किसी से पीछे नहीं हैं। राम-चन्द्रिका का प्रभात-वर्णन देखिए—

जागिए त्रिलोक देव, देव-देव रामदेव,
भोर भयो, भूमि देव भक्त दरस पावैं।
गगन उदित रवि अनन्त, शुक्रादित ज्योतिवन्त,
छनछन छबि छीन होत, लीन पीन तारे।
तरणि किरण उदित भई, दीप ज्योति मलिन भई,
सदय हृदय बोध उदय, ज्यौं कुबुद्धि नासै।
चक्रवाक निकट गई चकई मन मुदित भई,
...निशि बिन दुति-हीन चन्द...... ॥

ऐसी प्रांजल और माधुर्यपूर्ण भाषा में प्रभात का वर्णन करनेवाले कवि को हृदय-हीन कहना किसी प्रकार उचित नहीं है।

लक्ष्मण के मुँह से जनकपुर में एक प्रभात का वर्णन इस प्रकार है—

अरुण गात आत प्रात पद्मिनी प्राणनाथ भय।
मानहु केसवदास कोक नद कोक प्रेम-मय।
परिपूरण सिंदूर पूर कैधौं मंगल घट।
किधौं शक्र को छत्र मढ़्यो माणिक मयूख पर॥
कै श्रोणित कलित कपाल यह, किलकापालिक काल को।
यह ललित लाल कैधौं लसत दिग-भामिनि के भाल को॥

लक्ष्मण ऊषा का सौन्दर्य इससे अधिक सोच ही नहीं सकते। वही लक्ष्मण, जिन्हें चूड़ियों की सुहानी रागिनी से जंगली जानवरों की दहाड़ अधिक प्यारी थी, वही लक्ष्मण, जिन्हें नवागता पत्नी के आँसू कर्म-पथ से न हटा सके थे, उन्हीं लक्ष्मण की भाषा में कवि बोल रहा है।

वीरसिंह के उपवन की एक झाँकी देखिए—

बोलत मोर बार ही बार। गुदरत है मानो प्रतिहार॥
फूले फूल द्रुमन तैं झरैं। आनंद आँसू भरि जनु ढरैं॥
फूली फैलि केतकी कली। सोहति तिन पै अलि आवली॥

अब तनिक तपोवन की ओर एक दृष्टि डालिए—

'केसोदास' मृगज बछेरू चूसैं बाघिनीनि,
चाटत सुरभि बाघ-बालक बदन है।
सिंहन की सटा एँचे कलभ करनि करि,
सिंहन को आसन गयंद को रदन है।
फणी के फननि पर नाचत मुदित मोर,
क्रोध न बिरोध जहाँ मद न मदन है।
बानर फिरत डोरे डोरे अंध तापसन,
ऋषि को निवास किधौं सिव को सदन है॥

ऋतु

षड्ऋतुओं का वर्णन कवि ने बहुत सरसता से किया है। 'शरद' का एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

सोभा को सदन, ससि बदन मदन कर,
बन्दै नरदेव कुबलय बरदाई है।
पावन पद उदार, लसति हंस क भार,
दीपति जलज हार दिसि दिसि धाई है॥

चितक चिलक चारु लोचन कमल रुचि,
चतुर चतुर मुख जग-जिय भाई है।
अमर अम्बर नील लीन पीन पयोधर,
केसौदास सारदा कि सरद सुहाई है॥

वर्षा का एक पद देकर यह प्रसंग समाप्त किया जाता है—

केशव सरिता सकल मिलत सावन मन मोहैं।
ललित लता लपटान तरुन तर तरवर सोहैं॥
रुचि चपला मिलि मेघ चपल चमकत चहुँ ओरन।
मन-भावन कहँ भेंटि भूमि कूजत मिस मोरन॥

गोस्वामी जी के—

वरषहिं जलद भूमि नियराये। जथा नवहिं बुध विद्या पाये॥

वाले वर्षा के वर्णन से तुलना कर तनिक सहृदयता से परखिए, तो पता लग जायगा की कौन वर्णन कैसा है।

कथोपकथन

केशव कवि के साथ-साथ सुयोग्य नाटककार भी थे। उनका 'विज्ञान-गीता' विश्व के सुन्दरतम महाकाव्यों में से एक है। पात्रों का चुनाव उन्होंने सुन्दरता से किया है। उदाहरणार्थ नायकों को देखिए—

मोह—राजा। मिथ्या-दृष्टि—रानी। पाषण्ड—राज-पुरोहित। झूठ—प्रधान सेनापति। व्यभिचार—राजकुमार। कलंक—राजा का पौत्र। काम—राजा का भाई। रति—काम की स्त्री।

दूसरी ओर के पात्रों में विवेक, जीव, वेद, सिद्धि, करुणा, श्रद्धा और

शान्ति मुख्य हैं। अमूर्त्त पात्रों को मूर्त्त मानकर केशव ने उनसे जो संवाद कराये हैं, वे बहुत उत्तम हैं। पाठक की जिज्ञासा बराबर बनी रहती है। नाटक के शास्त्रीय दृष्टि-कोण से भी यह रचना अनुपम है।

राम-चन्द्रिका में आवश्यकतानुसार यत्र-तत्र पात्रों के कथोपकथन मिलते हैं। इनमें 'लक्ष्मण परशुराम संवाद', 'भरत कैकेयी संवाद', 'सीता हनुमान संवाद', 'हनुमान रावण संवाद' और 'अंगद रावण संवाद' उल्लेखनीय हैं। संवादों की भाषा बोल-चाल की है। पात्रों की जिज्ञासा, उनके प्रश्नोत्तर और बात-बात में व्यंग्य-विनोद पाठकों का मन मोह लेते हैं। 'भरत कैकेयी-संवाद' का एक दृश्य लीजिए—

'मातु ! कहाँ नृप ?''तात ! गए सुर-लोकहिं''क्यों ?''सुत शोक लए।'
'सुत कौन ?' 'सुराम' 'कहाँ हैं अबै ?''बन लक्ष्मण सीय समेत गये॥'
'बन काज कहा कहि ?' 'केवल मो सुख' 'तोकों कहा सुख यामें भये?'
'तुमको प्रभुता' 'धिक तोकों ! कहा अपराध बिना सिगरेई हए ?''

इस प्रश्नोत्तर पर ध्यान दीजिए। इसी में आगे की कथा फिसलती चली आती है।

'रावन हनुमान संवाद' की झलक देखिए—

'रे कपि कौन तु अच्छ को घातक ?' 'दूत बली रघुनन्दन जू कौं।'
'को रघुनंदन रे ?' 'त्रिसिरा-खरदूषन-दूषन भूषन भू कौं॥'
'सागर कैसे तर्खो ?' 'जैसे गोपद','काज कहा ? 'सिय-चोरहि देखौं।'
'कैसे बँधायो' ? 'जो सुंदरी तेरी छुई दृग सोवत, पातक लेखौं॥'

साधारण बोल-चाल की भाषा में कवि ने कितने पते की बात कह दी है ! छन्द की अन्तिम पंक्ति पर ध्यान दीजिए। इसमें व्यंग्य यह है कि मैं तो तुम्हारी सोई हुई सुन्दरी को देखने के कारण ही बाँधा गया। पर सीता को चुरा लाने के कारण तुम्हारी जो दशा होगी, वह सोचो।

कला-पक्ष

'भूषण बिन न बिराजई बनिता कविता मित्र' के समर्थक केशव में अलंकारों की बहुलता स्वाभाविक ही है। किन्तु कोरे चमत्कार-प्रदर्शन के लिए केशव ने अलंकारों का प्रयोग नहीं किया है; और इसके कारण कहीं रस-भंग भी नहीं होता। अलंकार काव्य के आवश्यक गुण होते हुए भी पूरक रूप में ही आये हैं—

कुन्तल ललित नील भृकुटी धनुष नैन,
कुमुद कटाछ बान सबल सदाई है।
सुग्रीव सहित तार अंगदादि भूषनन,
मध्य देश केसरी सु गज-गति भाई है।
विग्रहानुकूल सब लक्ष लक्ष ऋक्षबल
ऋक्षराज मुखी मुख केशोदास गाई है।
रामचन्द्र जू की चमू राज्य-श्री विभीषण की
रावण की मीचु दर कूच चलि आई है।

इसमें श्लेष का ही चमत्कार नहीं है, रामचन्द्र की सेना, विभीषण की राज्य-श्री और रावण की मृत्यु में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध भी हैं।

कवि-प्रिया का कवि कविता-कामिनी के साथ खिलवाड़ करता दिखाई पड़ता है। कविता पर कवि का इतना अधिकार है कि वह उसे जिस ओर चाहता है, ले जाता है। यदि उसकी लेखनी ने दो अक्षरों में ही रचना करने की सोच ली तो मजाल नहीं कि तीसरा अक्षर आ जाय। और विशेषता यह कि अर्थ भी स्पष्ट है; खींच-तान की आवश्यकता नहीं—

हरि हीरा राही हर्यो, हेरि रही ही हारि।
हरि हरि हौं हाहा ररौं, हरे हरे हरि रारि॥

'ह' और 'र' दो ही अक्षरों का इस दोहे में प्रयोग हुआ है। यदि 'कठिन काव्य के प्रेत' की धारणा लेकर पढ़िए, तो इसमें कुछ भी नहीं है। किन्तु कवि को आपकी सहृदयता की अपेक्षा है। तनिक अन्वय करने का कष्ट कीजिए। कोई सखी कह रही है—

हरि (कृष्ण) ने राह में हीरा (हृदय) हर लिया (चुरा लिया)। मैं उसे हेरकर हार रही। बार बार 'हरि हरि' कहकर मैं उनसे हाहा खाने लगी (विनती करने लगी) कि हरि, इस रारि (झगड़े) का अन्त करो।

केशव ने सर्वत्र इसी प्रकार की सरल भाषा का प्रयोग किया है। भाव के स्पष्टीकरण के लिए केशव की कविता पाठक से धैर्य और अन्वय-चातुरी की अपेक्षा रखती है।

केशव की पहेलियाँ भी हिन्दी साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। कवि-प्रिया में केवल उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए उन्होंने कुछ पहेलियाँ बनाई हैं। यदि वे इधर ध्यान देते तो इस क्षेत्र में भी वे अद्वितीय ही रहते। एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

कहा न सज्जन चुवत, कहा सुन गोपी मोहित।
कहा दास को नाम, कवित में कहियत को हित॥
को प्यारो जग माहिं, कहा छत लागे आवत।
को वासर को करत, कहा संसारहिं भावत॥
कहु काहि देखि कायर कँपत आदि अन्त को है सरन।
तहँ उत्तर केशवदास दिय 'सबै जगत शोभा-धरन'॥

पद का अन्तिम चरण 'सबै जगत शोभा-धरन' अन्तिम प्रश्न का उत्तर है। इसके अन्तिम अक्षर न के पहले इसके एक एक अक्षर को क्रमशः

मिलाने में अन्य प्रश्नों के उत्तर निकलते हैं। जैसे प्रथम प्रश्न 'कहा न सज्जन ब्रुवत' का उत्तर होगा—सन। इसी प्रकार शेष प्रश्नों के उत्तर क्रमशः जन, गन, तन शोन, भान, धन और रन हैं। शब्द-योजना का कैसा अपूर्व चातुर्य है!

चित्रालंकारों का प्रयोग निश्चय ही विशुद्ध कला के दृष्टि-कोण से हुआ है; अर्थ-दुरूहता भी इनमें कम नहीं है। केशव के लगभग पचीस छन्दों का अर्थ अब तक किसी से नहीं हो सका है; किन्तु इसके लिए कवि से अधिक टीकाकार ही उत्तरदायी हैं। कवि अपनी बात समझाने के लिए टीकाकार तक नहीं आ सकता, टीकाकार को ही ऊँचे उठकर कवि के आशय तक पहुँचना होगा।

गतागत और व्यस्त-गतागत के क्षेत्र में केशव अकेले हैं। देव आदि ने भी गतागत लिखने का प्रयत्न किया है, किन्तु इतना शुद्ध गतागत वे नहीं लिख पाये हैं। यदि हिन्दी के पास केशव न होते तो गतागत और व्यस्त गतागत के उदाहरण के लिए हमें संस्कृत साहित्य की ही शरण लेनी पड़ती; व्यस्त-गतागत के विचार से विश्व-साहित्य के क्षेत्र में केशव का सर्वोच्च स्थान है।

गतागत—सूधो उलटो बाँचिये एकहि अर्थ प्रमान। यथा—

मा सम सोह, सजै बन, बीन नवीन बजै, सह सोम समा।
मार लतानि बनावति सारि रिसाति बनावनि ताल रमा॥
मानव ही रहि मोरद मोद दमोदर मोहि रही वनमा।
माल बनी बल केसवदास सदा बसकेल बनी बलमा॥

व्यस्त गतागत—सूधो उलटो बाँचिये, औरे औरे अर्थ।
एक सवैया में सुकवि, प्रकटत होइ समर्थ॥ यथा—

सैन न माधव, ज्यों सर कै सब रेख सुदेस सुबेस सबै।
नैनब की नचि जी तरुनी रुचि चीर सबै निमि-काल फलै।
तै न सुनी जस मीर भगी धरि धीरऽब रीति सुकोन बहै।
मैन मनी गुरु चाल चलै सुभ सो वन मैं सरसीव लसै॥

इसे उलटकर पढ़ने से निम्न सवैया बनेगा—

बैस सबेसु सदेसु खरे बस कै रस ज्यों वध मान नसै।
लै फल कामिनि, बैस रची, चिरु, नीरुत जी चित की बननै॥
है बन कोसु ति, री, बर धीर धरी भरमी सजनी सुन तै।
सैल बसी रस मैं नव सोम सुलै चल चारु गुनी मन मै॥*

आचार्यत्व

'कवि-प्रिया' के प्रारम्भ में ही कवि लिखता है—

समुझैं बाला बालकन, वर्णन पंथ अगाध।
कवि-प्रिया केशव करी, छमियो कवि अपराध॥

और अन्त में उसकी कामना है—

पल पल प्रति अवलोकिबो, सुनिबो गुनिबो चित्त।
कवि प्रिया को रक्षिये, कवि प्रिया ज्यों मित्त॥
अनल अनिल जल मलिन ते, विकट खलन ते नित्त।
कवि-प्रिया को रक्षिये, कवि प्रिया ज्यों मित्त॥

कवि-प्रिया की हमने कितनी रक्षा की, इसे यदि केशव जान पाते तो आठ-आठ आँसू रोते। 'अनल अनिल और जल' से बचकर कवि-प्रिया 'विकट खलन' के हाथ में पड़ ही गई और हम खड़े मुँह ताकते रहे! खुदा को पता

---

* यह भी उन्हीं २५ छन्दों में से एक है, जिनके अर्थ अभी तक निश्चित नहीं हो पाये हैं।

ही न चला और शैतान ने आदम को गेहूँ का दाना खिला दिया। उलटे, वर्णन के अगाध पंथ को 'बाला बालकन' के लिए सरल बनानेवाले कवि-प्रिया के कवि को हमने उपेक्ष्य बना डाला !

सुनिए, कवि उपमा का लक्षण बता रहा है—

रूप रंग गुन काहु को, काहू के अनुसार।
ताको उपमा कहत हैं जे सुबुद्धि आगार॥
जाको वर्नन कीजिए सो 'उपमेय' प्रमान।
जाकी समता दीजिए ताहि कहिय 'उपमान'॥
उपमेऽरु उपमान में समता जेहि हित होय।
सो साधारन 'धर्म' है, कहत सयाने लोय॥
सो, से, सी, इव, तूल, लौं, सम, समान उर आन।
ज्यों, जैसे, इमि, सरिस, जिमि, उपमा-वाचक जान॥

यमक के दो उदाहरण भी देख लीजिए—

आदि-पद यमक—

सजनी सज नीरद निरखि, हरषि नचत इत मोर।
पीय पीय चातक रटत, चितवहु पिय की ओर॥

पादान्तपादादि यमक—

आप मनावत प्राण-पिय, मानिनि मान निहार।
परम सुजान सुजान हरि, अपने चित्त विचार॥

कवि ने कितनी सरल, शुद्ध और परिमार्जित भाषा का प्रयोग किया है ! हिन्दी के अलंकार जगत में इतने सरल उदाहरण कठिनता से ही मिलेंगे।

रसिक-प्रिया भी कवि-प्रिया की भाँति ही उनके आचार्यत्व का प्रतीक है। रस के शास्त्रीय विचार कवि ने इतनी सरल भाषा में पाठकों के सम्मुख उपस्थित किये हैं कि साधारण विद्यार्थी भी उन्हें समझ सकता है।

हाव के कुछ उदाहरण देखिए—

प्रेम राधिका कृष्ण को, है ताते शृंगार।
ताके भाव प्रभाव ते उपजत हाव विचार॥

हेला हाव—

पूरण प्रेम प्रताप तें, भूलत लाज समाज।
सोहे लाजहि हरत हिय, राधा श्री ब्रजराज॥

मद हाव—

पूरण प्रेम प्रभाव तें, गर्व बढ़ै बहु भाव।
तिन के तरुण विकार ते, उपजत है मद हाव॥

किलकिंचित हाव—

श्रम, अभिलाष, सगर्व, स्मित, क्रोध, हरष, भय भाव।
उपजत एकहि बार जहँ तहँ किलकिंचित हाव॥

इन लक्षणों में पारिभाषिक शब्दों के अतिरिक्त कठिन कहने को कुछ भी नहीं है। पारिभाषिक शब्दों को तो सरल बनाया नहीं जा सकता। और यदि कोई हठकर बनाना ही चाहे तो वैसा ही होगा, जैसा किसी ने 'टिकट बाबू' के लिए 'लौह-पथ-गामिनी-प्रवेश-पत्र-विक्रेता' पद बनाया है।

कम से कम शब्दों में केशव ने लक्षण इस प्रकार कहे हैं कि वे सूत्र से जान पड़ते हैं। उदाहरणार्थ हास्य के भेद देखिए—

मन्द हास—विकसहिं नयन कपोल कछु,
कल हास—जहँ सुनिये कल ध्वनि कछू, कोमल विमल विलास।
अतिहास—जहाँ हँसे निरसंक ह्वै, प्रगटे सुख मुख बास।
आधे आधे वरण पद, उपज परत अति हास॥

अन्य रसों और भावों आदि के वर्णन भी इसी प्रकार के हैं।

होहिं वीर उत्साह मय, गौर वर्ण दुति अंग।
अति उदार गम्भीर कहि, केसवदास प्रसंग॥
होहि भयानक रस सदा, केशव स्याम शरीर।
जाको देखत सुनत ही, उपजि परे भय-भीर॥

आचार्य केशवदास भक्ति-काल के अन्तिम और रीति-काल के प्रथम कवि हैं। जहाँ एक ओर उनमें अपनी असाधारण प्रतिभा से चमत्कृत कर देने की शक्ति है, वहीं दूसरी ओर उनकी भावुकता पाठकों को आत्म-विस्मृत कर देती है। पर हिन्दी के पठन-पाठन में उनके ग्रन्थों को कितना स्थान मिलता है?

केशव का वास्तविक समालोचक समय है। इतनी उपेक्षा के बाद भी वे जी रहे हैं, यही क्या कम है!

भाषा

आचार्य केशवदास उस कुल में उत्पन्न हुए थे, जिसके दास भी भाषा नहीं, संस्कृत ही बोलते थे। यही कारण है कि केशव की भाषा में संस्कृत शब्दों का बाहुल्य है। बुन्देलखण्ड में बोले जानेवाले कुछ शब्द भी केशव के काव्य में जहाँ-तहाँ बिखरे पड़े हैं। शब्दों को तोड़ने-मरोड़ने की उन्हें आवश्यकता नहीं पड़ी है, संस्कृत के शब्द प्रायः अपने स्वाभाविक रूप में ही और ज्यों के त्यों आये हैं।

राम-चन्द्रिका के अतिरिक्त अन्य रचनाओं में प्रसाद गुण पर्याप्त मात्रा में है। रसिक-प्रिया और कवि-प्रिया के लक्षण सरल भाषा में हैं; हाँ उदाहरण कहीं-कहीं कठिन अवश्य हो गये हैं। भाषा कहीं-कहीं अलंकारों का बोझ सँभाल सकने में असमर्थ हो गई है।

विदेशी शब्दों को केशव ने भारतीय साँचे में ढाल लिया है। सोने के आभूषण पर जड़े रत्नों के समान विदेशी शब्द केशव के काव्य की शोभा ही बढ़ाते हैं। यथा—

सोरिये सरीर गति भई रजनीस की।

× × ×

सुनत श्रवण बकसीस एक ईस की।

संस्कृत के श्रवण के साथ फारसी का 'बख्शिश' 'बकसीस' बनकर इस तरह घुल-मिल गया है कि इसे पहचानना कठिन है।

केशव के प्रति उपेक्षा का सबसे बड़ा दुष्परिणाम यह हुआ कि हम जान न सके कि तत्कालीन (मुगल कालीन) राज-भाषा (फारसी) का प्रयोग भारतीय पण्डित-मण्डली में किस प्रकार होता था। भारतीय संस्कृति की छत्र-छाया में पले अरबी-फारसी के शब्दों का अगाध समुद्र 'वीरसिंह देव चरित' और 'जहाँगीर जस-चन्द्रिका' में भरा पड़ा है जो हमारे कोशकारों के लिए बहुत महत्त्व का है।

पूर्वा

धर्म काम अरु नीति के सुरभित सुमन उदार।
वीणा-वादिनि-सुत सरस कविता के शृंगार॥
भारत माता पा तुम्हें हुई कवीन्द्र निहाल।
अपराजेय, नवीन चिर, सुकवि, विहारीलाल।

बिहारी

जन्म—सं० १६६०　　　　　　　　　　　　　　निधन—सं० १७२०

ग्वालियर के पास बसुआ गोविन्दपुर नामक गाँव में बिहारी का जन्म हुआ था। एक दोहे में 'केसो केसोराइ' शब्द आने से आपके पिता का नाम केशवराय नाम अनुमान किया जाता है। कुछ लोग इसका सम्बन्ध आचार्य केशवदास जी से भी जोड़ते हैं। आपका यौवन ससुराल (मथुरा) में बीता था। श्वसुर-गृह में रहनेवाले व्यक्ति के वंश-नाम के स्थान पर प्रायः श्वसुर वंश का ही नाम लगाया जाता है। हो सकता है कि आपके माथुर चौबे कहलाने का यही रहस्य हो। आप की धर्मपत्नी भी कवयित्री थीं।

आप मिर्जा राजा जयसिंह (जय शाह) के आश्रित थे। जयसिंह से आपकी भेंट के विषय में एक बहुत मनोरंजक जनश्रुति प्रचलित है। कहा जाता है कि जयसिंह अपनी नवागता रानी के प्रेम-पाश में राज-काज भूलकर उलझ गये थे। बिहारी ने उनके पास निम्न दोहा लिख भेजा—

नहिं परागु, नहिं मधुर मधु, नहिं विकास एहि काल।
अली कली ही सौं बँध्यौ आगें कौन हवाल॥

इस दोहे के परिणाम-स्वरूप राजा कर्त्तव्य क्षेत्र में आये और बिहारी का सम्मान बढ़ा।

बिहारी के सम्बन्ध में निम्न दोहे प्रचलित हैं—

जनम भये द्विजराज कुल, सुबस बसे ब्रज आइ।
मेरो हरो कलेस सब, केसव केसवराइ॥—बिहारी

× × × ×

जनम ग्वालियर जानिये, खण्ड बुँदेले बाल।
तरुनाई आई सुघर मथुरा बसि ससुराल॥ —?

बिहारी के जीवन का प्याला विधि ने अभावों से ही भरा था। जीवन में जितनी कटुता बिहारी को मिली थी, उतनी शायद हिन्दी के अन्य किसी कवि को नहीं। घर के तो सम्पन्न न थे, किन्तु ससुराल इन्हें सम्पन्न मिली थी। अनुमान किया जा सकता है कि पति-पत्नी का सम्बन्ध किस प्रकार का रहा होगा। जीवन में कभी दुध-मुँहे पुत्र का चुम्बन इन्हें नसीब न हुआ। ससुराल में ही इन्होंने जीवन बिता दिया। वहाँ भी इनका विशेष सम्मान न था, जैसा कि निम्न पंक्तियों से प्रकट होता है—

> आवत जात न जानियतु, तेजहिं तजि सियरानु।
> घरहुँ जँवाई लौं घट्यौ, खरौ पूस-दिन-मानु॥

किन्तु कटुता से बिहारी ने कभी हार न मानी। जीवन की सारी कटुता रुद्र के समान पीकर उन्होंने हिन्दी साहित्य को अमृत प्रदान किया। 'सूधो पाँय न धरि परत सोभा ही के भार' के कवि की जिन्दादिली में कितना आँसू और उपालम्भ भरा है, किसने जान पाया है?

गागर में सागर

बिहारी ने जीवन भर में कुल चौदह सौ अड़तिस पंक्तियाँ लिखी हैं। न तो इन्होंने कोई महाकाव्य लिखा और न नायिका-भेद। फिर भी हिन्दी संसार ने इन्हें महाकवि के आसन पर प्रतिष्ठित किया। बिहारी सतसई की जितनी टीकाएँ हो चुकी हैं, उतनी 'मानस' के अतिरिक्त अन्य किसी ग्रंथ की न हुई होंगी। पं० पद्मसिंह शर्मा के शब्दों में यदि 'सूर सूर तुलसी शशी' हैं तो बिहारी पीयूषवर्षी मेघ हैं, जिनके आते ही सबकी ज्योति मन्द पड़ जाती है।

दोहे जैसे अड़तालिस मात्राओं के छोटे-से मात्रिक छन्द में इतना अधिक भाव बिहारी ने भर दिया है कि दाँतों तले उँगली दबा लेनी पड़ती है। बिहारी

की आलोचना करनेवालों की कमी नहीं है। किन्तु हम दावे के साथ कह सकते हैं कि यदि हिन्दी के पास बिहारी न होते तो उर्दू की गजलों और उनकी चुभती फब्तियों का उत्तर देना हिन्दी साहित्य के लिए कठिन हो जाता। आज हम गर्व से बिहारी को आगे रखकर सम्पूर्ण उर्दू साहित्य को चुनौती दे सकते हैं। पं० पद्मसिंह शर्म्मा द्वारा दिये हुए वियोग-जन्य कृशता के एक उदाहरण से बात स्पष्ट हो जायगी—

नातवानी ने बचाई जान मेरी हिज्र में।
कोने कोने ढूँढ़ती फिरती कजा थी, मैं न था॥—जफर।
इन्तहाये लागरी से जब नजर आया न मैं।
हँस के वो कहने लगे बिस्तर को झाड़ा चाहिए॥—नासिख।
मुझ जुल्म के मारे को न जंजीर पिन्हाओ।
काफी है मेरी कैद को एक मकड़ी का जाला॥—नजीर।
करी बिरह ऐसी, तऊ, गैल न छाड़तु नीचु।
दीनैं हूँ चसमा चखनु, चाहै लहै न मीचु॥—बिहारी।

उर्दू के तीनों महाकवियों ने वियोग-जन्य कृशता का सुन्दर चित्र खींचा है; किन्तु मृत्यु के चश्मा लगाकर भी न देख सकने की कृशता कोई न ला सका। जफर साहब ने बिहारी तक पहुँचने का प्रयत्न अवश्य किया है, पर 'मैं न था' से जान पड़ता है जैसे मौत से डरकर वे भाग गये थे, जब कि बिहारी का विरह गैल न छोड़ने पर तुला है।

बिहारी की दो पंक्तियों में जिस सद्यः स्नाता नायिका का चित्र साकार हो उठा है, उसे भावनाओं में बाँधने में देव जैसे महाकवि को आठ पंक्तियों की आवश्यकता पड़ी—

बिहँसति सकुचति सी दिए, कुच-आँचर-बिच बाँह।
भींजैं पट तट कौं चली, न्हाइ सरोवर माँह॥

× × ×

पीत रंग सारी गोरे अंग मिलि गई 'देव'
श्रीफल उरोज आभा आभासे अधिक सी।
छूटी अलकनि छलकनि जल बूँदनि की,
बिना बेंदी बन्दन वदन सोभा बिकसी।
तजि तजि कुंज पुंज ऊपर मधुप गुंज,
गुंजरत मंजु रव बोले बाल पिक सी।
नीबी उकसाइ, नेकु नयन हँसाइ, हँसि
ससि-मुखि सकुचि सरोवर तें निकसी॥

कविता की जितनी ठोस बन्दिश बिहारी और दाग में पाई जाती है, उतनी अन्य कवियों में नहीं। इनका एक-एक अक्षर और एक-एक मात्रा अपना महत्त्व रखती है। शब्दों को हटाना तो दूर रहा, आगे-पीछे कर देने से भी अर्थ का अनर्थ हो सकता है।

सांग रूपक के क्षेत्र में तुलसीदास बे-जोड़ हैं; किन्तु उनके रूपक बहुत दूर तक चलते रहते हैं। दोहे जैसे छोटे छन्द में बिहारी का धनुष-वाला सांग रूपक देखिए—

खौरि-पनिच, भृकुटी धनुष, बधिकु समरु, तजि कानि।
हनतु तरुन-मृग तिलक-सर, सुरक-भाल भरि तानि॥

भाव इस तरह भरे हैं कि देखते ही बनता है। जिन कथानकों के आधार पर महाकाव्य और खण्ड काव्य की रचना हो सकती है, उन्हें बिहारी ने अपने दोहे में भर दिया है—

डिगत पानि, डिगुलात गिरि, लखि सब ब्रज बेहाल।
कंपि किसोरी दरसि कै, खरैं लजाने लाल॥

रूप

नायिका का रूप-वर्णन करने में बिहारी की कल्पना ने बहुत दूर की उड़ान भरी है। उनके रूप-विधान में अतिशयोक्ति आवश्यकता से अधिक मात्रा में है जो पाठकों को कभी-कभी खिझा भी देती है—

चमचमात चंचल नयन, बिच घूँघट-पट झीन।
मानहु सुर सरिता-विमल, जल उछरत जुग मीन॥
सहज सेत पँच तोरिया, पहिरत अति छवि होति।
जल-चादर के दीप लौं, जगमगाति तन-जोति॥
पत्रा हीं तिथि पाइयै, वा घर कैं चहुँ पास।
नित प्रति पून्योई रहै, आनन-ओप-उजास॥
बाल लाल बेंदी ललन, आखत रहे बिराजि।
इन्दु-कला कुज मैं बसी, मनौं राहु भय भाजि॥

कोमलता और सुन्दरता के लिए आसमान से तारे तोड़ लाना बहुत हास्यास्पद-सा लगता है—और वह भी मानवी के वर्णन में। फिर भी कला की दृष्टि से ये रचनाएँ बहुत उत्कृष्ट हैं।

नायिका कोमल इतनी है कि—

छाले परिबे कैं डरनु सकै न हाथ छुआइ।
झझकत हियै गुलाब कै, झँवा झँवैयत पाइ॥
भूषन-भारु सँभारिहै, क्यों इहिं तन सुकुमार।
सूधे पाइ न धर परैं, सोभा ही कैं भार॥
अरुन-बरन, तरुनी-चरन अँगुरी अति सुकुमार।
चुवत सुरँगु रँगु सी मनौ, चपि बिछियनु कैं भार॥

बिहारी की ग्रामीणा का रूप देखिए—

गोरी गदकारी परै, हँसत कपोलनु गाड़।
कैसी लसति गँवारि यह, सुनकिरवा की आड़॥
पहुला-हारु हियैं लसै, सन की बेंदी भाल।
राखति खेत खरे-खरे, खरे-उरोजनु बाल॥

कालिदास के बाद बिहारी ने पहली बार गर्भवती नायिका का वर्णन किया है। किन्तु युग का वातावरण ही कुछ इस प्रकार का था कि कवि उसे मातृत्व के आसन पर प्रतिष्ठित न कर सका। वह प्रिया मात्र रह गई—

दृग थिरकौंहैं अध-खुलैं, देह थकौंहैं ढार।
सुरत सुखित-सी देखियति दुखित गरभ कैं भार॥

बिहारी को जीवन के सभी क्षेत्रों का बहुत गम्भीर अनुभव था; और अपनी प्रतिभा के बल पर वे चाहे जिस क्षेत्र के अनुभव को नायिका-भेद के साँचे में ढाल सकते थे। निम्न दोहों में रंग और राजनीति के सिद्धान्तों का प्रयोग वयःसन्धि अवस्था की नायिका के रूप-वर्णन में कितनी सुन्दरता से हुआ है—

छुटी न सिसुता की झलक, झलक्यौ जोबनु अंग।
दीपति देह दुहूनु मिलि, दिपति ताफता-रंग॥
अपने अँग कै जानि कै, जोबन-नृपति प्रवीन।
स्तन, मन, नैन, नितम्ब कौ, बड़ो इजाफा कीन॥

चम्पे की कली से नायिका का रंग-सादृश्य निम्न दोहे में देखिए—

रंच न लखियति पहिरि यौं, कंचन सैं तन बाल।
कुँभिलानैं जानी परै, उर चम्पक की माल॥

जरी की किनारीवाली साड़ी में नायिका का सौन्दर्य—

जरी कोर गोरैं बदन बढ़ी खरी, छवि देखु।
लसति मनौ बिजुरी किये, सारद-ससि-परिवेषु॥

बिहारी की दृष्टि बहुत सूक्ष्म-दर्शिनी थी। छींके पर से दही की हाँड़ी उतारते समय गोपी का रूप देखिए—

अहे! दहेंड़ी जिनि धरै, जिनि तूँ लेहि उतारि।
नीकैं है छींकैं छुवै, ऐसैई रहि नारि॥

जान पड़ता है, कोई कैमरामैन किसी सुन्दरी का फोटो ले रहा है! एक जगह रूप का आकर्षण क्षण-क्षण बढ़ता ही जाता है—

लिखन बैठि जाकी छबी, गहि गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर॥

प्रेम

परकीयावाली भावना पर आश्रित होने के कारण बिहारी के प्रेम में गार्हस्थ्य जीवन की पवित्रता का अभाव देख पड़ता है। काल्पनिक प्रेम के आदर्श हमारी अतृप्त पिपासा को भुलावे में डाल सकते हैं; किन्तु इतना तो मानना ही होगा कि प्रेम का स्वाभाविक आकर्षण शरीर से ही होता है। मोर को हम प्रथम दर्शन में ही प्यार करने लगते हैं, कोकिला की बोली सुन लेने के बाद ही हम प्यार करते हैं और कौवे को तो कभी प्यार कर ही नहीं पाते। रूप के प्रति हमारा आकर्षण पहले होता है और तब गुण हमारे प्रेम को पुष्ट करता है। हम गुण को भी प्यार करते हैं, किन्तु उसका आकर्षण प्रथम दृष्टि में नहीं होता—वह तो साहचर्य-जनित होता है। इसे दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि हम गुण के रूप को प्यार करते हैं। बिहारी के प्रेम का उद्देश्य ऐन्द्रिक तृप्ति है। संयोग पक्ष में विलास की भावना, वियोग में उसकी स्मृति और यदि पूर्व राग हुआ तो ऐन्द्रिक अतृप्ति, बस इन्हीं के घेरे

में बिहारी का प्रेम चक्कर काटता रहता है। तनिक उनके स्नेह-नगर का दर्शन कीजिए—

> छुटन न पैयतु छिनकु बसि, नेह-नगर यह चाल।
> मार्‍यो फिरि फिरि मारियै, खूनी फिरै खुस्याल॥

प्रेम हमें अमरता प्रदान करता है। प्रेमी हजार बार मरकर भी नहीं मरता; यह इसलिए कि प्रेम की प्यास कभी बुझ नहीं पाती, और जबतक हम जीवन-मुक्त न हो जायँ, मोक्ष हम से दूर रहता है। प्रेमी अपनी प्रिया की मद-भरी पलकों में खोकर इन्द्रासन भी ठुकरा देता है। दूर जाने की क्या आवश्यकता है, अष्टम एडवर्ड का उदाहरण पर्याप्त है। प्रेम में सन्तोष कहाँ? वह तो चिर नूतन है, चिर अतृप्त है। वह ऐसा चाँद है जिसमें कभी पूर्णिमा नहीं होती, जो हमेशा बढ़ता ही जाता है। प्रेम में यह मरने-मारने की परम्परा भारतीय नहीं है। यह तो बिहारी को फारसी साहित्य से उपाहर के रूप में मिली थी। अ-भारतीय होते हुए भी बिहारी के प्रेम का यह जीवन-मरण कितना मोहक है!

बिहारी पर्दा-प्रथा के युग में हुए थे, किन्तु उनकी सूक्ष्मदर्शिनी दृष्टि अतीत और भविष्य दोनों ही देख लेती थी। आज के रजत-पट का 'मेरी प्यारी पतंग, चली बादल के संग' का प्रेम निम्न पंक्तियों में देखिए—

> उड़ति गुड़ी लखि ललन की, अँगना अँगना माँह।
> बौरी लौं दौरी फिरति, छुवति छबीली छाँह॥

बिहारी के प्रेम के कुछ और चित्र देखिए—

> सुदुति दुराई दुरत नहिं, प्रगट करति रति-रूप।
> छुटै पीक, औरै उठी, लाली ओठ अनूप॥

× × ×

छिनकु उघारति, छिनु छुवति, राखति छिनकु छिपाइ।
सबु दिनु पिय-खंडित अधर, दरपन देखत जाइ॥

प्रिया सोने का बहाना किये लेटी है। प्रिय आता है, मुँह उघारकर उसे देखता है। प्रिया प्रेम के स्वाभाविक आह्लाद का क्या करे? बहाने का अभिनय आखिर कब तक चलेगा—

मुखु उघारि पिउ लखि रहत, रह्यो न गौ मिस सैन।
फरके ओठ, उठे पुलक, गये उघरि जुरि नैन॥

दाम्पत्य प्रेम की कितनी स्वाभाविक अभिव्यक्ति है!

बिहारी मुक्त प्रेम के समर्थक थे, तभी तो वे कहते हैं—

जासों है लाग्यो हियो, ताही के हिय लागु।

स्वकीया निःस्वार्थ प्रेम की स्वाभाविक सरसता से बिहारी का काव्य अछूता हो, ऐसी बात नहीं है—

अजौं न आये सहज रँग, बिरह दूबरें गात।
अबहीं कहा चलाइयति, ललन, चलन की बात॥

× × ×

बाम बाँह फरकति मिलै, जौ हरि जीवन-मूरि।
तौ तोही सौं भेटिहौं, राखि दाहिनी दूरि॥

× × ×

प्रीतम-दृग-मिहचत प्रिया, पानि-परस सुखु पाइ।
जानि पिछानि अजान लौं, नेंकु न होति जनाइ॥

प्रीतम परदेश में है, प्रिया उसे पत्र लिखने बैठी; किन्तु क्या लिखे, यह समस्या थी। अन्त में उसने लिखा—

कागद पर लिखत न बनत, कहत सँदेसु लजात।
कहिहै सबु तेरौ हियौ, मेरे हिय की बात॥

विश्व के प्रेम-पत्रों पर दृष्टि डालिए; है कोई इस टक्कर का? अपराध क्षमा हो तो कह दूँ, कालिदास का यक्ष भी ऐसा सन्देश न भेज सका था।

बिहारी का मान तो मन मोह लेता है। प्रश्न उठता है कि इतनी सरल प्रिया से प्रियतम को छल करने का साहस कैसे हुआ—

> बाल, कहा लाली भई, लोइन कोइनु माँह।
> लाल, तिहारे दृगनु की, परी दृगनु मैं छाँह॥

संयोग शृंगार

दोहे जैसे छोटे-से छन्द में रचना करने का परिणाम यह हुआ कि बिहारी को कम स्थान में बहुत अधिक बातें कह देनी पड़ीं। अपनी बात कहने का कवि वातावरण न बना सका, अतः संयोग के अधिकतर चित्र अश्लील हो गये हैं। कवि का साहस यहाँ तक बढ़ गया है कि राधा-कृष्ण को भी विपरीत रति के पंकिल क्षेत्र में लाने से वह न चूका—

> राधा हरि, हरि राधिका, बनि आये संकेत।
> दम्पति रति-विपरीत सुखु, सहज सुरत हूँ लेत॥

बिहारी का संयोग शृंगार एक अतृप्त पिपासा है जिसका अवसान भी उन्माद में ही होता है। शृंगार का पर्यवसान जब शान्त रस में होता है, तभी वह हृदयग्राही होता है। बिहारी के शृंगार में लोकोत्तर आनन्द का अभाव है। हाँ, उसका लौकिक उन्माद बहुत मनोरम है—

> कुच-गिरि चढ़ि, अति थकित ह्वै, चली डीठि मुँह चाड़।
> फिरि न टरी, परियै रही, गिरी चिबुक की गाड़॥

× × ×

> ऐंचति सी चितवन चितै भई ओट अलसाइ।
> फिरि उझकनि कौं मृग-नयनि दृगनि लगनियाँ लाइ॥

× × ×

परयो जोरु बिपरीत रति रुपी सुरत रनधीर।
करति कुलाहलु किंकिनी, गह्यो मौनु मंजीर॥

यह बात नहीं है कि बिहारी के श्रृंगार में सर्वत्र विलास की भावना ही हो। मिलन की सरसता का स्वाभाविक वर्णन कवि से बहुत सुन्दर बन पड़ा है। नयनों की विवशता देखिए—

लाज लगाम न मानहीं, नैना मो बस नाहिं।
ए मुँह जोर तुरंग ज्यों, ऐंचत हूँ चलि जाहिं॥

मिलन का स्वाभाविक चित्रण निम्न पंक्तियों में कितना सुन्दर हुआ है—

उन हरकी हँसि कै इतै, इन सौंपी मुसकाइ।
नैन मिले मन मिलि गये, दोऊ मिलवत गाइ॥

श्रृंगार के इस कवि ने गार्हस्थ्य जीवन के सुन्दर चित्र भी खींचे हैं। देवर और भाभी का विनोद देखिए—

देवर फूल हने जु, सु सु उठे हरषि अँग फूलि।
हँसी करति औषधि सखिनु देह-ददोरनु भूलि॥

नायिका सुशीला इतनी है कि गृह-कलह के भय से देवर की कुचाल तक किसी से कह नहीं पाती। साथ ही उसे अपना पातिव्रत भी निभाना है। इसी ऊहापोह में वह दिन पर दिन सूखती जाती है—

कहति न देवर की कुबत कुल-तिय कलह डराति।
पंजर-गत मंजार-ढिग सुक ज्यों सूकति जाति॥

आगत-पतिका के हुलास का एक चित्र देखिए—

मृग-नैनी दृग की फरक, उरु उछाह, तनु फूल।
बिनहीं पिय आगम उमँगि, पलटन लगी दुकूल॥

वियोग शृंगार

बिहारी के विरह-वर्णन पर फारसी साहित्य का प्रभाव है। वह युग ही प्रेम के नाम पर मरने-जीनेवालों का था। फल-स्वरूप बिहारी के विरह में अतिशयोक्ति की मात्रा आवश्यकता से अधिक है। नायिका कहीं घड़ी के लंगर-सी देख पड़ती है और कहीं लोहा गलाने के कारखाने जैसी—

इत आवति चलि, जाति उत चली, छ सात क हाथ।
चढ़ी हिंडोरैं सैं रहै लगी उसासनु साथ॥

× × ×

सीरैं जतननु सिसिर-रितु, सहि बिरहिन तन-तापु।
बसिबे कौं ग्रीषम-दिननु, पर्यौ परोसिनि पापु॥

× × ×

आड़े दै आले बसन, जाड़े हूँ की राति।
साहसु ककै सनेह बस, सखी सबै ढिग जाति॥

हृदय की विरहाग्नि का ताप इतना अधिक है कि प्रियतम का अरगजा प्रिया के हृदय पर अबीर बनकर लगता है। जलते तवे पर जिस प्रकार पानी की बूँदें नहीं ठहर पातीं, उसी प्रकार आँसू भी—

पलनु प्रगटि, वरुनीनु बढ़ि, नहिं कपोल ठहरात।
अँसुवा परि छतिया, छिनकु छनछनाइ छिपि जात॥

बिहारी के विरह-वर्णन में नायिका की करुण दशा की अपेक्षा कवि का चमत्कार ही अधिक प्रकट होता है। फिर भी अनेक स्थलों पर विरह के स्वाभाविक चित्रों का निखार बिहारी की तूलिका से सुन्दर बन पड़ा है—

कौन सुनै, कासौं कहौं, सुरति बिसारी नाह।
बदाबदी ज्यौं लेत हैं, ए बदरा बदराह॥

× × ×

गनती गनिबे तैं रहे, छत हूँ अछत-समान।
अलि, अब ए तिथि औम लौं परे रहौ तन प्रान ॥

जान पड़ता है, जैसे इन पंक्तियों में विरहिणी का हृदय बोल रहा है। विरहिणी की स्वाभाविक दशा निम्न पंक्तियों में देखिए—

करके मीड़े कुसुम लौं गई बिरह कुम्हिलाइ।
सदा-समीपिनि सखिन हूँ नीठि पिछानी जाइ ॥

रीति-काल का विरह-वर्णन नायिका की प्रेम-पीर तक ही सीमित है, बिहारी ने उससे एक पग आगे बढ़कर नायक का भी विरह-वर्णन किया है—

कहा लड़ैते दृग करे, परे लाल बेहाल।
कहुँ मुरली, कहुँ पीत पट्ट, कहूँ मुकुट बनमाल ॥

भक्ति

संसार की असारता के विषय में बिहारी शंकर के अद्वैत दर्शन (ब्रह्म सत्य और संसार मिथ्या है) के समर्थक हैं—

मैं देख्यो निरधार, यह जग काँचो काँच-सो।
एकै रूप अपार, प्रतिबिंबित लखियत जहाँ ॥

उपासना के बाह्य आडम्बरों के प्रति कवि की आस्था नहीं है—

जप-माला, छापा, तिलक, सरै न एकौ काम।
मन-काँचे नाँचे वृथा, साँचे राँचे राम ॥

कवि राधा-कृष्ण की मधुर भावना का उपासक है। राम-भक्ति के भी दो दोहे उल्लेखनीय हैं—

यह बरिया नहिं और की, तूँ करिया वह सोधि।
पाहन-नाव चढ़ाइ जिहिं, कीने पार पयोधि॥

× × ×

बन्धु भए का दीन के, को तार्‌यौ रघुराइ।
तूठे तूठे फिरत हौ झूठे बिरद कहाइ॥

किन्तु राम और कृष्ण को कवि दो नहीं मानता—

कौन भाँति रहिहै बिरदु अब देखबी मुरारि।
बीधे मोसौं आइ कै गीधे गीधहिं तारि॥

अपनी श्रद्धा के सुमन कवि ने राधा-कृष्ण के चरणों पर चढ़ाये हैं। कभी वह राधा की वन्दना करता है—

मेरी भव-बाधा हरौ, राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाँईं परैं स्यामु हरित दुति होइ॥

तो कभी गोपाल को अपने हृदय में बसने को कहता है—

सीस मुकुट, कटि-काछनी, कर-मुरली, उर माल।
इहिं बानक मो मन सदा, बसौ बिहारी लाल॥

वह नटवर श्याम हृदय में रहेगा कैसे, इसका प्रबन्ध कवि ने अपने हृदय को टेढ़ा बनाकर कर लिया है—

करौ कुबत जगु कुटिलता तजौं न, दीन दयाल।
दुखी होहुगे सरल चित बसत त्रिभंगी लाल॥

कवि को भले-बुरे की चिन्ता नहीं है। बुराइयों पर भी वह खुलकर हँस लेता है। भले-बुरे की उसे चिन्ता हो भी क्यों? वह तो कार्य का कर्ता नहीं, कारण मात्र है।

आत्म-सम्मान की भावना इतनी प्रबल है कि कवि दया की भीख किसी से नहीं चाहता, चाहे वह भगवान ही क्यों न हो—

ज्यों ह्वैहौं त्यौं होउँगो, हरि अपनी ही चाल।
हठ न करौ अति कठिन है मो तारिबो गुपाल॥

विविध ज्ञान

विस्तृत क्षेत्र में प्रतिभा का समुचित उपयोग तो सभी कर लेते हैं। विशेषता तो तब है, जब सीमित क्षेत्र में प्रतिभा निखर उठे। बिहारी की नब्बे प्रति शत कविताएँ शृंगार रस की हैं; किन्तु जीवन के सभी क्षेत्रों का इन्हें बहुत विशद अनुभव था। बिहारी की प्रतिभा नायिका के घूँघट तक ही सीमित न थी; जन-जीवन पर कही गई इनकी सूक्तियाँ भी महत्त्व रखती हैं—

मीत, न नीति गलीतु ह्वै जौ धरियै धनु जोरि।
खाएँ खरचैं जौ जुरै, तौ जोरियै करोरि॥

× × ×

अति अगाधु, अति औथरौ नदी, कूपु, सरु, बाइ।
सो ताकौ सागरु जहाँ, जाकी प्यास बुझाइ॥

× × ×

कैसैं छोटे नरनु तैं, सरत बड़नु के काम।
मढ्यौ दमामौ जातु क्यौं, कहि चूहे के चाम॥

× × ×

बढ़त बढ़त सम्पति सलिलु, मन सरोजु बढ़ि जाय।
घटत घटत सु न फिरि घटे, बरु समूल कुम्हिलाइ॥

× × ×

इहिं आसा अटक्यौ रहतु, अलि गुलाब कै मूल।
ह्वैहैं फेरि बसन्त ऋतु इन डारनु वे फूल॥

× × ×

ज्योतिष

मंगलु बिंदु सुरंगु, मुखु ससि, केसरि-आड़ गुरु।
इक नारी लहि संगु, रसमय किय लोचन जगत॥

मंगल, बृहस्पति और चन्द्रमा जब एक राशि पर मिलते हैं, तब देश-व्यापक वर्षा होती है। यहाँ नायिका का मुख चाँद है, माथे की लाल बेंदी मंगल और केसर बृहस्पति। मंगल का रंग लाल और बृहस्पति का पीला माना गया है। एक स्थान (राशि) पर इन तीन ग्रहों के सम्मिलन के फल-स्वरूप लोचन-जगत रसमय (आनन्द-मय तथा अनुराग-मय) हो गया।

सनि-कज्जल चख-झख-लगन उपज्यो सुदिन सनेहु।
क्यों न नृपति ह्वै भोगवै लहि सुदेसु सबु देहु॥

किसी बालक के जन्म-काल में शनि और गुरु यदि धन या मीन राशि में हों और स्व-राशि मकर या कुम्भ में तथा उच्च राशि तुला में हो तो वह राजा होता है। बिहारी के प्रेम-शिशु की जन्म-कुण्डली भी इसी प्रकार की है; आँखें मीन हैं और उनका काजल शनि; अतः वह सम्पूर्ण देह-प्रदेश का स्वामी अवश्य होगा।

रूप-ठग की हरकतें देखिए—

डारे ठोढ़ी-गाड़ गहि, नैन बटोही मारि।
चिलक चौंध मैं रूप ठग, हाँसी फाँसी डारि॥

समय-सूचक यंत्र के रूप में नयनों की शोभा देखिए—

हरि-छबि-जल जब तैं परे, तब तैं छिनु बिछुरैं न।
भरत ढरत, बूड़त तरत रहत घरी लौं नैन॥

श्री कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' में 'रहत' के स्थान पर 'रहट' लिखा है। 'रहट' कहने से भी काव्य का चमत्कार घटता नहीं है। किन्तु 'घरी' के साथ 'रहट' की संगति ठीक नहीं बैठती। और फिर 'रहट' पाठ मानने पर समापिका क्रिया की अपेक्षा बनी ही रहती है, जो 'रहत' से पूरी हो जाता है।

संगीत का भी कवि को अच्छा ज्ञान था—

पूस-मास सुनि सखिन पैं साईं चलत सबारु।
गहि कर बीन प्रबीन तिय राग्यो राग मलार॥

कहा जाता है कि कौए की एक ही पुतली होती है जिसे इधर-उधर दोनों आँखों के गोलकों में फेरकर वह देखता है। बिहारी ने एक प्राण-दो-देह के भाव में इस जन-श्रुति का बहुत सुन्दर प्रयोग किया है—

फिरत काग-गोलक भयो दुहूँ देह जिय एक।

चित्रकार बिहारी

बिहारी के चित्रकार होने का न तो किसी ने उल्लेख ही किया है और न उनका बनाया कोई चित्र ही मिलता है; किन्तु मुझे ऐसा जान पड़ता है कि वे चित्रकार भी थे। उनके रूप-चित्र तो काव्य के विषय हैं; अतः उनकी बात यदि न भी की जाय तो भी यत्र-तत्र रंगों का सामंजस्य उन्होंने इतना सुन्दर किया है कि उनके चित्रकार नहीं तो चित्र-कलाविद् होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता—

सोन-जुही सी जगमगति अँग अँग जोबन-जोति।
सुरँग, कसूँभी कंचुकी, दुरँग देह दुति होति॥

× × ×

कंचन तन-धन बरन बर रह्यो रंगु मिलि रंग।
जानी जात सुबास हीं केसरि लाई रंग॥

× × ×

मेरी भव-बाधा हरौ राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाँईं परैं स्यामु हरित दुति होइ॥

× × ×

अधर धरत हरि के परति ओठ दीठि पट जोति।
हरित बाँस की बाँसुरी, इन्द्र-धनुष-रँग होति॥

× × ×

सोनजुही-सी होति दुति मिलति मालती माल॥

× × ×

देखी सो न, जु ही फिरति सोन-जुही सैं अंग।
दुति लपटनु पट सेत हूँ करति बनौरी रंग॥

पीत, नील और अरुण रंगों का प्रयोग बिहारी ने स्थान-स्थान पर किया है। कविता में रंगों का प्रयोग इतना सटीक बैठता है कि केवल सुनी-सुनाई बातों के आधार पर उनका प्रयोग नहीं किया जा सकता। बिहारी जैसे भावुक ने जीवन भर में केवल सात सौ उन्नीस दोहे ही लिखे हों, ऐसा अनुमान नहीं कहता। रंगों का इतना सुन्दर विवेचन या तो कोई रँगरेज ही कर सकता है या चित्रकार। उस युग में चित्र-कला की ओर सामन्त-वर्ग का बहुत अधिक अनुराग भी था। कवीन्द्र रवीन्द्र भी जीवन की सान्ध्य बेला में चित्र-कला की ओर झुके थे। हो सकता है, बिहारी ने चित्र भी बनाये हों और अपनी अन्य कृतियों के साथ उन्हें भी नष्ट कर दिया हो।

हास्य और व्यंग्य

अभावों में पलकर भी बिहारी अपने जीवन में दार्शनिक गम्भीरता न

ला सके थे। उन्होंने जीवन से समझौता कर लिया था, यही कारण है कि उनके काव्य में मार्मिक व्यंग्य भरे पड़े हैं। उपेक्षा और अपमान के घूँट पीकर भी बिहारी मुस्करा सकते हैं—

चल्यौ जाइ, ह्याँ को करै हाथिनु को व्यापार।
नहिं जानतु इहिं पुर बसैं, धोबी ओड़ कुँभार॥

× × ×

कर लै, सूँघि, सराहि हूँ रहे सबै गहि मौनु।
गंधी अंध, गुलाब कौ गँवई गाहकु कौनु॥

पर-स्त्री-गमन के दोष पर घन्टों व्याख्यान देनेवाले पौराणिक जी का हृदय भी कवि से छिपा न रह सका—

पर-तिय-दोषु पुरान सुनि लखि पुलकी सुखदानि।
कसु करि राखी मिश्र हूँ मुँह आई मुसकानि॥

मिश्र जी पर उनकी प्रेमिका से अधिक कवि ही हँसा है।

लगे हाथों नपुंसक वैद्य जी को भी देख लीजिए—

बहु धनु लै, अहसानु कै, पारौ देत सराहि।
बैद-बधू हँसि भेद सौं रही नाह-मुँह चाहि॥

अवसर पाकर अपने आराध्य राधाकृष्ण पर भी व्यंग्य करने से कवि न चूका—

चिर जीवौ जोरी, जुरै क्यों न सनेह गँभीर।
को घटि, ए वृषभानुजा, वे हलधर के बीर॥

प्रकृति

कृति का बिहारी ने मनोहारी रूप ही देखा, उनके सरस हृदय से हम

इससे अधिक आशा भी नहीं करते। पैर के नीचे तवे-सी जलती धरती और सिर के ऊपर आग उगलनेवाला आसमान भी कवि को तपोवन-सा लग रहा है—

कहलाने एकत बसत, अहि, मयूर, मृग, बाघ।
जगत तपोवन-सों कियो दीरघ दाघ निदाघ॥

मुरलीधर के होंठों पर इन्द्रधनुष की छबि देखिए—

अधर धरत हरि के परति ओठ डीठि पट जोति।
हरित बाँस की बाँसुरी, इन्द्रधनुष रँग होति॥

पावस का एक चित्र है—

पावस घन-अँधियार महँ, रह्यो भेद नहिं आन।
राति-द्योस जान्यो परत, लखि चकई चकवान॥

पावस में चकई और चकवा रहते हैं या नहीं, यह तो कोई सुयोग्य चिड़ीमार ही बता सकता है, पर सहृदय पाठक का मन मोह लेने के लिए पावस का अन्धकार ही पर्याप्त है।

कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक भाव भर देने की कामना ने बिहारी को उद्दीपन रूप में प्रकृति का चित्रण नहीं करने दिया। कविता का वातावरण बना सकने का उन्हें अवकाश ही न था। प्रकृति के ये आलम्बन-चित्र बहुत सुन्दर हैं—

रुक्यो साँकरे कुंज-मग करत झाँझि झुकरात।
मन्द-मन्द मारुत तुरँग खुँदरत आवत जात॥

× × ×

रनित भृंग घंटावली झरत दान मधु नीर।
मन्द-मन्द आवत चल्यो कुंजर कुंज समीर॥

स्वर के आरोह-अवरोह पर ध्यान दीजिए; कविता मुँह से निकलते ही जान पड़ता है कि मन्द-मन्द समीर बह रहा है।

कला-पक्ष

भूषण बिन न बिराजई बनिता कविता मित्र। —केशव

कवि जन-समाज से अलग नहीं होता। जो कुछ वह कहता है, उसमें आकर्षण नहीं होता। आकर्षण तो होता है उसके कहने के ढंग में। रीति-काल में कला अपने चरम उत्कर्ष को पहुँच चुकी थी। काव्य में अलंकारों की योजना कला-पक्ष के अन्तर्गत आती है। अलंकारों का प्रयोग दो बातों के लिए किया जाता है—

१—भाव स्पष्ट करने के लिए, और

२—चमत्कार लाने के लिए।

यदि कोई जिज्ञासु बालक सिंह का नाम सुनकर प्रश्न कर बैठे कि वह कैसा होता है, तो उसे समझाना कठिन हो जायगा। तरह-तरह के हाव-भाव बताने और घंटों की माथा-पच्ची के बाद भी सिंह का रूप वह न समझ पावेगा। पर यदि उससे इतना ही कहा जाय कि वह बिल्ली की जाति का जीव होता है, ऊँचाई में बिल्ली का दस गुना और शक्ति में सभी पशुओं से शक्तिमान होता है तो बालक सिंह के विषय में अपनी धारणा अवश्य बना लेगा और वह कुछ अंशों में ठीक भी होगी। इसी को कविता में अलंकार कहा जाता है। चाहे अलंकार का प्रयोग काव्य में कला मात्र के लिए ही क्यों न किया जाय, भाव स्पष्ट करने में वह किसी न किसी रूप में सहायक अवश्य होता है।

बिहारी की कविता में अलंकार अधिकतर स्वभावतः ही आये हैं; उनका उद्देश्य भाव स्पष्ट करना भर है—

नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं विकास एहि काल।
अली, कली ही तें बँध्यौ, आगे कौन हवाल॥
—अन्योक्ति।

सहज सेत पँच-तोरिया, पहिरत अति छबि होति।
जल-चादर कै दीप लौं, जग-मगात तन-जोति॥
—उपमा।

छिप्यौ छबीलो मुँह लसै, नीले अंचल भीर।
मनो कलानिधि झलमले, कालिन्दी के नीर॥

—उत्प्रेक्षा।

रीति-काल की कविता राजाओं के विलास की वस्तु बन चुकी थी। फलस्वरूप विलास के अन्य साधनों की भाँति कविता की उस बाहरी चमक-दमक पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा था, जो शब्दालंकारों की बहुलता से ही आ सकती थी। बिहारी ने शुद्ध चमत्कार उत्पन्न करनेवाली रचनाएँ बहुत कम लिखी हैं।

पल सौंहैं पगि पीक रँग, छल सौंहैं सब बैन।
बल सौंहैं कत कीजियत, ए अलसौंहैं नैन॥

—अलसौंहैं का यमक।

रस सिंगार मंजनु किए, कंजनु भंजनु दैन।
अंजनु रंजनु हूँ बिना, खंजनु-गंजनु नैन॥

—अन्त्यानुप्रास।

पिय तिय सों हँसि कै कह्यो, लखैं दिठौना दीन।
चन्द-मुखी मुख-चन्दु तैं, भलौ चन्द समु कीन॥

—लाटानुप्रास।

अजौं तरयोना ही रह्यौ, श्रुति सेवत इक अंग।
नाक बास बेसरि लह्यौ, बसि मुकुतन के संग॥

—शब्द श्लेष।

अलंकारों का मोह कहीं-कहीं इतना प्रबल हो गया है कि काव्य का स्वाभाविक सौन्दर्य भी छिप-सा गया है। सुन्दरी के होंठों पर पान की पीक भली लगती है; किन्तु कौए के स्वर और कोकिल के रंगवाली प्रौढ़ा यदि पान खा ले तो उसके होंठ तमाखू की आधी सुलगी टिकिया से ही जान पड़ेंगे।

बर जीते सर मैन के, ऐसे देखे मैं न।
हरिनी के नैनानु तैं, हरि नीके ये नैन॥

जान पड़ता है, जैसे कवि का आकर्षण नेत्रों के स्वाभाविक सौन्दर्य की ओर न होकर अलंकारों की सजावट की ओर ही अधिक है। इसी प्रकार का एक और दोहा देखिए—

कनक कनक तें सौ गुनो, मादकता अधिकाइ।
ये खाये बौराइ नर, वे पायें बौराइ॥

निर्विवाद सत्य है कि इस दोहे में कवि ने कनक के दो अर्थों (सोना और धतूरा) से लाभ उठाया है। किन्तु शुद्ध चमत्कार की रचना होते हुए भी इसकी नींव कल्पना के शून्य में न होकर धरती पर है। इसी को कला की सफलता कहते हैं!

कला की दृष्टि से बिहारी ने अलंकारों का प्रयोग बहुत सुन्दरता से किया है। मुद्रालंकार का एक उदाहरण लीजिए—

कर लपटइयतु मो गरैं, सो न जुही निसि सैन।
जिहिं चम्पक बरनी किए, गुल्लाला-रँग नैन॥

प्रौढ़ा नायिका की इस उक्ति में फूलों के नाम [मोगरा, सोनजुही, चम्पक, गुल्लाला, लपटइया (इश्क पेचाँ), निसि सैन (कमल), बरनी (वर्णा), नैन (पंच-नयना)] बहुत सुन्दरता से आये हैं।

शुद्ध चमत्कार की दृष्टि से लिखी गई पंक्तियाँ भी बहुत मोहक हैं। संसार का नियम है कि जो सूत उलझता है, वही टूटता है और गाँठ भी उसी में पड़ती है। किन्तु प्रेम के साम्राज्य का आकर्षण कुछ और ही है। वहाँ तो 'उलटी गंगा समुद्रहिं सोखै ससि को सूर गरासै' वाली बात होती है। कबीर की इस अटपटी बानी से भी बिहारी का प्रेम-जगत अद्भुत है। तनिक वहाँ की झाँकी लीजिए—

दृग अरुझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन हियैं, दई नई यह रीति॥

पाठक इस प्रेम के साम्राज्य में अपना आपा इस प्रकार भूल-सा जाता

है कि उसे ज्ञात ही नहीं होता कि कवि ने उसे असंगत अलंकार का चमत्कार दिखाया है।

बिहारी ने अपनी कविता-कामिनी का अलंकारों से इतना शृंगार किया है कि विज्ञ से विज्ञ आलोचक को भी उसे परख सकना कठिन हो जाता है। जहाँ दृष्टि ठहरती है, वहीं सौन्दर्य से भींग जाती है; दूसरी ओर दृष्टि डालने को जी ही नहीं चाहता। बिहारी के निम्न दोहे में पं० कृष्णबिहारी मिश्र जैसे उनके आलोचक को भी सोलह अलंकार दिखाई पड़े हैं[1]—

यह मैं तोही में लखी, भगति अपूरब बाल।
लहि प्रसाद-माला जु भो, तन कदम्ब की माल॥

स्थानाभाव से सब अलंकारों की विवेचना सम्भव नहीं है। उनके नाम ये हैं—अनन्वयालंकार, परिकरालंकार, परिसंख्या, द्वितीय विभावना, छठी विभावना, द्वितीय समलेशालंकार, पिहित अलंकार, द्वितीय पर्यायोक्ति, हेतु अलंकार, तुल्ययोगिता का दूसरा रूप, तद्गुण, अनुगुण, धर्मवाचक लुप्तोपमा, शब्दालंकारों में छेकानुप्रास और यमक और अद्भुत रसवत् अलंकार।

भाषा

भाँति भाँति रचना सरस देव-गिरा ज्यौं व्यास।
त्यों भाषा सब कविनि में बिमल बिहारीदास॥

—कुलपति मिश्र।

बिहारी की भाषा संस्कृत-निष्ठ परिमार्जित ब्रज भाषा है। उर्दू, अरबी, फारसी आदि विदेशी भाषाओं के जन-प्रचलित शब्दों (इजाफा, अदब, दाग, ताफता, किबिलनुमा, सबील आदि) का प्रयोग भी यत्र-तत्र मिलता है।

यति-भंग दोष से बचने के लिए आवश्यकतानुसार शब्दों को तोड़ने-मोड़ने में भी इन्हें झिझक न होती थी। शब्दों को छन्द के अनुरूप गढ़ लेना भी एक कला है; अतः बिहारी का यह प्रयास प्रशंसनीय ही कहा जायगा।

१—देखिए 'देव और बिहारी' लेखक श्री कृष्णबिहारी मिश्र; प्रथम संस्करण, पृष्ठ १३०-१३५।

पूर्वा

तिमिर में परतंत्रता के तुम उषा बन देव आये,
नाश में निर्माण के तुमने मनोहर गीत गाये;
औरंग की तलवार ने थी लेखनी से हार मानी
तुम सुमन पर भारती के ओस बनकर मुस्कराये।
काव्य के भूषण, समय के सिन्धु में भी तुम अमर हो,
शूल पथ के फूल से बन जायँ जग को अभय कर दो;
ज्योति के आगार तुम, कैसे करूँगा आरती मैं
अर्चना के फूल ये स्वीकार कर लो।

भूषण

जन्म सं १६९२ वि० **निधन सं० १७९७ वि०**

भूषण त्रिपाठी तिकवाँपुर (जिला कानपुर) के निवासी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। आपके पिता का नाम पं० रत्नाकर त्रिपाठी था। आपके बड़े भाई चिन्तामणि त्रिपाठी रीति-काल के आदि आचार्य थे। दूसरे भाई मतिराम त्रिपाठी भ शृंगार रस के प्रमुख कवि थे।

आरम्भ में भूषण को संसार से कोई प्रयोजन न था। कुश्ती लड़कर शरी बनाना और घर में ऊधम मचाना आपका नित्य का कार्य था। आपकी सह धर्मिणी जेठानियों के व्यंग्य-वाणों से ऊब चुकी थी, किन्तु आपको इन बातों क चिन्ता न थी। एक दिन दाल में नमक कम होने के विवाद के फल-स्वरू आपने घर छोड़ दिया। कहा जाता है कि अपनी भाभी के पास आपने बाद एक लाख रुपये का नमक भेजा था।

भूषण की कविता में भी अक्खड़पन पाया जाता है। शृंगार की सरित में डूबते हुए देश को बचाने का भूषण का प्रयत्न प्रशंसनीय है। चित्रकूट सोलंकी राजा रुद्र ने आपको 'भूषण' की उपाधि दी थी। आपके वास्तविव नाम का अब तक पता नहीं चला है। छत्रपति शिवाजी और महाराज छत्रसा आपके प्रमुख आश्रयदाताओं में से थे।

रचनाएँ—शिवराज भूषण, शिवा बावनी, छत्रसाल दशक और कुछ फुट कर पद्य।

मुगल राज्य की नंगी तलवार के नीचे सम्पूर्ण आर्यावर्त्त काँप रहा था। भारतीय संस्कृति दीपक की बुझती लौ की भाँति जीवन के अन्तिम साँस ले रही थी। अकबर और जहाँगीर ने कहने को हिन्दू और इस्लाम धर्म में भेद-भाव न रखा, पर उनके समता (?) वाले व्यवहार में भी राजनीतिक षड्-यंत्र ही काम कर रहा था। देशी नरेशों को पद और मन्सब देने के प्रलोभन में उनके राज्य नष्ट कर देने का कुचक्र निहित था। अकबर का हिन्दू राजकुमारियों से विवाह करने का उद्देश्य भी हिन्दुत्व की गरिमा घटाना ही था। नहीं तो क्या कारण है कि अपने वंश की किसी कन्या का विवाह उसने किसी हिन्दू नरेश से न किया? आग तो लग ही चुकी थी। औरंगजेब ने मन्दिर तोड़कर उसका रहा-सहा आवरण भी हटा दिया।

एक ओर देश की यह दशा थी कि वह आठ-आठ आँसू रो रहा था; और दूसरी ओर हमारे कवि नायिका-निरूपण में लगे थे। नायिका के अरुण कपोलों के तिल तक उनकी दृष्टि पहुँच सकती थी; किन्तु देशव्यापी निराशा का अन्धकार उन्हें देख न पड़ता था। '**चलिहै क्यों चन्द्रमुखी कुचन के भार भए, कचन के भार ही लचकि लंक जाति है**' कहने के लिए नायिका की क्षीण कटि तक तो उनकी दृष्टि जा सकी, किन्तु दरिद्रता देवी को पेट-पीठ का मांस भेंट कर देनेवाले नर-कंकाल की ओर उन्होंने देखा तक नहीं। 'आँसुन ही सब नीर गयो ढरि' में प्रोषितपतिका का हृदय खोलकर रख सकने में समर्थ कवि भारत-लक्ष्मी के आँसू न देख सका।

ऐसे समय में भूषण ने पहली बार देश की परिस्थितियों का वास्तविक चित्र राष्ट्र के सम्मुख रक्खा। यह सौभाग्य की बात है कि शिवाजी जैसा योग्य नायक उन्हें मिल गया। अन्यथा भारत-श्री को यवनों से बचाने के लिए जो नरेश कमर कसता, वही भूषण की श्रद्धा और सहानुभूति का पात्र बनता। मध्य देश के राजा भगवन्तराय खीची की मृत्यु पर शोक प्रकट करते हुए उन्होंने लिखा था—

उठिगो सुकवि सील, उठिगो ज सीलो डील,
फैल्यो मध्य देश में समूह तुरुकाने को।
फूटे भाल भिच्छुक के जूझे भगवन्तराय,
अरराय टूट्यो कुल खम्भ हिन्दुआने को॥

भगवन्तराय की मृत्यु से कवि को हिन्दुआने का कुल-खम्भ टूटता दिखाई पड़ता है। आज मुसलमान भारत में इतने घुल-मिल गये हैं कि भूषण हमें साम्प्रदायिक दिखाई देते हैं। अपने समय की परिस्थिति देखकर महात्मा गांधी ने भी इनकी रचनाओं को पाठ्य पुस्तकों से हटा देने को कहा था। किन्तु यदि हम शान्तिपूर्वक उस काल की दशा पर दृष्टिपात करें तो भूषण को तनिक भी दोष नहीं दिया जा सकता। मुगलों के आचार-व्यवहार, धार्मिक संकीर्णता और अत्याचार सभी कुछ हिन्दू धर्म के विरोधी थे और कोई राष्ट्र-प्रेमी उन्हें स्वीकार नहीं कर सकता था। इस प्रश्न पर हम आगे चलकर यथा-स्थान विचार करेंगे।

युद्ध-वर्णन

बाने फहराने घहराने घंटा गजन के,
नाहीं ठहराने राव-राने देस देस के।
दल के दरारन तें कमठ करारे फूटे,
केरा के से पात बिहराने फन सेस के॥

× × ×

साजि चतुरंग-सैन अंग मैं उमंगि भरि,
सरजा सिवाजी जंग जीतन चलत हैं।
भूषन भनत नाद बिहद नगारन के,
नदी-नद मद गैबरन के रलत हैं॥

ऐल फैल खैल-भैल खलक में गैल-गैल,
गजन की ठेल पेल सैल उलसत हैं।
तारा सों तरनि धूरि-धारा में लगत जिमि,
थारा पर पारा पारावार ज्यों हलत हैं॥

इस कथन में तनिक भी अत्युक्ति नहीं है। यवनों की धर्मान्धता का 'सैल' तो उसी दिन 'उलस' गया, जिस दिन सोमनाथ के मन्दिर में आरती न हो सकी थी। उक्त मन्दिर के रत्नों से मक्के और मदीने की मसजिदों की सजावट की जा सकती थी, किन्तु भक्तों के आँसुओं का क्या होता? औरंगजेब ने कृष्ण का मन्दिर तोड़कर मसजिद में परिणत तो कर दिया, मुल्लाजी उसके कँगूरे पर चढ़कर अजान भी देने लगे, लेकिन श्याम की जो मोहिनी मुरली भक्तों के हृदय में बज रही थी, वह कैसे निकलती? औरंगजेब की नंगी तलवार की छाया में मुल्ला की अजान मन्दिर के खँडहरों से टकराकर शून्य में मिल गई—पर इधर मुरली बजती रही, बजती रही।

एक ओर वैभव और विलास की सभी सामग्री एकत्र थी और दूसरी ओर सूखी रोटी खाकर देश पर मर मिटने की साध। एक ओर धन से खरीदे हुए सैनिक थे और दूसरी ओर राष्ट्र तथा धर्म की रक्षा के लिए एकत्र फटे-हाल किसान। शिवाजी और औरंगजेब का युद्ध हिन्दू और मुसलमान का युद्ध न था, धर्म और अधर्म का युद्ध था। अधर्म जब धर्म का नाश करने को चलता है तब ब्रह्माण्ड काँप उठता है। 'थारा पर पारा पारावार ज्यों हलत हैं' लिखकर भूषण ने केवल अतिशयोक्ति का चमत्कार नहीं दिखाया है। यहाँ आकर कवि की भावनाओं के साथ जन-भावना का तादात्म्य हो गया है।

यवनों के हाथ में पड़ी हुई भारत-श्री की रक्षा के लिए शिवाजी की सेना पयान कर रही है। कवि बतलाता है—

बद्दल न होहिं दल-दच्छिन उमंडि आए,
घटा ये न होहिं इम सिवाजी हँकारी के।

दामनि दमकि नाहिं खुले खग्ग बीरन के,
इंद्र-धनु नाहिं, ये निसान हैं सवारी के ॥

और जब युद्ध होने लगा तब—

केते बीर मरिकै बिडारे किरवानन तें,
केते गिद्ध खाए केते अम्बिका अचकि गे।
टूटिगे पहार विकरार भुव-मण्डल के,
सेस के सहस फन कच्छप कचकि गे ॥

और—

प्रेतिनी पिसाचरु निसाचर निसाचरि हूँ,
मिलि मिलि आपस मैं गावत बधाई हैं।
भैरो भूत-प्रेत भूरि भूधर-भयंकर से,
जुत्थ-जुत्थ जोगिनी जमात जुरि आई हैं।
किलकि किलकि कै कुतूहल करति काली,
डिम-डिम डमरू दिगम्बर बजाई है।
सिवा पूछैं सिव-सों समाज आजु कहाँ चली,
काहू पै सिवा नरेस भृगुटी चढ़ाई है ॥

अत्याचार और अनाचार का प्रारम्भ बहुत भयावह लगता है। जान पड़ता है, जैसे उसके सामने निरीह धर्म न टिक सकेगा। लेकिन थोड़ी ही देर में अनाचार की धज्जियाँ उड़ती दिखाई देती हैं। एक चित्र देखिए—

आगरे अगारन ह्वै फाँदती कगारन छ्वै,
बाँधती न बारन मुखन कुम्हिलानियाँ।
कीबी कहैं कहा औ गरीबी गहे भागी जाहिं
बीबी गहे सूथना सु नीबी गहे रानियाँ ॥

× × ×

अन्दर तें निकसी न मन्दिर को देख्यो द्वार,
बिन पथ रथ तें उतर पाँव जाती हैं।
ऐसी परी नरम हरम बादसाहन की,
नासपाती खातीं तें बनासपाती खाती हैं॥

यों शत्रु की स्त्रियों के भागने का वर्णन भूषण की कुरुचि का द्योतक जान पड़ता है। किन्तु इसके लिए भूषण को दोष नहीं दिया जा सकता; क्योंकि इन कविताओं में उक्त स्त्रियाँ अनाचार की सहयोगिनी की प्रतीक हैं।

भूषण के युद्ध-वर्णन पढ़कर पाठकों के मन में स्फूर्ति होती है। देश की बिखरी हुई शक्तियों को कविता के माध्यम से एकत्र करने का भूषण का प्रयास स्तुत्य है। अपनी कविता में ओज लाने के लिए भूषण ने रेफ और ट-वर्ग आदि का आश्रय नहीं लिया है। उनकी स्वाभाविक उक्तियाँ ही इसके लिए पर्याप्त हैं।

भूषण के नायक—शिवाजी

विज्जपूर-बिदनूर-सूर, सर-धनुष न संघहिं।
मंगल बिनु मल्लारि-नारि धम्मिल नहिं बंधहिं॥
गिरत गर्भ कोटीन, गद्दत चिंजी चिंताउर।
चाल कुण्ड दल कुण्ड गोलकुण्डा संका उर॥
भूषन प्रताप सिवराज तब, इमि दच्छिन दिसि संचरहिं।
मधुरा-धरेस धक धक धकत, द्रविड़ निविड़ अबिरल डरहिं॥

ऐसे थे क्षत्रपति शिवाजी महाराज! जब उनका नगाड़ा बजने लगता था तब—

दुग्ग पर दुग्ग जीते सरजा सिवाजी गाजी,
उग्ग नाचे उग्ग पर रुंड मुंड फरके।
भूषन भनत बाजे जीति के नगारे भारे,
सारे करनाटी भूप सिंहल को सरके।
मारे सुनि सुभट पनारेवारे उद्भट,
तारे लागे फिरन सितारे गढ़धर के।
बीजापुर-बीरन के गोलकुण्डा-धीरन के,
दिल्ली उर मीरन के दाड़िम से दरके॥

उनके प्रताप से 'दिल्ली पर परति परिन्दन की छार है'। और—

बलख बुखारे मुलतान लौं हहर पारै,
काबुल पुकारै कोऊ धरत न सार है।
रूम रूँद डारै, खुरासान खूँदि मारै खाक,
खादर लौं झारै ऐसी साहू की बहार है॥

शौर्य और राष्ट्र-प्रेम के साथ-साथ शिवाजी में सभी राजोचित गुण वर्त्तमान थे। शिवाजी के हृदय में जहाँ एक ओर शत्रुओं के प्रति अतीव घृणा थी, वहीं दान और दया का सागर भी हिलोरें ले रहा था। घोड़े की पीठ पर जीवन का वसन्त पहाड़ की कन्दराओं में बिता देनेवाले इस भारत माता के सपूत को प्रजा की सुख-शान्ति की प्रति क्षण चिन्ता रहती थी। भूषण उनके एक नहीं, अनेक गुणों पर रीझे थे—

सुन्दरता गुरुता प्रभुता भनि, भूषन होत है आदर जा में।
सज्जनता औ दयालुता दीनता, कोमलता झलकै परजा में॥
दान कृपानहु को करिबो, करिबो अभै दीनन को बर जा में।
साहन को रन टेक विवेक, इते गुन एक सिवा सरजा में॥

शिवाजी वस्तुतः इसलिए भूषण के आदर और श्रद्धा के पात्र बने थे कि वे हिन्दू संस्कृति के रक्षक थे। शिवाजी ने—

वेद राखे विदित, पुरान राखे सार-युत,
राम नाम राख्यो अति रसना सुघर मैं।
हिन्दुन की चोटी, रोटी राखी है सिपाहिन की,
काँधे में जनेऊ राखे, माला राखी गर मैं।
मींड़ि राखे मुगल, मरोड़ राखे पातसाह,
बैरी पीसि राख्यो, बरदान राख्यो कर मैं।
राजन की हद राखी, तेग बल सिवराज,
देव राख्यो देवल, स्वधर्म राख्यो घर मैं॥
+ + +
धरम रसातल को डूबत उबार्‌यो सिवा
मारि तुरुकानि घोर बल्लम की अनी सों।

यदि शिवाजी न होते तो—

कासी हू की कला जाति, मथुरा मसीद होती
सिवा जी न होते तौ सुनति होत सब की।

ऐसे नायक की उपेक्षा करना ही अराष्ट्रियता है। यह कहना ठीक नहीं है कि भूषण साम्प्रदायिक थे। भूषण राष्ट्रिय कवि हैं—विशुद्ध राष्ट्रिय !

रूप

रूप पर रीझने के लिए भूषण को अवकाश न था। 'शिवराज भूषण' के 'रायगढ़ वर्णन' में केवल चार पंक्तियाँ वे रूप के लिए दे पाये हैं। रूप उनके लिए बहुत पवित्र था, तभी तो वे कहते हैं—

मुख नागरिन के राजहीं कहुँ फटिक महलन संग मैं।
बिकसंत कोमल कमल मानहु अमल गंग-तरंग मैं॥

माँ जाह्नवी की तरंगों में खिले हुए कमल को नागरिकाओं का मुख बनाकर भी कवि को जान पड़ा, जैसे वह उनकी पवित्रता तक न पहुँच सका। अतः अगली पंक्तियों में उसने अपने को सँभाल लिया—

आनंद सों सुन्दरिन के कहुँ वदन-इंदु उदोत हैं।
नभ सरित के प्रफुलित कुमुद मुकुलित कमल-कुल होत हैं॥

ऐसी थी भूषण की रूप की कल्पना! रायगढ़ की सुन्दरियाँ इससे धन्य हो गईं!

भूषण के रूप में वासना के लिए स्थान न था। रूप का पवित्रतम आनन्दमय रूप देखिए—

सौंधे भरी सुखमा सुखरी मुख ऊपर आइ रहीं अलकैं।
कवि 'भूषन' अंग नवीन बिराजत मोतिन माल हिये झलकैं॥
उन दोउन की मनसा मनसी नित होत नई ललना ललकैं।
भरि भाजन बाहर जात मनौ मुकुतानि किधौं छबि की छलकैं॥

यौवन और प्रेम

बहुत कम लोग जानते होंगे कि भूषण में एक भावपूर्ण हृदय भी था। भारतीय संस्कृति की रक्षा में कटिबद्ध कवि का थका मन कभी-कभी यौवन और प्रेम के आकाश में भी चक्कर लगा आता था। भूषण की शृंगारिक रचनाएँ अपेक्षाकृत कम होने पर भी विशेष महत्त्व की हैं। भूषण ने इन पंक्तियों में प्रोषितपतिका का हृदय खोलकर रख दिया है। जिसके लिए उन्होंने—

भेंटि सुरजन तोहिं मेटि गुरुजन-लाज,
पंथ परिजन की न त्रास जिय जानी है।

उसी ने उनके प्रेम की खिल्ली उड़ाई। यह नहीं कि प्रेम का परिणाम वे जानती न थीं। पर श्याम की मुरली ने उन्हें विवश कर दिया था—

हूक पाँसुरी मैं क्यों भरौं न आँसु री मैं थोरे,
छेद बाँसुरी मैं, घने छेद कियो छाती हैं।

और आज ये बादल—

कैधौं घनस्याम जो कहावैं सो सतावैं मोहिं,
निहचै कै आजु यह बात उर आनी मैं।

बादल बरसे, 'धरती जुड़ानी, पै न बरती जुड़ानी मैं'। किन्तु इसके लिए उन्हें किसी से 'दोस' या उलाहना नहीं है। यह तो—

भागि ही को दोसु आगि उठति ज्यों पानी मैं।

हाँ, चाँद से उन्हें शिकायत अवश्य है—

सिन्धु को सपूत, कलपद्रुम को बंधु, दीनबंधु,
को है लोचन, सुधा को तनु सोतु है।
'भूषन' भनै रे भुव-भूषन द्विजेस तैं,
कलानिधि कहाय कै कसाई कत होतु है॥

चाँद से भी यह शिकायत उन्हें कुछ अपने स्वार्थ के लिए नहीं है; वह तो इसलिए है कि चाँद की मर्यादा इसमें भंग होती है!

दुःख के दिन बीते। एक दिन वह भी आया जब—

कोकनद-नैनी केलि करी प्रान पति संग,
उठी परजंक तें अनंग जोति सोकी सी।

दाम्पत्य रति में भी भूषण ने युद्ध ही देखा है—

नैन जुग नैनन सों प्रथमै लड़े हैं धाय,
अधर कपोल तेऊ टरै नाहिं टेरे हैं।

अड़ि अड़ि पिलि पिलि लड़े हैं उरोज बीर,
देखो लगे सीसन पै घाव ये घनेरे हैं।
पिय को चखायो स्वाद कैसो रति-संगर को,
भये अंग अंगनि तें केते मुठभेरे हैं।
पाछे परे बारन को बाँधि कहै आलिन सों,
'भूषन' सुभट ये ही पाछे परे मेरे हैं॥

बालों के 'पीछे पड़ने' का एक शेर है—

लिया दिल तो तुम्हारी माँग ने माँग।
ये चोटी किस लिए पीछे पड़ी है॥

इसमें 'माँग' और 'पीछे पड़ी है' दोनों श्लिष्ट हैं। 'बारन' का एक ही अर्थ (बाल) लेकर भूषण ने 'सुभट ये ही पाछे परे मेरे हैं' में इससे भी अधिक भावाभिव्यक्ति की है।

भूषण बहुत विनोदी प्रकृति के जीव थे। तनिक उनकी अनोखी बरात के दूल्हा-दुलहिन को तो देखिए—

बाजत दमामे लाखौं धौंसा आगे घहरात,
गाजत मेघ ज्यों बरात चढ़े भारे की।
दुलहो सिवाजी भयो दच्छिनी दमामेवारो,
दिल्ली दुलहिन भई सहर सितारे की॥

प्रकृति

वीर रस की कविता में प्रकृति-वर्णन गौण रहता है। यदि हम कहें कि वीर रस में प्रकृति के लिए स्थान नहीं होता, तो कुछ अत्युक्ति न होगी।

'शिवराज-भूषण' के 'रायगढ़-वर्णन' में परम्परा के अनुसार नामों की सूची गिनाकर ही कवि ने सन्तोष कर लिया है—

चंपा चमेली चारु चंदन चारि हू दिसि देखिये।
लवली लवंग लतानि केरे लाख हौं लगि लेखिये॥
कहुँ केतकी कदली करौंदा कुंद अरु करबीर हैं।
कहुँ दाख दाड़िम सेब कटहल तूत अरु जंभीर हैं॥...
पीयूष तें मीठे फले कतहूँ रसाल रसाल हैं।

चेतन प्रकृति का सौन्दर्य भी कुछ कम नहीं है—

कोकिल्ल कीर कपोत केलि कल-कल करंत तहँ।...
पियत मधुर मकरंद करत झंकार भृंग गन॥
'भूषन' सुबास फल फूल जुत चहुँ रितु बसत बसंत जहँ।
इमि राज दुग्ग राजत रुचिर सुखदायक सिवराज कहँ॥

तत्कालीन राजाओं को फूल और औरंगजेब को मधुप बनाकर भूषण ने प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण का एक नया दृष्टि-कोण उपस्थित किया है—

कूरम कमल काम-धुज है कदंब फूल,
गौर है गुलाब, राना केतकी विराज है।
पांडरी पँवार, जूही सोहत है चन्द्रावत,
सरस बुँदेला सो चमेली साज बाज है।
'भूषन' भनत मुकुचन्द बड़-गूजर है,
बघेले बसंत सब कुसुम समाज है।
लेइ रस पतन को बैठ न सकत अहै,
अलि नवरंगजेब चंपा सिवराज है॥

विरह के उद्दीपन के रूप में प्रकृति का चित्रण भूषण से बहुत सुन्दर बन पड़ा है। श्याम जब साथ थे, तब यमुना की श्याम लहरें बहुत मोहक लगती थीं। कोकिला की कूक उनकी बाँसुरी के स्वरों में मिलकर हृदय में अनुराग का स्रोत बहा जाती थी। पर अब तो—

कारो जल जमुना को काल सों लगत आली,
छाइ रह्यो मानो यह विष काली नाग को।
बैरिन भई है कारी कोयल निगोड़ी यह,
तैसो ही भँवर कारो बसि बन बाग को।

अपनी सम्पूर्ण शोभा बिखेरे वसन्त आता है—

बन उपवन फूले अंबनि के झौंर झूले,
अवसि सुहात सोभा और सरसाई है।
अलि मदमत्त भये केतकी बसंती फूली,
'भूषन' बखानै सोभा सबै सुखदाई है॥

वसन्त का इतना रूप अकेले एक हृदय में समा नहीं पाता। यदि जीवन-सहचर साथ होता तो दोनों मिलकर इसका आनन्द ले पाते। किन्तु उसके न रहने पर—

विषम बिडारिबे को बहत समीर मंद,
कोकिला की कूक कान कानन सुहाई है।

और प्रिया कितना सरल सन्देश भेजती है—

इतनो सँदेसो है जू पथिक तिहारे हाथ,
कहो जाय कन्त सों बसन्त रितु आई है।

हिन्दू संस्कृति के कवि

भूषण को साम्प्रदायिक कवि मानकर पाठ्य पुस्तकों से उन्हें धीरे-धीरे अलग किया जा रहा है। लेकिन देखिए, मथुरा की ओर इंगित कर वे क्या कहते हैं—

कुम्भकर्न औरँग को औनि अवतार लैके,
मथुरा जराइ कै दुहाई फेरी रब की।

खोदि डारे देवी-देव-देवल अनेक सोई,
पेखि निज पानिन तें छूटी माल सब की ॥
'भूषन' भनत भाजे कासी-पति विश्वनाथ,
और का गनाऊँ नाम गिनती मैं अब की ।

भला हो शिवाजी का, जिन्होंने ठीक समय पर अवतार ले लिया; नहीं तो—

चारों बर्न धर्म छाँड़ि कलमा नेवाज पढ़ि,
सिवाजी न होते तो सुनति होति सब की ॥

एक इतिहासकार ने कहा है—'यदि औरंगजेब की सारी प्रजा सुन्नी मुसलमान होती तो वह सर्वश्रेष्ठ शासक होता।' अब जरा इस न्याय-वाक्य की तार्किक परीक्षा कीजिए—

औरंगजेब सर्वश्रेष्ठ शासक होता यदि उसकी सारी प्रजा सुन्नी मुसलमान होती।
क ख

उसकी सारी प्रजा सुन्नी मुसलमान नहीं थी
ग

∴ औरंगजेब······?

फिर औरंगजेब की निन्दा कर भूषण ने कौन-सा पाप किया ?

'म्लेच्छ' शब्द का रहस्य

म्लेच्छ—पुंलिंग [संस्कृत] हिन्दुओं की दृष्टि से वे जातियाँ जिनमें वर्णाश्रम धर्म न हो।
विशेषण १—नीच। २—पापी।*

यह मानने में तो किसी को आपत्ति न होगी कि भूषण हिन्दी के कवि हैं। हिन्दी में म्लेलछ का अर्थ नीच और पापी होता है। 'म्लेच्छ' का ही ग्राम्य

* प्रामाणिक हिन्दी कोश—श्री रामचन्द्र वर्म्मा।

रूप "मलिच्छ' (कुल-मलिच्छ, कुल-चन्द) है, जो आज भी उत्तर भारत के देहातों में गन्दे या घृणित पदार्थों या व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त होता है। म्लेच्छ शब्द का व्यवहार भूषण ने इन्हीं अर्थों में किया है। मुसलमानों के धर्म या आचार-व्यवहार के प्रति उन्होंने कहीं व्यंग्य नहीं किया।

'हाथ तसबीह लिए प्रात उठि बन्दगी को' वाले छन्द में उन्होंने औरंगजेब के पाखण्ड की निन्दा की है। इतना ही नहीं, औरंगजेब से घृणा करने के कारणों में एक यह भी है कि उसने 'हाथ लै कुरान खुदा की कसम' खाकर भी अपना वादा पूरा न किया—और वह वादा भी शिवा जी से नहीं, मुराद से था।

औरंगजेब के पूर्वजों की कवि ने प्रशंसा की है—

सतयुग त्रेता और द्वापर कलियुग माँहिं,
आदि भयो नाहिं भूप तिनहुँ ते अगरी।
अकबर बब्बर हुमाऊँ साह सासन सों,
स्नेह तें सुधारी हिम हीरन तें सगरी॥

कवि दारा शाह की वीरता पर भी रीझा है—

डंका के दिये तें दल डंबर उमंड्यौ,
उमंड्यौ उडु-मंडल लौं खुर की गरद है।
जहाँ दारा शाह बहादुर के चढ़त पैंड,
पैंड में मढ़त मारू राग बंब नद है।
'भूषन' भनत घने घुम्मत घरौल बारे,
किम्मत अमोल बहु हिम्मत दुरद है।
हद्दन छपद्द महि मद्द कर नद्द होत,
कद्दन भनद्द से जलद्द हलहद्द है॥

भूषण हिन्दू संस्कृति के रक्षक थे, किन्तु किसी अन्य संस्कृति से उन्हें द्वेष न था। धर्म किसी का हस्तक्षेप सहन नहीं कर सकता। धर्म के मार्ग

में आनेवाला रोड़ा हटाने के लिए भूषण कटिबद्ध थे, बात इतनी ही-सी है। अब यह आप की भावना पर निर्भर है कि आप उन्हें साम्प्रदायिक कहें या राष्ट्रीय ।

आचार्यत्व

रीति-काल की परम्परा के अनुसार भूषण ने 'शिवराज-भूषण' में शिवा जी को नायक बनाकर अलंकारों के लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किये हैं; किन्तु इस कार्य में उन्हें सफलता नहीं मिली है । भूषण का महत्त्व उनके आचार्यत्व के कारण नहीं, बल्कि कवित्त्व के कारण है ।

भाषा

अभिव्यक्ति के माध्यम को ही भाषा कहते हैं। भाषा कितनी ही सुन्दर क्यों न हो, पर यदि वह हमारी भावाभिव्यक्ति का उचित माध्यम नहीं बन पाती तो उसका सौन्दर्य किसी काम का नहीं है ।

वीर रस अपनाने के कारण भूषण की कविता में अक्खड़पन बहुत है। द्वित्त्व या संयुक्त वर्णवाले शब्दों का प्रयोग उन्होंने जी खोलकर किया है—

क—झुके निसान तजि समर सों मक्के तकि तुरुक्क भाजि ।
द्द—हद्दन छपद्द महि मद्द फरनद्द होत,
कद्दन भनद्द से जलद्द हलदद्द है ।
क्ख—सक्खर लौं भक्खर लौं मक्कर लौं चले जात ।

यह प्रवृत्ति कहीं-कहीं इतनी बढ़ गई है कि कविता पढ़ सकना भी टेढ़ी खीर है—

तट्टट्टइमन कट्टट्टिक मन सोइ रट्टट्टिल्लिय ।
सद्ददिसि दिसि भद्ददबिभइ रद्दद्दिल्लिय ॥

भुम्मिन्नधि किय धुम्मम्मड़ि रिपु जुम्मम्मलिकरि ।
लक्खक्खन रन दक्खक्खलनि अलक्खक्खिति भरि ।
हल्लल्लगि नर पल्लल्लरि पर नल्लहिलय जिति ।...आदि

भूषण ने शब्दों को इतना तोड़ा-मरोड़ा है कि वे पहचाने ही नहीं जाते—

पदिल सो बेदिल हरम कहैं वार बार

एदिल = आदिल शाह ।

तिनको तुरुक देखि नेक हू न लरजा

लरजा = फा० लर्जीदन से=लरजना या काँपना ।

ठान्यो न सलाम भान्यो साहि को इलाम

इलाम = इलहाम (१. ईश्वरीय प्रेरणा २. आज्ञा)

भूषण के पास शब्दों का अथाह कोश है । फारसी के दरबारी शब्दों का प्रयोग साधारण जनता किस प्रकार करती थी, यह आप भूषण की कविता में ही पा सकते हैं । कहीं-कहीं शब्दों के मूल अर्थ तक पहुँचने में बहुत खींच-तान करनी पड़ती है । अरबी-फारसी के शब्द उस समय तक हिन्दी भाषा में खप नहीं पाये थे । उनकी अर्थ-दुरूहता का एक अन्य कारण भी है । भूषण ने विदेशी शब्दों को हिन्दी के साँचे में ढालने का प्रयत्न किया है । नये प्रयोग होने के कारण वे अधिक दुरूह हो गये हैं । भूषण की स्वच्छन्द मनोवृत्ति भी इस अर्थ-दुरूहता में सहायक हुई है । उदाहरण के लिए उनका 'इलाम' शब्द लीजिए । अरबी के 'इलहाम' में से उन्होंने 'ह' निकालकर एक नया शब्द 'इलाम' बना लिया और उसका अर्थ 'आज्ञा' मान लिया ।

भूषण की भाषा का प्रवाह अनुपम है—

इन्द्र जिमि जृम्भ पर, बाड़व सुअंभ पर,
रावन सदंभ पर रघुकुल-राज हैं ।
पौन वारिवाह पर, संभु रति-नाह पर
ज्यों सहस्र-बाहु पर राम द्विजराज हैं ।

दावा द्रुम दुंड पर, चीता मृग झुंड पर
　　'भूषन' वितुंड पर जैसे मृगराज हैं।
तेज तम अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर,
　　त्यों मलेच्छ बंस पर सेर सिवराज हैं॥

कहा जाता है कि इसी कवित्त पर भूषण को शिवा जी से अठारह लाख रूपये, अठारह हाथी और अठारह गाँव मिले थे।

भूषण का उद्देश्य राष्ट्र की रग-रग में वीर रस का स्रोत बहा देना था। यह कार्य उन्होंने कर भी दिखाया। भाषा-सम्बन्धी छोटी-मोटी अड़चनों के होते हुए भी वीर रस के काव्य में भूषण का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

पूर्वा

दी उषा ने निज अधर की थी तुम्हें सुषमा निराली,
थिरकते शशि ने तुम्हारे विभव का था गीत गाया,
लोरियाँ गा गा मलय ने किसलयों पर था सुलाया,
और तुममें रश्मियों ने कामना की राशि ढाली।

देव

जन्म—सं० १७३०°वि० **निधन—सं० १८२४ वि०**

देवदत्त त्रिपाठी द्योसरिया (दुसहरिया) कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। आपके पिता का नाम पं० बिहारीलाल त्रिपाठी था। इटावे से बत्तीस मील कुसमरा (मैनपुरी) गाँव में आज भी आपके वंशज रहते हैं। बाल्य-काल से ही देव कविता लिखने लगे थे। सोलह वर्ष के अल्प वय में ही आपने 'भाव-विलास' पूर्णकर लिया था और औरंगजेब के बड़े पुत्र आजम शाह से पर्याप्त सम्मान पाया था। आपने सम्पूर्ण भारतवर्ष का भ्रमण किया था। आपको व्यावहारिक जगत का भी अच्छा ज्ञान तथा अनुभव था। पर आपका युग आप का सम्मान न कर सका। जीवन भर आश्रयदाताओं की खोज में आपको इधर-उधर भटकना पड़ा। आजम शाह, कुशलसिंह, उद्योतसिंह वैस, भोगीलाल और अकबर अली खाँ आपके प्रमुख आश्रयदाताओं में हैं।

रचनाएँ—भाव-विलास, अष्टयाम, भवानी-विलास, रस-विलास, सुखसागर तरंग, शब्द-रसायन, राग रत्नाकर, प्रेम-चन्द्रिका, ब्रह्म-दर्शन पचीसी, आत्म-दर्शन पचीसी, जगद्दर्शन पचीसी, नीति शतक आदि बहत्तर ग्रंथ।

हौं ही ब्रज वृन्दावन मोहीं में बसत सदा
जमुना तरंग स्याम रंग अवलीन की।
चहूँ ओर सुन्दर सघन बन देखियतु
कुंजनि में सुनियतु सु गुंजनि अलीन की।
बंसी बट तट नट-नागर नटतु मों में
रास के बिलास की मधुर धुनि बीन की।
भरि रही भनक बनक ताल तानन की
तनक तनक तामें खनक चुरीन की॥

देव के विषय में उपर्युक्त पंक्तियाँ पूर्णतः सत्य हैं। लगता है, जैसे सम्पूर्ण सृष्टि ही कवि के हृदय का प्रतिबिम्ब हो। कवि ने सृष्टि से अपने हृदय का तादात्म्य स्थापित कर लिया है। हाँ, उनकी कविता में 'चुरीन की खनक' 'तनक तनक' नहीं, बहुत है। चूड़ियों की खनक और तलवारों की झंकार दोनों जीवन के लिए आवश्यक हैं और उनका अस्तित्व एक दूसरे के लिए है।

देव में भावुकता की मात्रा बहुत अधिक थी। 'नहिं जानत एहि पुर बसत धोबी और कुम्हार' का व्यंग्य कर बिहारी अपनी कविता का हाथी गँवई-गाहकों के बीच से ले आ सकते थे; और 'तुमहु कान्ह मानो भए आजु कालिह के दानि' कहकर अपने आराध्य से खीझ सकते थे। किन्तु देव के लिए ऐसा करना कठिन था। जीवन भर वे योग्य आश्रयदाता की खोज में जहाँ-तहाँ भटकते रहे। जीवन से समझौता करना उन्होंने न सीखा था। आत्म-सम्मान बेचकर उन्होंने धन कभी ग्रहण नहीं किया। यही कारण है कि उनकी श्रृंगारिक रचनाओं में भी सर्वत्र एक करुण गम्भीरता व्याप्त है।

रूप

देखत ही जो मन हरै, सुख अँखियन को देइ।
रूप बखानौ ताहि को, जग चेरो करि लेइ॥

महलों का स्वप्न छोड़कर झोंपड़ियों में सौन्दर्य निहारनेवाले देव पहले कवि हैं। प्रकृति की गोद में पली बनजारिन का सौन्दर्य देखिए—

पँड़िन ऊपर घूमत घाँघरो, तैसियै सोहति सालु की सारी।
हाथ हरी-हरी राजै छरी, अरु जूती चढ़ी-पग फूँद-फुँदारी॥
ओछे उरोज, हरे घुँघुचीन के, हाँकति हाँ कहि बैल निहारी।
गातन ही दिखराय बटोहिन बातन ही बनिजै बनिजारी॥

जाति-विलास और रस-विलास देव की प्रौढ़तम कृतियों में से हैं। रस-विलास नायिका-भेद का बे-जोड़ ग्रंथ है। भारत के लग-भग सभी प्रदेशों और जातियों की नायिकाओं का देव ने सूक्ष्म निरीक्षण किया था। ग्रन्थ में एक बात खटकनेवाली यह है कि इसकी सभी नायिकाएँ किशोरी हैं, और उन्हें एक प्रेम-पात्र की आवश्यकता है। उपमाएँ और उत्प्रेक्षाएँ उसी देश या जाति से सम्बद्ध हैं जिस देश या जाति की नायिका का वर्णन किया गया है। सारा ग्रन्थ पढ़ जाने पर यही कहना पड़ता है कि क्या अच्छा होता, यदि देव ने नायिका-भेद के पंक से निकलकर अपनी प्रतिभा का अन्य क्षेत्रों में सदुपयोग किया होता। जो हो, एक प्रदेश (काश्मीर) और एक जाति (अहीर) की नायिका का रूप देखिए—

जोबन के रंग भरी ईंगुर से अंगनि पै,
पँड़िन लौं आँगी छाजै छबिन की भीर की।
उचके उचौहैं कुच झँपे झलकत झीनी,
झिलमिली ओढ़नी किनारीदार चीर की।
गुलगुले, गोरे, गोल, कोमल कपोल,
सुधा बिन्दु-बोल इन्दुमुखी नासिका ज्यों कीर की।
देव दुति लहराति, छूटे छहरात केस,
बोरी जैसे केसरि किसोरी कसमीर की॥

× × ×

माखन सो मन, दूध सो जोबन, है दधि तें अधिकै उर ईठी।
जा छबि आगे छपाकर छाछ, समेत सुधा बसुधा सब सीठी॥
नैनन नेह चुवै कवि 'देव' बुझावति बैन बियोग अँगीठी।
ऐसी रसीली अहीरी अहै कहो क्यों न लगै मनमोहनै मीठी॥

कवि रूप का दर्शक मात्र नहीं है, वह उसे अपने प्राणों में बसाना भी जानता है। रूप को कवि ने बहुत निकट से देखा है। नेत्र के सभी उपमान एक चरण में देखिए—

हरिन, चकोर, मीन, चंचरीक, मैन-बान
खंजन कुमुद कंज पुंजन तुलत हैं।

नयनों के रूप की जितनी मनोहारी कल्पना देव ने की है, उतनी अन्य किसी ने नहीं। नयन-सम्बन्धी उनकी उत्प्रेक्षाएँ बहुत हृदयग्राही हैं। यथा—

रूप के मन्दिर तो मुख में मति दीपक सों दृग ह्वै अनुकूले।
दर्पन में मनि नील सलील सुधाधर नील सरोज से फूले॥
'देव' जू सूरमुखी मृदु कूल के भीतर भौंर मनों भ्रम भूले।
अंक मयंकज के दल पंकज, पंकज में मनो पंकज फूले॥

× × ×

खंजन मीन मृगीन की छीनी दृगंचल चंचलता निमिषा की।

जहाँ एक ओर देव ने झोंपड़ियों का सौन्दर्य देखा, वहाँ दूसरी ओर महलों का सौन्दर्य भी उनकी दृष्टि से अछूता न बचा—

लागत समीर लंक लहकै समूल अंग,
फूल से दुकूलनि सुगन्ध बिथुर्‌यो परै।
इन्दु सो बदन, मन्द हाँसी सुधा-बिन्दु,
अरबिन्द ज्यों मुदित मकरन्दनि मुर्‌यो परै।
'देव' मनि-नूपुर-पदुम-पदहू पर ह्वै,
भू पर अनूप रंग-रूप निचुर्‌यो परै॥

रूप देखने में देव की दृष्टि इतनी पैनी थी कि साधारण से साधारण हाव-भाव भी उनसे छूटने न पाता था। गेंद खेलती हुई नायिका का चित्र देखें—

बाम कर बार, हार, अंचल सम्हारै, करै
कैयो फन्द, कन्दुक उछारै कर दाहिनै।

प्रेम

प्रेम के सम्बन्ध में देव की धारणाएँ इस प्रकार हैं—

दंपति-सरूप ब्रज औतर्‍यो अनूप सोई,
'देव' कियो देखि प्रेम-रस प्रेम-नामु है॥

× × ×

सुख दुख में हैं एक सम, तन मन वचन प्रतीत।
सहज बढ़ै हित चित नयो जहाँ सुप्रेम प्रतीति॥

देव सदा प्रेम को हृदय की वस्तु मानते थे। प्रेम की ऐन्द्रिक लिप्सा को वे सदैव हेय समझते थे—

आसी-विष, फाँसी विषम, विषय विष महाकूप।

जिस युग में हिन्दी के अधिकतर कवि परकीया रति के सिन्धु में डूब-से गये थे, उस युग में भी देव ने स्वकीया प्रेम की महत्ता बताई है। यथा—

प्रेम-हीन तिय बेस्या है सिंगाराभास।

× × ×

काँची प्रीति कुचाल की बिना नेह, रस-रीति।
मार रंग मारू, मही बारू की सी भीति॥

प्रगट भये परकीय अरु सामान्या को संग।
धरम-हीन, धन-हरनि, सुख थोरो, दुःख इकंग॥

और परकीया नायिका के मुँह से यह कहलाकर—

मेरे मन तेरी भूल मरी हौं हिये की सूल,
कीन्ही तिन तूल तूल अति ही अतुल तें।
भाँवते तें भौंड़ी करी, मानिनि तें मोरी करी,
कौड़ी करी हीरा तें, कनौड़ी करी कुल तें॥

उन्होंने पातिव्रत धर्म का आदर्श स्थिर किया है।

इस स्थल पर गोपियों की परकीया रति की भावना पर विचार कर लेना भी आवश्यक जान पड़ता है। नायिका भेद के शास्त्रीय दृष्टि-कोण के अनुसार उन्हें 'कुलटा' में स्थान मिलेगा। किन्तु ध्यान रखने की बात है कि इनका अस्तित्व भौतिक की अपेक्षा आध्यात्मिक ही अधिक है। साहित्य में गोपियाँ आत्मा के प्रतीक के रूप में आई हैं; और उनके मिलन की आकुलता एवं विरह की करुणा आत्मा के परमात्मा में मिलकर एकाकार हो जाने की आकुलता है।

नारी लज्जा और स्नेह की साकार प्रतिमा है। पति ही उसका परमेश्वर है—

बिपति हरन, सुख सम्पति करन, प्रान
पति परमेश्वर सों साझो कहौ कौन सो?

गौने जाती हुई नव-वधू को जब उसकी सयानी सखियाँ शिक्षा देती हैं—

बोलियो बोल सदा हँसि कोमल, जे मन-भावन के मन भाये।

तब—

यों सुनि ओछे उरोजन पै अनुराग के अंकुर से उठि आये।

क्या अच्छा होता यदि कोर्टशिप और तलाक के समर्थक भारतीय

नायिका के घूँघट को कविता का क्षेत्र बनानेवाले इस कवि की नायिका का अनुराग समझ पाते !

देव की कुल-वधू क्षमाशीला इतनी है कि विपथगामी पति के लिए भी उसके पास कटु शब्द नहीं है—

'देव जू' दरस बिनु तरस मर्यौ हो, पग
परसि जियैगो मन-बैरी अन-मारनो।
पतिब्रत-वती ये उपासी, प्यासी अँखियन,
प्रात उठि प्रीतम पियायो रूप-पारनो॥

उसकी कामना तो बस इतनी ही है—

साथ में राखिये नाथ उन्हें, हम हाथ में चाहति चारि चुरी ये।

प्रियतम को बुरे रास्ते पर जाते देखकर वह मान भी करती है; किन्तु इसमें अपना स्वार्थ न होकर पति के कल्याण की कामना ही अधिक रहती है।

एक गम्भीर दार्शनिक की भाँति देव अबोध यौवन को समझाते हैं—

मानिक सो मन खोलिये काहि ? कुगाहक नाहक के बहुतेरे।

प्रिय और प्रिया का एक-प्राण दो-देह होना देव ने निम्न पंक्तियों में कितनी सुन्दरता से व्यक्त किया है—

राधिका कान्ह को ध्यान धरै,
तब कान्ह ह्वै राधिका के गुन गावै।
त्यों अँसुआ बरसै, बरसाने को,
पाती लिखै, लिखि राधे को ध्यावै।
राधे ह्वै जाय घरीक में 'देव'
सु प्रेम की पाती लै छाती लगावै।
आपुने आपु ही में उरझै,
सुरझै, बिरुझै, समुझै, समुझावै॥

प्रेम का उच्चतम आदर्श

प्रेमास्पद के लिए सब-कुछ भूल जाने की तन्मयता हमें देव के गोपी-प्रेम के रूप में मिलती है। हम पहले कह चुके हैं कि गोपियाँ आध्यात्मिक प्रेम के प्रतीक-रूप में आई हैं—उनका भौतिक अस्तित्व नहीं है। यदि कुल-वधुएँ चाहें तो गोपी-प्रेम को अपने जीवन में ला सकती हैं; किन्तु उन्हें राधा की स्वकीया और ललिता की परकीया भावना को एकाकार कर अपने पति को ही कृष्ण मानना होगा। गोपी-प्रेम का आदर्श निश्चय ही बहुत ऊँचा है; किन्तु भौतिक जगत् के लिए अव्यावहारिक भी नहीं है।

गोपियाँ कृष्ण के लिए सभी भौतिक सुख ठुकराने को उद्यत हैं। उन्हें लोक-मर्यादा का भी ध्यान नहीं है—

कैसी लाज कैसो काज कैसो धौं सखि समाज,
कैसो घरु कैसो बरु कैसो डरु कैसी कानि ॥

× × ×

कोऊ कहौ कुलटा, कुलीन, अकुलीन कहौ,
कोऊ कहौ रंकिनी, कलंकिनी, कुनारी हौं।
कैसो नरलोक, परलोक बर लोकनि मैं,
लीन्ही मैं अलीक लोक-लीकन तें न्यारी हौं।
तन जाउ, मन जाउ, 'देव' गुरु-जन जाउ,
प्रान किन जाउ टेक टरत न टारी हौं।
वृन्दावन वारी बनवारी की मुकुट-वारी,
पीत पटवारी वाहि मूरति पै वारी हौं ॥

दीपक की भाँति वे चुपचाप जलना चाहती हैं। दूसरे उनसे प्रकाश भले ही लें, पर उन्हें छूकर हाथ न जलावें, यही उनकी कामना है—

बोख्यो बंस बिरद मैं, बौरी भई बरजत,
मेरे बार बार बीर, कोई पास बैठो जनि ।

प्रेमोन्माद के लिए उन्हें दोषी नहीं ठहराया जा सकता । वे करें भी क्या—

ऐसो मन मचला अचल अंग-अंग पर,
लालच के काज लोक-लाजहिं तें हटि गयो ।
लट में लटकि, कटि-लोयन उलटि करि,
त्रिवली पलटि कटि-तटिनि में कटि गयो ॥

और उधर श्याम ऐसा निर्मोही निकला कि सिंहासन और कुब्जा के पीछे गोपियों को भूल बैठा । प्रेमास्पद पर अपना अर्घ्य चढ़ाकर जब निराशा हाथ लगती है, तब रोते भी नहीं बनता—आँसू पलकों में ही सूख जाते हैं । वे श्याम से निराश होकर कहती हैं—

धार में धाय धँसी निरधार ह्वै, जाय फँसी, उकसी न उघेरी ।
री अगराय गिरी गहिरी गहि फेरे फिरी न घिरी नहिं घेरी ।
देव कछू अपनो बस ना रस लालच लाल चितै भईं चेरी ।
बेगि ही बूड़ि गईं पँखियाँ अँखियाँ मधु की मँखिया भईं मेरी ॥

श्याम ने बहुत दया की जो ऊधो को ज्ञान सिखाने के लिए ब्रज भेज दिया । श्याम का भेजा विष भी उन्हें अमृत-सा ग्राह्य था—ऊधो तो ज्ञान लाये थे । फिर भी वे विवश थीं । ज्ञान लेकर करतीं क्या ? वे तो श्याममय हो चुकी थीं—

आँखिन में तिमिर अमावस की रैनि अरु
जंबू रस बूँद जमुना-जल-तरंग मैं ।
यों ही मन मेरो मेरे काम कौ न रह्यो 'देव'
स्याम रँग ह्वै करि समान्यो स्याम रंग मैं ॥

× × ×

सॉँवरे लाल को सॉँवरो रूप में नैनन को कजरा करि राख्यो।

अपने पथ पर वे इतनी दूर चली आईं थीं कि वहाँ से लौटना उनके लिए सम्भव न था—

जौं ही लौं न जाने, अनजाने रही तौ लौं, अब
मेरो मन माई बहकाये बहकत नाहिं।

अब तो—

आँधी उसास, नदी अँसुआन की, बूड्यो वटोही, चलै बलुका ह्वै।
साहुनी ह्वै चित चीति रही अरु पाहुनी ह्वै गई नींद बिदा ह्वै॥

जो पलकों में समाया हो, वह दूर भागकर जायगा कहाँ? वे श्याम के लिए नहीं रोतीं। उनकी आँखों में आँसू तो इस कारण हैं कि—

रावरो रूप भर्‍यो अँखियान, भर्‍यो सु भर्‍यो, उमड्यो सु ढुर्‍यो परै।

संयोग शृङ्गार

देव के संयोग शृंगार के अधिकतर चित्र अश्लील हो गये हैं। तुलसी और सूर का संयोग शृंगार पढ़ते समय हमारे मन में सीता और राधा के प्रति जगत्-जननी की पवित्रता की भावना बराबर बनी रहती है। परन्तु देव की नायिका के प्रति ऐसी कोई भावना नहीं आ पाती। बस रीति काल की अश्लीलता का यही रहस्य है। नायिका के आँचल की छाया में सोनेवाले इस कवि ने यौवन की स्वाभाविक अनुभूतियों का वर्णन बहुत सरसता से किया है। यौवन और प्रणय को कविता के क्षेत्र से हटा देने पर शेष क्या बचेगा, यह कहना कठिन है। जो हो, प्रथम मिलन का एक दृश्य देखिए—

अंक भरि लीन्ही गहि अंचल को छोरु, 'देव'
जोरु कै जनावै नव यौवन के जोर को।

लाल के अधर बाल अधरन लागि लागि,
उठी मैन आगि पिघलान्यो मन मोम सो।

जीवन का वास्तविक आनन्द तभी है, जब प्रिय और प्रिया अपना अस्तित्त्व एक दूसरे में खो दें—

दोउन को रूप गुन दोऊ बरनत फिरैं,
घर न थिरात, रीति नेह की नई-नई।
मोहि-मोहि मोहन को मन भयो राधामय,
राधा मन मोहि-मोहि मोहन मई-मई॥

राधा और मोहन के नाम से न चौंकिए, देव के लिए प्रत्येक पत्नी राधा है और प्रत्येक पति मोहन। आवश्यकता है मानव के लिए प्रेम की उस उच्चतम अवस्था तक पहुँचने की।

यह तो रहा प्रेम। अब तनिक छेड़-छाड़ भी देख लीजिए—

अंगनि उघारौ जनि लंगर लगोई माँग,
मोती लर टूटत लरकि आई लुरकी।
'देव' कर जोरि करि, अंचल को छोर गहि,
छाती मुठि छूटति न नीठि ठन ढुरकी।
आँसू दृग पूरि श्रम पूर चक-चूर ह्वै,
कहति प्यारी दोऊ भुज दीन्हें ओट उर की।
मरी जात लाजन, अकाज ना करैया दैया,
छाँड़ि दे अनोखे नाह, बाँह जाति मुरकी॥

नायक की यह धृष्टता भी कितनी मनोहारी है जो बरबस ही हृदय खींच लेती है। प्राथमिक प्रेम का स्वाभाविक उन्माद जैसे इन पंक्तियों में साकार हो उठा है।

वियोग श्रृंगार

देव ने वियोग श्रृंगार में कोई नवीन प्रयोग नहीं किया। उनके वियोग सम्बन्धी अधिकतर चित्र परम्परागत हैं।

संयोग काल की प्रिय वस्तुएँ वियोग में मिलन की याद दिलाकर हृदय में टीस उत्पन्न करती हैं। प्रियतम के बिना—

फूल ज्यों सूल, सिला सम सेज,
बिछौननि बीच बिछैं मनो बीछी।

× × ×

अंग-अंग आगि ऐसे केसरि के नीर लागे,
चीर लागे जरन, अबीर लागे दहकन।

× × ×

लौटि लौटि परत करौट खाट पाटी लै लै,
सूखे जल सफरी ज्यों सेज पै तरफराति।

इतनी ज्वाला में भी वह जी रही है! सब साथ छोड़ दें, लेकिन आँखें तो अपनी हैं—

सखियाँ है मेरी मोहि अँखियाँ न सींचतीं, तौ
याही रतियाँ में जाती छतियाँ छ टूक है।

आँखों ने जैसे बादलों से होड़ ले ली है—

तारे खुले न, घिरी बरुनी घन, नैन दोऊ भये सावन-भादौं।

कोकिला के मीठे बोल भी सुहाने नहीं लगते—

कोमल कूकि लै कैलिया कूर, करेजन की किरचैं करती क्यों।

प्रियतम के बिना आँखें जोगिन बन बैठी हैं—

बरुनी बघम्बर मैं गूदरी पलक दोऊ,
कोये राते बसन भगौंहैं बेस रखियाँ।
बूड़ी जल ही मैं, दिन जामिनी हूँ जागैं, भौंहें
धूम सिर छायो बिरहानल बिलखियाँ।
अँसुवा फटिक माल, लाल डोरी सेल्ही पैन्हि
भई हैं अकेली तजि चेली संग सखियाँ।
दीजिये दरस 'देव' कीजिये सँजोगिनि, ये
जोगिन ह्वै बैठी हैं बियोगिनि की अँखियाँ॥

जोगिनी का यह सांग रूपक साहित्य में अपना सानी नहीं रखता।

प्राण प्रियतम में बसते हैं, देह उसके बिना सूनी-सूनी इधर-उधर घूम रही है। शरीर के पाँचों तत्त्व धीरे-धीरे पंचतत्त्व में विलीन हो रहे हैं, जीव ही मिलन की आशा में बच रहा है—

साँसन ही सों समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि।
तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तनु की तनुता करि।
जीव रह्यो मिलिबेइ की आस कि आसहू पास अकास रह्यो भरि।
जा दिन तें मुख फेरि, हरे हँसि, हेरि हियो जु लियो हरि जू हरि॥

राधा-कृष्ण

रीति-कालीन कवियों ने राधा और कृष्ण को साधारण नायक-नायिका के विलास की परिधि में लाकर उनकी खूब मिट्टी पलीद की है। देव ने भर-सक इस पंक से बचने का प्रयत्न किया है; फिर भी कहीं-कहीं एक-दो छींटे उनकी कविता में आ ही गये हैं—

भोर ही भोरे ही श्री बृषभानु के आयो अकेलोई केलि भुलान्यो।
'देव' जू सोवत ही उत भामती झीनै महा झलकै पट तान्यो॥

आरस तें उघरी इक बाँह भरी छबि देखि हरी अकुलान्यो।
मीड़त हाथ फिरै उमड़्यौ-सो मड़ो व्रज बीच फिर्‌यो मँड़रान्यो॥

पुष्टि-मार्गीय भक्ति की 'लीला' भी बहुत कुछ इसी प्रकार की है, पर देव की इस कविता में उस भावात्मक पवित्रता का अभाव है। इस छन्द को हम देव की राधा-कृष्ण-भक्ति का अपवाद मान सकते हैं। राधा का पवित्र सौन्दर्य निम्न पंक्तियों में देखिए—

आई बरसाने तें बोलाई बृषभानु-सुता,
निरखि प्रभानि प्रभा भानु की अथै गई।
चक-चकवान के चकाये चक चोटन सों,
चौंकत चकोर चकचौंधी सी चकै गई।
'देव' नन्द-नन्दन के नैनन अनन्दमयी,
नन्द जू के मन्दिरन चन्द-मई छ्वै गई।
कंजन कलिन-मयी, कुंजन नलिन-मयी,
गोकुल की गलिन अनिल-मयी ह्वै गई॥

जाति-विलास की वन्दना से जान पड़ता है कि देव कृष्ण की मधुरिमा के उपासक थे—

पाँयनि नूपुर मंजु बजैं, कटि किंकिनि में धुनि की मधुराई।
साँवरे अंग लसै पट-पीत, हिये हुलसै बन-माल सुहाई।
माथे किरीट, बड़े दृग चंचल, मन्द हँसी, मुख चन्द जुन्हाई।
जै जग-मन्दिर-दीपक, सुन्दर श्री व्रज दूलह 'देव' सहाई॥

ऐसा अनूप रूप पाकर भला कौन ऐसा पाषाण-हृदय होगा जो आत्म-विस्मृत न हो जाय——देव का हृदय तो सरस था। भावुक कवि का मन-मन्दिर घनश्याम के रस की वर्षा से ऐसा भींगा कि 'अपना' कहने को उसके पास कुछ शेष ही न रहा—

देव घनश्याम रस बरस्यो अखंड धार,
पूरन अपार प्रेम-पूर न सहि पर्‍यो।
विषै बन्धु बूड़े, मद-मोह-सुत दबे देखि,
अहंकार-मीत मरि, मुरझि महि पर्‍यो॥
आसा-त्रिसना सी बहू-बेटी लै निकसि भाजी,
माया मेहरी पै देहरी पै न रहि पर्‍यो।
गयो नहिं हेरो, लयो बन में बसेरो, नेह-
नदी के किनारे मन मन्दिर ढहि पर्‍यो॥

दार्शनिक चिन्तन

रजनी के श्यामल अंचल की गोद में तब तक पड़े रहने को जी चाहता है, जब तक सूरज की सुनहरी किरणों का स्पर्श नहीं होता। प्रकाश भी अन्धकार का दूसरा रूप है। देव की विराग-वृत्ति उनके अतिशय राग का ही दूसरा रूप है। श्रृंगार जब अपनी चरम सीमा पर पहुँचकर पलटा खाता है, तब उसका अवसान शान्त रस में होता है[1]। चंचल मन की गति में कवि की मति भूल गई है। मन को समझाने में उसने कुछ उठा न रखा; किन्तु तृष्णा का नाश न हुआ। कवि समझ नहीं पाता कि 'दाड़िम, दाख, रसाल-सिता, मधु, ऊख, पियूष' सा पानी पीकर भी 'तरुनी तिय के अधरान के पीवे की प्यास' क्यों न बुझी? वह खीझकर अपने मन से कहता है—

ऐसो जो हौं जानतो कि जैहै तू बिषै के संग,
ए रे मन मेरे, हाथ, पाँव तेरे तोरतो।
आजु लौं हौं कत नर-नाहन की नाहीं सुनी,
नेह सों निहारि हारि बदन निहोरतो॥

---

१. जब दिया रंज बुतों ने तो खुदा याद आया।

चलन न देतो देव चंचल अचल करि,
चाबुक चिताउनीन मारि मुँह मोरतो।
भारो प्रेम-पाथर नगारो दै गरे सों बाँधि,
राधावर-विरद के बारिधि में बोरतो ॥

मन में माधुर्य पक्ष की प्रधानता होने के कारण देव राधा-कृष्ण में अनुरक्त थे। अन्य देवताओं की भी उन्होंने स्तुति की है; उनके उपास्य देवों की सूची में शिव, पार्वती, राम, सीता और सरस्वती उल्लेखनीय हैं। अद्वैतवाद की ओर भी वे आकर्षित थे; किन्तु उनके मंगलाचरण उन्हें राधा-कृष्ण का अनन्य भक्त ही सिद्ध करते हैं।

आत्मा और परमात्मा विषयक सिद्धान्तों में देव ने शंकर के अद्वैत-दर्शन के साथ वैष्णव दर्शन को भी मान्य किया है, किन्तु जगत के सम्बन्ध में उनके विचार शंकराचार्य से मिलते-जुलते हैं। संसार को वे मिथ्या मानते हैं। उन्होंने केवल ब्रह्म का अस्तित्व माना है।

जीव और ब्रह्म के बीच में माया दीवार का काम करती है। देव का विचार है कि माया ब्रह्म से उत्पन्न होकर ब्रह्म का ही बन्धन बन जाती है। ब्रह्म अपने ही गुणों से माया उत्पन्न करता है; और जिस प्रकार मकड़ी अपने ही जाल में बन्दिनी बनती है, उसी प्रकार ब्रह्म भी माया का बन्दी बनता है—

क्यों बाँधे कैसो बँधे, पूरन परमानन्द।
बँध्यो रूप यों देखिये, ज्यों बादर में चन्द ॥

भव-सागर से छुटकारा पाने के लिए देव ने भक्ति का सहारा लिया है। सौन्दर्य-प्रेमी कवि का 'राधा वर विरुद के बारिधि' में स्थान ढूँढ़ना स्वाभाविक ही है, क्योंकि शुष्क ज्ञान-मार्ग के प्रति उनकी आस्था न थी।

देव को किसी सम्प्रदाय विशेष के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। शंकराचार्य, वल्लभाचार्य, निम्बार्क, चैतन्य महाप्रभु, रामानुज, रामानन्द आदि लगभग सभी महापुरुषों के विचारों से वे प्रभावित थे। रीति-काल में

साम्प्रदायिक विद्वेष समाप्त हो चुका था। देव ने सभी मत-मतान्तरों का अध्ययन कर अपनी रचना में उनके सुन्दर सिद्धान्तों का समावेश किया है।

प्रकृति-वर्णन

देव ने प्रकृति का अधिकतर चित्रण उद्दीपन रूप में ही किया है। फिर भी आलम्बन रूप में प्रकृति के मधुर चित्रों का एक-दम अभाव नहीं है—

अरुन उदोत सकरुन ह्वै अरुन नैन
तरुन तरुन तन तूमत फिरत है।
कुंज कुंज केलि कै नवेली बाल बेलिनि सों
नायक पवन बन झूमत फिरत है।
अम्ब कुल बकुल समीड़ि पीड़ि पाडरनि
मल्लिकानि मींड़ि घन घूमत फिरत है।
द्रुमन द्रुमन दल दुमत मधुप देव
सुमन सुमन मुख चूमत फिरत है॥

किन्तु इस मदमाते समीर को कवि मानवीय जीवन से अलग रखकर नहीं देख सका—

सँजोगिन की तू हरै उर पीर, बियोगिनि के सँवरै उर पीर।
कलीन खिलाइ करै मधुपान, गलीन भरै मधुपान की भीर।
नचै मिलि बेलि बधून अचै सुर 'देव' नचावति आधि अधीर।
तिहूँ गुन देखिये दोष भरे अरे सीतल मन्द सुगन्ध समीर॥

इसी प्रकार का पावस का भी एक छन्द देखिए—

सुनि कै धुनि चातक मोरन की चहुँ ओरन कोकिल कूकन सों।
अनुराग-भरे बन-बागन मैं हरि रागत-राग अचूकन सों॥

कवि 'देव' घटा उनई जु नई, बन-भूमि भई दल दूकनि सों।
रँग-राती हरी हहराती लता, झुकि जाती समीर के झूकनि सों॥

उद्दीपन रूप में प्रकृति का वर्णन करने के कारणों पर हम रीति-काल की भूमिका में प्रकाश डाल आये हैं। आलम्बन रूप में देव प्रकृति का वर्णन नहीं कर सकते थे, यह बात नहीं है। जहाँ उन्होंने प्रकृति को आलम्बन रूप में लिया है, वहाँ भी उनकी कला निखर उठी है। वसन्त-वर्णन देखें—

डार-द्रुम-पालन बिछौना नव पल्लव के,
सुमन-झिंगोला सोहै तन-छबि भारी दै।
पवन झुलावै केकी कीर बतरावै 'देव'
कोकिल हलावै हुलसावै कर तारी दै।
पूरित पराग सों उतारा करै राई नोन
कुन्द कली नायिका लतान सिर सारी दै।
मदन-महीप जू को बालक बसन्त, ताहि
प्रातहि जगावत गुलाब चटकारी दै॥

'पूरित पराग सों' और 'लतान सिर सारी' इन छः शब्दों में ही कवि ने नारी, लज्जा, यौवन और सौन्दर्य का पारस्परिक सम्बन्ध निर्धारित करके कमाल किया है!

आचार्यत्व

सोलह वर्ष की अल्प अवस्था में ही देव ने 'भाव-विलास' नामक प्रसिद्ध रीति-ग्रंथ लिखा था। उसका आधार ग्रंथ भानुदत्त की 'रस-तरंगिणी' है। केशव से भी वे बहुत अधिक प्रभावित थे, किन्तु आवश्यकतानुसार उन्होंने अपनी स्वतन्त्र प्रतिभा का भी उपयोग किया है। 'छल' को उन्होंने चौंतीसवाँ संचारी भाव माना है और उसकी परिभाषा यों की है—

अपमानादिक करन को कीजै क्रिया छिपाव।
वक्र उक्ति अन्तर-कपट, सो बरनै छल भाव॥

उन्होंने नायिकाओं के कुल तीन सौ चार भेद किये हैं और उनतालिस मुख्य अलंकारों का विवेचन किया है।

विषय का प्रतिपादन देव ने सरल भाषा में किया है। वीभत्स रस और जुगुप्सा का एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

बस्तु घिनौनी देखि सुनि घिन उपजै जिय माहिं।
घिन बाढ़ै वीभत्स रस, चित की रुचि मिटि जाहिं॥
निंद्य कर्म करि निंद्य-गति, सुनै कि देखै कोय।
तन सँकोच मन सम्भ्रमस, द्विविध जुगुप्सा होय॥

लक्षण और उदाहरण देने में देव अपना सानी नहीं रखते। प्राचीन प्रकार के आठों सवैयों के लक्षण और नाम एक ही छन्द में देखिए—

सैल भगा, बसुभा, मुनि भागग, सात भगोल, लसै लभगा।
लै मुनि भागग, ही लल सत्त भगी, लल सात भगंग पगा॥
पी मदिरा, व्रज नारि किरीट, सुमालति, चित्र-पदा, भ्रभगा।
मल्लिक, माधवि, दुर्मिलिका, कमला सु सवैय बसु क्रम गा॥[1]

---

१. भगण—एक गुरु और दो लघु
मदिरा—सैल भगा=सात भगण और एक गुरु
किरीटी—बसु भा=आठ भगण
मालती—मुनि भागग=सात भगण और दो गुरु
चित्रपदा—सात भगोल=सात भगण और एक लघु
मल्लिका—लसै लभगा=एक लघु, सात भगण और एक गुरु
माधवी—लै मुनि भागग=एक लघु, सात भगण और दो गुरु
दुर्मिलिका—लल सत्त भगी=दो लघु, सात भगण और एक गुरु
कमला—लल सात भगंग=दो लघु, सात भगण और दो गुरु

रूढ़ियों के प्रति अनास्था

देव ने प्रचलित रूढ़ि-गत कुसंस्कारों पर कभी आस्था नहीं प्रकट की। उनके विचार आज के समाजवादी और साम्यवादी विचारकों से कई पग आगे हैं। अछूतों के प्रति उनका यह कथन देखिए—

हैं उपजे रज बीज ही तें बिनसेहू सबै छिति छार कै छाँड़े।
एक से देखु कछू न बिसोक ज्यों एक उन्हार कुम्हार के भाँड़े॥
तापर ऊँच औ नीच बिचारि बृथा बकवादि बढ़ावति चाँड़े।
बेदनि मूँदि कियौ इन दुन्दु कि सूद अपावन पावन पाँड़े॥

हरिजन-सुधार आन्दोलन के कार्य-कर्त्ताओं से देव रत्ती भर भी पीछे नहीं हैं। नीचे की पंक्तियों में तो उन्होंने धर्म को भी व्यर्थ की वस्तु कहा है—

मूढ़ कहैं मरि कै फिर पाइये, ह्याँ जु लुटाइये भौन भरे को।
ते खल खोइ खिस्यात खरे, अवतार सुन्यो कछु छार परे को।
जीवत तौ ब्रत भूख सुखौत, सरीर महासुर रूख हरे को।
ऐसी असाधु, असाधुन की बुधि, साधना देत सराध मरे को॥

× × ×

पाप न, पुण्य न स्वर्ग न नर्क, लबारन लोग भले को भुलायो॥

देव को धर्म से घृणा न थी; उन्हें घृणा थी धर्म के ठेकेदारों की उस प्रवृत्ति से जो धर्म को व्यवसाय बनाकर उसपर एकाधिकार करना चाहती थी—जिसका ध्यान भगवान की आरती की अपेक्षा थाल में बरसनेवाले पैसों की ओर ही अधिक रहता था। धर्म को देव ने आध्यात्मिक शान्ति के पथ-प्रदर्शक के रूप में स्वीकृत किया है। अपने आदर्श से च्युत होकर ही धर्म उनकी घृणा का विषय बना था।

भाषा

ब्रज भाषा एक तो स्वयं इतनी मधुर है कि वीरों की गर्वोक्तियाँ और

युद्ध-वर्णन भी उसमें मधुर लगते हैं। तिसपर देव की प्रौढ़ लेखनी से उसका माधुर्य और अधिक निखर उठा है—

सहर-सहर सौंधो, सीतल समीर डोलै,
घहर-घहर घन घेरि कै घहरिया।...
फहर-फहर होत प्रीतम को पीत पट,
लहर-लहर होत प्यारी की लहरिया॥

टकार कर्ण-कटु-वर्ण है। केशव जैसे सु-कवि की कविता में आकर इसने पंचवटी का सारा सौन्दर्य ही हजम कर लिया है। किन्तु देव की मधुरिमा में यह तो भींग गया है—

टहकी लगनि, चटकीली उमँगनि गौन,
लट की लटक नट की सी कला लटक्यो।
त्रिबली ढलोटन सलोट लटपटी सारी,
चोट चटपटी, अटपटी चाल चटक्यो।
चुकुटी चहक त्रिकुटी तट मटक मन
भृकुटी कुटिल कोटि भावना में भटक्यो।
टहल बटल बोल पाटल कपोल 'देव'
दीपति-पटल में अटल ह्वै कै अटक्यो॥

देव की भाषा शुद्ध और परिमार्जित साहित्यिक ब्रज भाषा है। भाषा में प्रवाह लाने और उसकी मधुरिमा बनाये रखने के लिए देव ने शब्दों को आवश्यकतानुसार थोड़ा-बहुत तोड़ा-मरोड़ा भी है। जन-समाज में प्रचलित विदेशी शब्द जैसे खवासी, कजाक, फराखत, इतराज आदि लेने में भी उन्होंने संकोच नहीं किया है। किन्तु ये शब्द उनकी परिमार्जित संस्कृत-निष्ठ ब्रज भाषा में इस प्रकार पच गये हैं कि इनके विदेशी होने का भान ही नहीं होने पाता—

ऐसो कौन आज जाकी सोहत समाज जहाँ,
सबको सुकाज साहिबी को सुख साज है।
'देव' गुणमन्त सन्त सामन्त समाज, राज—
काज को जहाज दिल दरिया-दराज है॥
जापै इतराज ता गनीम सिर गाज बग—
वैरिन पै बाज सैद बंस सिरताज है।
सानी सुर-राज जो पिहानी पुर राज करैं,
मही में जहाज महमदी महराज है॥

यह कविता पिहानी नरेश अकबर अली खाँ की प्रशस्ति में लिखी गई है। भोगीलाल और अकबर अली की प्रशस्तियों से जाना जा सकता है कि देव अपनी भाषा को पात्रानुकूल बना सकने में कितने समर्थ थे।

देव ने अपनी कविता में लोकोक्तियों और मुहावरों का भी प्रयोग बहुत सुन्दरता से किया है। कुछ उदाहरण देखिए—

सम्पति में ऐंठि बैठे चौतरा अदालत के,
बिपति में पैन्हि बैठे पाँय झुन-झुनियाँ।
सम्पति में काँय काँय, बिपति में भाँय भाँय,
काँय काँय, भाँय भाँय देखी सब दुनियाँ॥

× × ×

गरे परि कौ लगि प्यारी कहैए?

× × ×

कालिह के जोगी कलींदे को खप्परु।

× × ×

जोग हू तें कठिन सँजोग पर नारी को।

पूर्वा

एक घूँट की प्यास, अमर बन गई
न पूरी चाह हुई,
पीउ पीउ रट बना न बादल
आँसू थे औ आह रही;
हरी हुई धरती, मन सूखा,
चिता जली अरमानों की,
ढोने को कन्धे न मिले
अस्फुट-सी एक कराह रही।

घनानन्द की आसक्ति रूप के प्रति थी और रूप की आसक्ति रुपए (वैभव) के प्रति। घनानन्द शलभ थे और सुजान प्रभा। न तो शलभ को प्रभा समझ पाती है और न प्रभा को शलभ। एक दूसरे पर अपने को उत्सर्ग कर देने की साध दोनों में समान रूप से रहने पर भी उनके बीच की दूरी बनी ही रहती है। दूरी की यह खाई न तो शलभ पंख झुलसाकर भर पाता है और न निविड़ अन्धकार में आश्रय ढूँढ़नेवाली निर्वाणान्मुख प्रभा की धूम-शिखा!

मुहम्मद शाह 'रँगीले' के कोषाध्यक्ष्य सुजान का हृदय न पहचान सके थे, यह कटु सत्य है। यदि वे सुजान को समझ सके होते तो सम्राट् की ओर पीठ और उसकी ओर मुँह करके कभी न गाते। घनानन्द का हृदय चकनाचूर करने के लिए अकेली सुजान ही उत्तरदायी नहीं है। इतिहास सुजान के विषय में मौन है। हो सकता है, सुजान को अपने व्यवहार के लिए पश्चात्ताप भी हुआ हो। पर घनानन्द उससे अलग होकर इतने ऊँचे उठ चुके थे कि उनकी पद-रज छू सकना भी सुजान के लिए असम्भव हो गया था।

घनानन्द की वाणी में शक्ति थी, उनके आँसू हिन्दी कविता की वेणी के शृंगार बने और सुजान के आँसू पलक-पंखड़ियों से गिरकर धूल में समा गये। घनानन्द उपेक्षित होकर भी हमारी श्रद्धा के पात्र बने और सुजान उपेक्षक होकर भी उपेक्षित रही। इन दो अबोध हृदयों की भूल का परिणाम हिन्दी साहित्य के लिए शुभ ही हुआ।

समुझै कविता घनआँनद की जेहि आँखिन प्रेम की पीर तची।

घनानन्द के प्रेम का वेग बरसात की पहाड़ी नदी-सा फूटा पड़ता है। उसे बाँध रखने के लिए हृदय में प्रेम का भी वैसा ही वेग होना चाहिए। लोहा लोहे से ही कटता है; भावना भावुक के ही पल्ले पड़ती है। घनानन्द को समझने के लिए पाठक के हृदय में भी प्रेम की उसी प्यास की अपेक्षा है जो घनानन्द को जलाये डालती थी। वैभव और विलास की सारी सामग्री कवि के सामने बिखरी पड़ी थी; किन्तु उसके आँसुओं का वेग इतना

प्रखर था कि वह उन्हें देख ही न सका। संसार ने उससे जो रत्न बल-पूर्वक छीन लिया था, उसकी याद में वह जीवन भर तड़पता ही रहा। अपने आँसुओं के मोतियों से हिन्दी साहित्य का कोष भरकर भी कवि भिखारी ही बना रहा। दिवाली में जहाँ दूसरे—

दियरा जगाय जागैं पिय पाय तिय लागैं

वहाँ कवि—

हियरा जगाय हम जोगन जगावहीं।

कभी-कभी मन में खीझ-सी उठती थी कि आखिर इतने मोती हम किसके लिए लुटा रहे हैं। वह सोचता था—

अब मो उर आवत है सजनी उनसे सपनेहुँ न बोलियो री।

किन्तु सारे विचार धरे रह जाते थे। जीवन भर वह अपनी सुजान को भूल न सका।

घनानन्द के उद्‌गार स्वाभाविक थे—

लोग हैं लागि कवित्त बनावत मोहिं तौ मेरे कवित्त बनावत।

घनानन्द ने कविता का निर्माण नहीं किया था, घनानन्द को ही कविता ने बनाया था। उनकी इस पंक्ति से जान पड़ता है कि कविता और कवि दोनों मिलकर एक हो गये थे।

जब मर्म-स्थल जान या अनजान में चोट खा जाता है, तब आँखों से खारे पानी का स्रोत उमड़ पड़ता है। कवि सोचता है कि शायद घाव इनसे धुलकर सूख जायँ; किन्तु ये खारे पानी उसे हरा ही बनाये रखते हैं। ज्यों ज्यों आँसू बरसते हैं, त्यों त्यों आग और भी धधकती चलती है।

अन्धा प्रेम रूप नहीं देखता, गुण नहीं देखता, 'वफा' नहीं देखता। उसे तो हृदय जबरदस्ती किसी को दे डालना आता है। वह यह नहीं सोचता कि जिसे मैं हृदय दे रहा हूँ, उसे उसकी आवश्यकता या परवाह भी है या

घनानन्द की आसक्ति रूप के प्रति थी और रूप की आसक्ति रुपए (वैभव) के प्रति। घनानन्द शलभ थे और सुजान प्रभा। न तो शलभ को प्रभा समझ पाती है और न प्रभा को शलभ। एक दूसरे पर अपने को उत्सर्ग कर देने की साध दोनों में समान रूप से रहने पर भी उनके बीच की दूरी बनी ही रहती है। दूरी की यह खाई न तो शलभ पंख झुलसाकर भर पाता है और न निविड़ अन्धकार में आश्रय ढूँढ़नेवाली निर्वाणान्मुख प्रभा की धूम-शिखा !

मुहम्मद शाह 'रँगीले' के कोषाध्यक्ष्य सुजान का हृदय न पहचान सके थे, यह कटु सत्य है। यदि वे सुजान को समझ सके होते तो सम्राट् की ओर पीठ और उसकी ओर मुँह करके कभी न गाते। घनानन्द का हृदय चकनाचूर करने के लिए अकेली सुजान ही उत्तरदायी नहीं है। इतिहास सुजान के विषय में मौन है। हो सकता है, सुजान को अपने व्यवहार के लिए पश्चात्ताप भी हुआ हो। पर घनानन्द उससे अलग होकर इतने ऊँचे उठ चुके थे कि उनकी पद-रज छू सकना भी सुजान के लिए असम्भव हो गया था।

घनानन्द की वाणी में शक्ति थी, उनके आँसू हिन्दी कविता की वेणी के शृंगार बने और सुजान के आँसू पलक-पंखड़ियों से गिरकर धूल में समा गये। घनानन्द उपेक्षित होकर भी हमारी श्रद्धा के पात्र बने और सुजान उपेक्षक होकर भी उपेक्षित रही। इन दो अबोध हृदयों की भूल का परिणाम हिन्दी साहित्य के लिए शुभ ही हुआ।

समुझै कविता घनआँनद की जेहि आँखिन प्रेम की पीर तची।

घनानन्द के प्रेम का वेग बरसात की पहाड़ी नदी-सा फूटा पड़ता है। उसे बाँध रखने के लिए हृदय में प्रेम का भी वैसा ही वेग होना चाहिए। लोहा लोहे से ही कटता है; भावना भावुक के ही पल्ले पड़ती है। घनानन्द को समझने के लिए पाठक के हृदय में भी प्रेम की उसी प्यास की अपेक्षा है जो घनानन्द को जलाये डालती थी। वैभव और विलास की सारी सामग्री कवि के सामने बिखरी पड़ी थी; किन्तु उसके आँसुओं का वेग इतना

प्रखर था कि वह उन्हें देख ही न सका। संसार ने उससे जो रत्न बल-पूर्वक छीन लिया था, उसकी याद में वह जीवन भर तड़पता ही रहा। अपने आँसुओं के मोतियों से हिन्दी साहित्य का कोष भरकर भी कवि भिखारी ही बना रहा। दिवाली में जहाँ दूसरे—

दियरा जगाय जागैं पिय पाय तिय लागैं

वहाँ कवि—

हियरा जगाय हम जोगन जगावहीं।

कभी-कभी मन में खीझ-सी उठती थी कि आखिर इतने मोती हम किसके लिए लुटा रहे हैं। वह सोचता था—

अब मो उर आवत है सजनी उनसे सपनेहुँ न बोलियो री।

किन्तु सारे विचार धरे रह जाते थे। जीवन भर वह अपनी सुजान को भूल न सका।

घनानन्द के उद्गार स्वाभाविक थे—

लोग हैं लागि कवित्त बनावत मोहिं तौ मेरे कवित्त बनावत।

घनानन्द ने कविता का निर्माण नहीं किया था, घनानन्द को ही कविता ने बनाया था। उनकी इस पंक्ति से जान पड़ता है कि कविता और कवि दोनों मिलकर एक हो गये थे।

जब मर्म-स्थल जान या अनजान में चोट खा जाता है, तब आँखों से खारे पानी का स्रोत उमड़ पड़ता है। कवि सोचता है कि शायद घाव इनसे धुलकर सूख जायँ; किन्तु ये खारे पानी उसे हरा ही बनाये रखते हैं। ज्यों ज्यों आँसू बरसते हैं, त्यों त्यों आग और भी धधकती चलती है।

अन्धा प्रेम रूप नहीं देखता, गुण नहीं देखता, 'वफा' नहीं देखता। उसे तो हृदय जबरदस्ती किसी को दे डालना आता है। वह यह नहीं सोचता कि जिसे मैं हृदय दे रहा हूँ, उसे उसकी आवश्यकता या भी है या

नहीं; न वह यही सोचता है कि उसका प्रिय उसे लेकर करेगा क्या ? फूल को तो खिलना भर आता है—उसका सौरभ दूसरों के लिए होता है। यह तो उपभोक्ता पर निर्भर है कि उसे वह देवता के मस्तक पर चढ़ावे, प्रेमी के लिए हार बनावे या शव के साथ जला दे।

प्रेम

एक दिन—

छबि सो छबीलो छैल आजु भोर याही गैल,
अति ही रँगीली भाँति औचक ही आय गौ।
चटक मटक भरी लटकि चलन नीकी,
मृदु मुसुक्यानि देखें मो मन बिकाय गौ॥
प्रेम सों लपेटि कोऊ निपट अनोखी तान,
मो तन चिताय गाय लोचन दुराय गौ।
तब तें रही हौं घूमि झूमि जकि बावरी ह्वै,
सुर की तरंगनि में रंग बरसाय गौ॥

और घनानन्द ने अपने को उसी 'मुस्क्यानि' पर बेच दिया। उस मुस्कान में पवित्रता भी थी या नहीं, यह जानने की उन्होंने आवश्यकता नहीं समझी। जब बादलों के बीच बिजली चमकती है तब वह सर्वदा पवित्र हुआ करती है। बादल पानी कहाँ से लाता है और वह पानी पवित्र है या नहीं, इसका उस बिजली से कोई सम्बन्ध नहीं होता। घनानन्द ने जिस मुस्कान पर अपने को बेचा था, वह पवित्र थी; मुस्करानेवाला भले ही अपवित्र रहा हो।

घनानन्द का प्रेम एक-पक्षीय था। उनके पास कर्त्तव्य थे, अधिकार नहीं। जिससे उन्होंने प्रेम किया था, उसने निश्चय ही उनके प्रति अपने

कर्त्तव्यों का पालन नहीं किया। इतना ही नहीं, उसकी पवित्रता में स्वयं घनानन्द को भी सन्देह था, जैसा कि निम्न पंक्तियों से प्रकट होता है—

मन चाहत है मिलि खेलन को, तुम खेलति हौ मिलि औरन सों।

× × ×

हम एक तिहारियै टेक धरैं, तुम छैल अनेकन सों सरसौ।

× × ×

मोही तुम एक, तुम्हैं मो सम अनेक आहिं,
कहा कछु चन्दहिं चकोरन की कमी है।

किन्तु उन्हें इससे असन्तोष नहीं है, क्योंकि वे जानते हैं—

चातिक बिचारो घन आनँद पुकार जानै,
मुँदि क्यों सकत है बिदरि गये बादरौ।

वे देखते हैं—

बूँद थोरी थोरी बहुत नीकी लागैं।
नव जोवन मदमाते दम्पति मधुर मधुर सुर रागैं॥

\+ + + +

गोरे बदन बिथुरे केस।
रैन जागे मैन-पागे नैन अरुन सुदेस।
मृदु कपोलन पीक लीकैं भाल स्रम कन लेस।
अंग अँग प्रति भीर छबि की, बन्यौ सहज सुबेस॥

कवि समझ नहीं पाता कि जब सभी एक दूसरे में खो जाने को आतुर हैं, तब मैं ही क्यों इस सुख से वंचित हूँ—

चंद चकोर की चाह करै घन आनँद स्वाति पपीहा को धावै।
त्यों भरु रैनि के ऐन बसै रबि, मीन पै दीन ह्वै सागर आवै।

मो सों तुम्हैं सुनो जान कृपानिधि ! नेह निवारिबो यों छबि पावै।
ज्यों अपनी रुचि राचि कुबेर सुरंकहि कै निज अंक लगावै॥

कवि के नयनों की दिन-चर्या भी सुन लीजिए—

भोर तें साँझ लौं कानन ओर निहारति बावरी नेकु न हारति।
साँझ तें भोर लौं तारनि ताकिबो तारन सों इक तार न टारति।
जौ कहूँ आवतो दीठि परै 'घन आनँद' आसुन औसर आरति।
मोहन सोहन जोहन की लगियै रहै आँसुन के उर आरति॥

उनके सुजान ने—

तब तौ दुरि दूरहि ते मुसकाय बचाय कै और की दीठि हँसे।
दरसाय मनोज की मूरति ऐसी रचाय कै नैनन मैं सरसे।
अब तो उर माँहिं बसाय के मारत ए जू बिलासी कहाँ धौं बसे।

कवि जानना चाहता है कि—

कछु नेह निबाह न जानत हौ तौ सनेह की धार में काहे धँसे।

× × ×

मन माहीं जौ तोरन ही, तौ कहौ बिसवासी सनेह क्यों जोरत है।

× × ×

तुम्हैं पाय अजू हम खोवैं सबै, हमैं खोय कहौ तुम पायो कहा।

× × ×

क्यों 'घन आनँद' मीत सुजान, कहा अँखिया बरिबोई करैंगी।

स्नेह के मार्ग के विषय में उनका मत है—

अति सूधो सनेह को मारगु है जहाँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
तहँ साँचे चलै तजि आपुन पौ झझकैं कपटी जो निसाँक नहीं।
'घन आनँद' प्यारे सुजान सुनौ, यहाँ एक ते दूसरो आँक नहीं।

और वे पूछते हैं—

तुम कौन धौं पाटी पढ़े हो लला, मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं।

सुजान की अनूठी रीति है—

मीत सुजान अनूठियै रीति जिवाय कै मारत मारि जिवावति[1]।

घनानन्द ने प्रेम की सुरभि के उन्माद से मत्त होकर परिणाम की चिन्ता किये बिना ही उसकी ओर पाँव बढ़ाया था। उनका विश्वास था कि शिव बनकर जिस गरल का हम पान कर रहे हैं, उसके प्रतिकार के लिए चन्द्रमा हमारे भाल पर आ जायगा। किन्तु पासा उलटा पड़ा। चन्द्रमा आकाश का था—वह आकाश पर ही रह गया। उनके हिस्से केवल गरल पड़ा। अब तो—

बदरा बरसै रितु मैं घिरि कै नित ही अँखियाँ उघरी बरसैं।

× × ×

बिरहा रबि सों घट व्योम तच्यो बिजुरी सी खिवैं इकली छतियाँ।
हिय सागर तें दृग मेघ भरे उघरें बरसैं दिन औ रतियाँ।
'घन आनँद' जानि अनोखी दसा, न लखौं दई कैसे लिखौं पतियाँ।
नित सावन दीठ सु बैठक मैं टपकैं बरुनी तिहि ओलतियाँ॥

रूप

बिरह बिथा की मूरि आँखिन मैं राखौं पूरि,
धूरि तिन पायँन की हाहा नेकु आनि दै।

पवन से जिन 'पायँन' की धूरि लाने को घनानन्द कहते हैं, वे कितने सुन्दर हैं, यह निम्न पंक्तियों से प्रकट होता है—

मन मेरो महाउर चायनि च्वै तुव, पायनि लाग न हाथ लगै।

---

१. मार डाला नाज से, जिन्दा किया आवाज से।
बढ़ गया ऐजाज़ तेरा ईसवी ऐजाज़ से॥

जिसके पाँव इतने सुन्दर हैं, वह स्वयं कितनी सुन्दर होगी, यह जानने की जिज्ञासा होना स्वाभाविक ही है। पर कवि को क्या ?—

जो कछू निहारे नैन, कैसे सो बखाने बैन,
बिना देखी कहै तो कहा तिन्हैं प्रतीत है।
रूप के सवाद भीने, बापुरे अबोल कीनै,
बिधि बुध-हीने की अनैसी यह रीति है।

देखिए यौवन और उन्माद का सागर अपने अंग में समेटे उनकी सुजान बैठी है—

केलि की कला निधान सुन्दरी सुजान महा
आन न समान छबि छाँह पै छिपैये सौनि।
माधुरी-मुदित मुख उदित सुसील भाल
चंचल बिसाल नैन लाज भीजिये चितौनि।
पीय अँग संग घन आनँद उमंग हिय
सुरति-तरंग रस-बिबस उर मिलौनि।
झूलनि अलक, अध खुलनि पलक, स्रम
स्वेदहि झलक भरि ललकि सिथिल हौनि॥

सुजान गोरी थी। उसकी आँखें बहुत रसीली थीं जिनमें काजल की पतली रेखा रहती थी। बात-बात में यौवन का उन्माद छलका पड़ता था। संक्षेप में मुहम्मद शाह रँगीले की राज-नर्तकी में जितने गुण होने चाहिएँ, सभी उसमें थे—

झलकै अति सुन्दर आनन गोरे, छके दृग राजति काननछ्वै।
हँसि बोलनि में छबि फूलन की बरसा उर ऊपर जाति है ह्वै।
लट लोल कपोल कलोल करैं, कल-कंठ बनी जावालिन द्वै।
अँग अंग तरंग उठै दुति की, परिहै मनो रूप अबै धर च्वै॥

× × ×

स्याम घटा लपटी थिर बीज कि सोहै अमावस अंक उज्यारी।
धूम के पुंज में ज्वाल की माल सी पै दृग सीतलता सुखकारी।
कै छबि छायो सिंगार निहारि सुजान तिया तन दीपति प्यारी।
कैसी फबी 'घन आनँद' चोयनि सो पहिरी चुनि साँवरी सारी॥

घनानन्द के भक्ति-काव्य में कृष्ण के रूप-वर्णन की अपेक्षा विरह-निवेदन ही अधिक है। श्याम का एक रूप-चित्र देखिए—

बीज-छटा पटपीत घटा तन स्याम है।
इंद्र-धनुष बनमाल लाल अभिराम है॥
बंसी-धुनि घन घोर रूप-जल छलमलै।
आनँद जीवन जान मेघ लौं झलमलै॥

भक्ति

स्याम सुजान बिना लखें लगे बिरह के सूल।

विरक्त होकर घनानन्द जीवन के अन्तिम दिनों में वृन्दावन में रहने लगे थे। ध्यान देने की बात है कि घनानन्द की प्रेम की कविताएँ सुजान से तिरस्कृत होने के बाद की ही हैं। जीवन भर सुजान के प्रेम की अतृप्त पिपासा के घेरे में वे चक्कर काटते रहे। 'सुजान' का श्लेष लेकर कुछ आलोचकों ने उसका अर्थ 'कृष्ण' करने का प्रयत्न किया है; पर यह ठीक नहीं है। 'सुजान' से उनका संकेत अपनी प्रेमिका 'सुजान' की ओर ही है, भले ही भक्ति-पक्ष में उसका आशय 'कृष्ण' भी लिया जा सकता हो। वे जिसे पा नहीं सके थे, उसका नाम वे भुला भी नहीं सके। जीवन के अन्तिम क्षणों में भी उन्हें 'सुजान' का ध्यान बना रहा। उनकी अन्तिम कविता है—

जिसके पाँव इतने सुन्दर हैं, वह स्वयं कितनी सुन्दर होगी, यह जानने की जिज्ञासा होना स्वाभाविक ही है। पर कवि को क्या ?—

जो कछू निहारे नैन, कैसे सो बखाने बैन,
बिना देखी कहै तो कहा तिन्हैं प्रतीत है।
रूप के सवाद भीने, बापुरे अबोल कीनै,
बिधि बुध-हीने की अनैसी यह रीति है।

देखिए यौवन और उन्माद का सागर अपने अंग में समेटे उनकी सुजान बैठी है—

केलि की कला निधान सुन्दरी सुजान महा
आन न समान छबि छाँह पै छिपैये सौनि।
माधुरी-मुदित मुख उदित सुसील भाल
चंचल बिसाल नैन लाज भीजिये चितौनि।
पीय अँग संग घन आनँद उमंग हिय
सुरति-तरंग रस-बिबस उर मिलौनि।
झूलनि अलक, अध खुलनि पलक, स्रम
स्वेदहि झलक भरि ललकि सिथिल हौनि॥

सुजान गोरी थी। उसकी आँखें बहुत रसीली थीं जिनमें काजल की पतली रेखा रहती थी। बात-बात में यौवन का उन्माद छलका पड़ता था। संक्षेप में मुहम्मद शाह रँगीले की राज-नर्तकी में जितने गुण होने चाहिएँ, सभी उसमें थे—

झलकै अति सुन्दर आनन गोरे, छके दृग राजति काननछ्वै।
हँसि बोलनि में छबि फूलन की बरसा उर ऊपर जाति है ह्वै।
लट लोल कपोल कलोल करैं, कल-कंठ बनी जावालिन द्वै।
अँग अंग तरंग उठै दुति की, परिहै मनो रूप अबै धर च्वै॥

× × ×

स्याम घटा लपटी थिर बीज कि सोहै अमावस अंक उज्यारी।
धूम के पुंज में ज्वाल की माल सी पै दृग सीतलता सुखकारी।
कै छबि छायो सिंगार निहारि सुजान तिया तन दीपति प्यारी।
कैसी फबी 'घन आनँद' चोयनि सो पहिरी चुनि साँवरी सारी॥

घनानन्द के भक्ति-काव्य में कृष्ण के रूप-वर्णन की अपेक्षा विरह-निवेदन ही अधिक है। श्याम का एक रूप-चित्र देखिए—

बीज-छटा पटपीत घटा तन स्याम है।
इंद्र-धनुष बनमाल लाल अभिराम है॥
बंसी-धुनि घन घोर रूप-जल छलमलै।
आनँद जीवन जान मेघ लौं झलमलै॥

भक्ति

स्याम सुजान बिना लखें लगे बिरह के सूल।

विरक्त होकर घनानन्द जीवन के अन्तिम दिनों में वृन्दावन में रहने लगे थे। ध्यान देने की बात है कि घनानन्द की प्रेम की कविताएँ सुजान से तिरस्कृत होने के बाद की ही हैं। जीवन भर सुजान के प्रेम की अतृप्त पिपासा के घेरे में वे चक्कर काटते रहे। 'सुजान' का श्लेष लेकर कुछ आलोचकों ने उसका अर्थ 'कृष्ण' करने का प्रयत्न किया है; पर यह ठीक नहीं है। 'सुजान' से उनका संकेत अपनी प्रेमिका 'सुजान' की ओर ही है, भले ही भक्ति-पक्ष में उसका आशय 'कृष्ण' भी लिया जा सकता हो। वे जिसे पा नहीं सके थे, उसका नाम वे भुला भी नहीं सके। जीवन के अन्तिम क्षणों में भी उन्हें 'सुजान' का ध्यान बना रहा। उनकी अन्तिम कविता है—

कैसे कै जाऊँ जमुना जल लँगर छैल
ठाढ़ो गैल माँझ करै बोली ठोली।
ब्रज मोहन आनँद घन उनयोई रहै
कहि कहाँ लौं रहौं दैया ऐसे अबोली॥

श्याम उस सुहावने सपने की तरह है जिसे न देखते बनता है और न छोड़ते। रूप पीकर आँखें अघाती नहीं, पलकें न जाने क्यों झुक-सी जाती हैं। उसकी ठिठोली भली लगती है। लेकिन पनघट पर सबके सामने छेड़-छाड़ करने से क्या लाभ? इसी से तो पनघट पर जाने को जी नहीं चाहता। पर गये बिना मन माने तब तो! अन्त में हुआ वही जिसकी आशंका थी—

हरवा मोरा टूटलौ अबहीं ननदिया गवाही दीनी उतर कहा देहौं।
आनँद घन सुजान सुजान सुनौ बिनतीं बिन अपवाद ... ।
करौं तिहारी सौं जान देहु जू जोबन है तो बहुखो पहौं॥

देखी आपने उसकी ढिठाई! ऐसा था वह श्याम जिसकी मुस्कान फटे हृदय के लिए मलहम बनी।

कृष्ण के लीला-गान में कवि की अपनी वेदना भी है। उनके आध्यात्मिक संकेत भौतिक जगत की सीमा से बहुत दूर के नहीं हैं। यही कारण है कि जहाँ एक ओर वे शंकर के अद्वैत दर्शन के निकट जान पड़ते हैं, वहीं दूसरी ओर सूफी दर्शन से भी मेल रखते हैं। घनानन्द की भक्ति-साधना वस्तुतः भौतिक और आध्यात्मिक जगत के बीच की कड़ी है। उनकी प्रेम-साधना में सूफी और अद्वैत-दर्शन का समन्वय हुआ है।

पूर्वा

पद-लालित्य 'पंत' का मनहर कविता को 'परसाद'।
'महादेवि' में भावाकुलता तृप्ति, अतृप्ति, विषाद॥
भारतीय संस्कृति के प्रहरी 'दिनकर' 'गुप्त' उजास।
सब गुण पूरित 'सूर्यकान्त' मणि हिन्दी के मधु मास॥

आधुनिक काल

भारतेन्दु-युग—

भारतेन्दु के नाटककारवाले रूप ने युग की पुकार में अपनी पुकार मिलाई थी सही, पर उनका कवि रूप मूलतः रीति-कालीन ही रहा। श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' को भी सरलता से रीति-काल में रखा जा सकता है। रत्नाकर को जिस समय आधुनिक काल में स्थान दिया गया था, उस समय 'आधुनिक काल' का साहित्य आज जैसा विस्तृत नहीं था। जान पड़ता है, आचार्य शुक्ल जी का काल-विभाजन कवि और कविता के आधार पर न होकर समय के आधार पर हुआ है; और इसी कारण उन्होंने यह मान लिया था कि प्रथम भारतीय जन-क्रान्ति (१८५७ ई० का गदर) के पश्चात् काव्य की भावनाएँ भी बदल गईं, यद्यपि सच बात यह है कि 'भारत-भारती' के प्रकाशन से पहले हम पौराणिक ही थे।

भारतेन्दु को आधुनिक काल का जन्मदाता 'भारतेन्दु-मण्डल' के कारण माना जाता है। भारतेन्दु-मण्डल ने भारतेन्दु के अधूरे काम को पूरा किया। भारतेन्दु देश को विदेशी हस्तक्षेप से मुक्तकर उसकी सर्वांगीण उन्नति करना चाहते थे। 'भारतेन्दु-मण्डल' ने देश में नई चेतना का प्रसार किया।

भारतेन्दु-युग के अधिकतर कवि और लेखक किसी न किसी पत्र के सम्पादक थे। वे जनता के बीच में रहनेवाले साहित्यकार थे—उनके पास पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली की बड़ी-बड़ी डिग्रियाँ नहीं थीं। वे देहात के वातावरण में पले होने पर भी नागरिक जीवन से बिलकुल अनभिज्ञ नहीं थे। उनके शरीर में आर्यों का उष्ण रक्त बह रहा था, आँखों के सामने नौकरशाही ताण्डव कर रही थी और हृदय में देश-प्रेम की धारा बह रही थी। उनमें से एक ने जनता की पुकार में अपनी पुकार मिलाई—

जिनके कारण सब सुख पावें, जिनका बोया सब जग खायँ।
हाय हाय उनके बालक नित भूखों के मारे चिल्लायँ॥

—बालमुकुन्द गुप्त।

दूसरे ने राष्ट्र को सन्देश दिया—

चहहु जो साँचो निज कल्यान, तो सब मिलि भारत-सन्तान।
जपो निरन्तर एक जबान, हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्तान॥

—प्रतापनारायण मिश्र।

द्विवेदी-युग—

द्विवेदी-युग में कविता जनता की भाषा और भावनाओं के निकट आई। खड़ी बोली को कविता का माध्यम बनाने से पुरातन भावना के आचार्यों को आशंका हुई कि कविता का माधुर्य नष्ट हो जायगा। किन्तु पचास वर्ष के अन्दर ही खड़ी बोली इतनी परिमार्जित हो गई कि वह ब्रज-भाषा की मधुरिमा से होड़ लगाने लगी। खड़ी बोली को मधुरता प्रदान करने का श्रेय प्रसाद, पन्त और महादेवी वर्मा को है। श्री सुमित्रानन्दन पन्त के 'नौका-विहार' का माधुर्य जयदेव के 'गीत-गोविन्द' का स्मरण कराता है।

द्विवेदी जी के सम्पादन में 'सरस्वती' का प्रकाशन (१९०० ई०) हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी डग था। द्विवेदी जी के कवि और लेखक-वाले रूप से अधिक महत्व उनके सम्पादकवाले रूप का है। उन्होंने 'चींटी से हाथी पर्यन्त' को कविता का विषय बनाने की सलाह दी थी। खण्ड-काव्य तथा महाकाव्य की परम्परा फिर से पनप उठी।

कविता दिन पर दिन लोक-जीवन के निकट आती गई। द्विवेदी-युग के काव्य और समाचार-पत्रों की सम्पादकीय टिप्पणियों में विशेष अन्तर नहीं है। असहयोग आन्दोलन के प्रभाव के कारण कविता में राष्ट्रीय भावनाओं का विकास हुआ—

नहीं रहे अधिकार तुम्हारे, न रहे, पर वे मिटें नहीं।
जन्म-सिद्ध अधिकार[1] किसी के मिट सकते हैं भला कहीं॥

१—स्वतन्त्रता हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है।—लोकमान्य तिलक।

बात क्या कि फिर छिन्न-भिन्न यह पराधीनता पाश न हो।
भावी का सन्देश सुना हे भारत आज हताश न हो॥
—मैथिलीशरण गुप्त।

श्रृंगार रस की कविताएँ इस युग में पाप समझी जाने लगीं। यह सब तो हुआ, किन्तु द्विवेदी जी के अखाड़े के कवि ही रीति-काल की सीमा से दूर न जा सके। द्विवेदी जी के प्रिय शिष्य श्री मैथिलीशरण गुप्त जी की शूर्पणखा का बायाँ हाथ 'कटि के नीचे चिकुर जाल में' उलझने लगा और लक्ष्मण 'बाहर से संकुचित भीतर से फूले से' हिंडोले पर झूलती ऊर्मिला से 'लिपट' गये। साकेत का नवम सर्ग यदि ब्रज भाषा में लिखा गया होता तो यह पहचानना भी कठिन हो जाता कि वह रीति-काल का है या आधुनिक-काल का।

इन श्रृंगारिक उद्धरणों से यह न समझना चाहिए कि द्विवेदी-युग में श्रृंगार रस का कविता में खुलकर प्रयोग होता था। चाहते हुए भी कवि श्रृंगारिक कविताएँ लिखने से डरते थे; क्योंकि हिन्दी की 'सरस्वती' द्विवेदी जी की लौह लेखनी की छत्र-छाया में थी। 'भारतमित्र' रह-रहकर उनका विरोध भी कर उठता था; पर द्विवेदी जी का प्रताप कुछ ऐसा था कि किसी का कुछ बस न चलता था। 'भाषा की अनस्थिरता' के कारण सभी हैरान थे। भाषा का स्वरूप अभी बन न पाया था; और भावनाएँ भी पुराण काल से उधार ली हुई थीं; इस कारण कविता अपेक्षाकृत शुष्क होने लगी थी। ऐसा लगता था कि द्विवेदी-युग के इत्तिवृत्तात्मक काव्य में सच्ची कविता का दम घुट जायगा।

उस काल के सम्पादक भी विचित्र मनोवृत्ति के हुआ करते थे। "काशी-फल कुष्माण्ड कहीं हैं, कहीं लौकियाँ लटक रहीं हैं" जैसी कविताओं को तो वे मुख-पृष्ठ पर स्थान दे दिया करते थे; किन्तु 'जूही की कली' से उन्हें चिढ़ थी। भला हो 'मतवाला' का, जिसने हिन्दी के 'निराला' को बचा लिया; अन्यथा 'नानी की कहानियाँ' पद्य-बद्ध करते करते आज हम न जाने कहाँ पहुँच गये होते।

द्विवेदी-युग के कवियों का साहित्य की सर्वांगीण उन्नति की ओर ध्यान गया। विभिन्न विषयों पर मौलिक पुस्तकें लिखने के साथ ही साथ संस्कृत, बँगला, गुजराती और अँग्रेजी के काव्य-ग्रंथों के भी हिन्दी अनुवाद करके साहित्य को समृद्ध बनाने के प्रयत्न आरम्भ हुए।

प्रसाद-युग—

इतिवृत्तात्मक काव्य-धारा के साथ भावात्मक अनुभूति-प्रधान कवि न चल सके, जिसके फल-स्वरूप हिन्दी साहित्य में छायावाद और रहस्यवाद की एक नई धारा अलग फूट निकली। पुरातन विचार-धारा के आचार्यों के जमकर विरोध करते रहने पर भी नई धारा उत्तरोत्तर विकसित होती गई। छायावाद और रहस्यवाद के समानान्तर ही कुछ सूखती हुई-सी द्विवेदी-युग की काव्य-धारा भी बह रही थी।

छायावाद और रहस्यवाद की पृष्ठभूमि भक्ति-साहित्य है। इस नई धारा में कबीर का दार्शनिक चिन्तन और विद्यापति तथा मीराँ की प्रणयानुभूति मिलकर एकाकार हो गई है। इस नई धारा में कहने मात्र को दो वाद (छायावाद और रहस्यवाद) हैं। वास्तव में इनमें कोई मौलिक अन्तर नहीं है। जिन कविताओं में कबीर के दार्शनिक चिन्तन की प्रधानता है, उन्हें रहस्यवाद के अन्तर्गत रक्खा जायगा; और जिनमें विद्यापति तथा मीराँ की प्रणयानुभूति की प्रधानता है, वे छायावाद के अन्तर्गत रक्खी जायँगी।

प्रगतिवाद

छायावाद और रहस्यवाद का सम्बन्ध हृदय की कोमल अनुभूतियों से था। पर अनुभूतियों से पेट तो भरता नहीं, अतः जब द्वितीय महायुद्ध में रोटी की समस्या जटिल हो गई, तब साहित्य में भी 'संयुक्त मोर्चा' बना। अब जनता और कवियों के आकर्षण का केन्द्र 'प्रगतिवाद' बन गया और

छायावाद तथा रहस्यवाद की धारा सूखने लगी। यह आकर्षण इतना बढ़ा कि श्री सुमित्रानन्दन पन्त जैसे कल्पना-प्रधान कवि भी 'पल्लव' की छाँह में 'गुञ्जन' छोड़कर 'युगान्त' की 'ग्राम्या' की ओर दौड़ पड़े। प्रगतिवादी कविताओं में किसानों और मजदूरों की करुण दशा तथा पूँजीपतियों के अत्याचारों का चित्रण रहता है।

प्रयोगवाद

इधर कोई चार पाँच वर्षों से 'प्रयोगवाद' का नाम लिया जाने लगा है। प्रयोगवादी कवि अभी किसी निश्चित सत्य पर पहुँच नहीं सका है। अभी तक वह सत्य का अन्वेषण करने के यत्न में ही लगा है। अपनी मंजिल तक पहुँचने में प्रयोगवादी कवि कहाँ जा पहुँचेगा, यह नहीं कहा जा सकता।

× × ×

आदि काल से ही कविता का केन्द्र शृंगार रहा है। शृंगार से हमारा अभिप्राय नारी-सौंदर्य से है। नैतिकता तथा सामाजिक मिथ्या आडम्बर ने हमारे चेतन मन में यह विष घुसा दिया कि नारी-सौन्दर्य का चित्रण करना पाप है। फल-स्वरूप हम बार-बार उससे भागने का यत्न करने लगे; किन्तु हमारा अचेतन मन नारी की रूप-माधुरी से भींगा ही रहा, जिसके कारण हम बाह्यतः नारी-सौन्दर्य से दूर रहकर भी उसे अपने हृदय में छिपाये रहे। विश्व-साहित्य हमारे मन के इसी संघर्ष के संकल्प-विकल्प की कहानी है।

वीर-गाथा काल में वीर-पूजा का माहात्म्य बढ़ा था; किन्तु वीरों के साथ उनकी प्रेमिकाओं, नर्त्तकियों, पत्नियों आदि का रूप-चित्रण भी होता रहा। कुछ स्फुट प्रेम-कथाएँ भी लिखी गईं। निर्गुण-धारा के कवियों ने नारी को माया का प्रतीक मानकर उसकी भर्त्सना की; किन्तु उसके रूप की अवहेलना उनके बस की बात न थी। फल-स्वरूप भौतिक जगत् के रूप और प्रेम ने आध्यात्मिक प्रेम का स्वरूप धारण किया। निराकार की उपासना के कारण सन्त कवियों के रूप-चित्र अरूप ही रहे। आगे चलकर जब साकार

उपासना का बोल-बाला हुआ, तब हमारी नारी-सौन्दर्यवाली भावना ने सीता, राधा आदि का रूप धारण कर लिया।

रीति-काल में हमारे अचेतन मन ने फिर विद्रोह किया और हम नारी-सौन्दर्य की ओर झुके। रूप और प्रेम की यह धारा दो सौ वर्षों तक अनवरत बहती रही। ईसाइयों के सम्पर्क में आकर हमने सीखा कि मनुष्य की उत्पत्ति पाप से हुई है, जिसके परिणाम-स्वरूप द्विवेदी-युग में हम फिर एक बार नारी-सौन्दर्य से दूर भागे। अब हमारे प्रेम ने देश-प्रेम का रूप ग्रहण किया। किन्तु यह विडम्बना भी अधिक दिन न चल सकी और छायावाद तथा रहस्यवाद के युग में हमने फिर वही पुरानी लीक अपनाई। प्रगतिवाद ने छायावादवाले जीवन से पलायन का विरोध तो किया, किन्तु उसके नारी-सौन्दर्य को उसने और भी नग्न रूप में अपनाया। प्रयोगवाद के आकर्षण का केन्द्र भी नारी का रूप ही है।

नारी मानव जीवन की मधुरतम अनुभूतियों का प्रतीक है। जीवन की कृत्रिम कठोरता न तो उसकी मधुरता पर विजय पा सकी है और न पा सकेगी। साम्यवाद अपने हाथ-पाँव दिन पर दिन फैलाता जा रहा है। हो सकता है कि भविष्य में हिन्दी कविता का नील नभ मिलों की चिमनियों के धूएँ से भर जाय। किन्तु वह निश्चित सत्य है कि हमारा अचेतन मन रोटीवाद में भी शुभ्र चन्द्रिका के दर्शन करने को बेचैन होता रहेगा और हम फिर उसी रूप-धारा की ओर लौट आवेंगे।

परिवर्त्तन

राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक दासता के फल-स्वरूप हमारे प्राचीन आचार-विचारों, प्रथाओं और परम्पराओं की नींव हिल गई और जीवन को हम नये सिरे से समझने का प्रयत्न करने लगे। देश की छाती पर

उभड़े फफोलों-सी नील की कोठियों और चाय-बागानों की नींव गरीब मजदूरों के पसीने और आँसुओं पर रक्खी गई थी। पौराणिक कथाओं में हम सुनते आये थे कि गज को ग्राह से छुड़ाने के लिए भगवान नंगे पाँव दौड़े आये थे। किन्तु प्रतिज्ञा-बद्ध मजदूरों के आँसुओं ने हमारी सभी प्राचीन मान्यताओं पर करारी ठोकर लगाई। फटे चीथड़ों में लिपटी अपनी रानी को अपमानित होते देखकर कवि कैसे विश्वास कर सकता था कि श्याम ने द्रौपदी की लाज रखी थी? नग्न सत्य ने हमारे धार्मिक अन्ध-विश्वास की धज्जियाँ उड़ा दीं।

अवतार-वाद से विश्वास उठ जाने के कारण राम और कृष्ण (जिन्हें पहले हम ब्रह्म का अवतार मानते थे) का अब महापुरुषों के रूप में चित्रण होने लगा। 'साकेत' के राम और 'प्रिय प्रवास' के कृष्ण अपने युग के लोक-नायक-से ही लगते हैं। राम और कृष्ण के कार्य-कलापों को हमने वहीं तक स्वीकृत किया, जहाँ तक वे हमारे तर्क की कसौटी पर खरे उतरे।

पौराणिक खल-नायकों और खल-नायिकाओं के सम्बन्ध में भी आधुनिक कवियों का दृष्टि-कोण बदल रहा है। तुलसी की 'पवि पाहन हू तें कठोर हियो' वाली कैकेयी का मातृत्व गुप्त जी की पैनी आँखों से छिपा न रह सका। 'साकेत' की कौशल्या कहती हैं—पुत्र स्नेह धन्य उनका, हठ है हृदय-जन्य उनका। इतना ही नहीं, साकेत-निवासी भी राम के साथ एक स्वर से कहते हैं—सौ बार धन्य वह एक लाल की माई। रावण और मेघनाद को नायक मानकर महाकाव्यों का निर्माण किया जा रहा है। चरित्रांकन में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का महत्त्व दिनों दिन बढ़ता जा रहा है।

उपमा और उत्प्रेक्षा की प्राचीन मान्यताएँ आधुनिक काल में धीरे-धीरे बदल रही हैं। रीति-युग की 'गज-गामिनी' अब यशपाल जी की 'धान से लदी नाव' हो गई है। भक्ति और रीति-युग में कविता के उपमानों का क्षेत्र सीमित था। आज का कवि उस लीक को पीछे छोड़ आया है और इस प्रकार 'लीक छाँड़ि तीनों चलैं सायर, सिंह, सपूत' वाली कहावत सार्थक कर रहा है। किन्तु प्रश्न तो यह है कि पुरानी लीक छोड़कर आज का कवि जो मार्ग

बना रहा है, वह कहाँ तक ठीक है ? यदि प्रत्येक कवि अपना मार्ग सबसे पृथक् बनाने लगे तो भावी पीढ़ी के कवियों का जीवन उपयुक्त मार्ग-निर्वाचन में ही बीत जायगा। और एक दिन वह भी आ सकता है, जब तरह-तरह के मार्ग और उनके ऊपर 'वादों' के बादल ही मँडराते दिखाई देंगे— कवि और कविता शब्द-कोश की वस्तुएँ बन जायँगी।

आज का कवि जिन नवीन उपमानों का प्रयोग कर रहा है, उनमें से अधिकतर साहित्य-शास्त्र के नियमों के प्रतिकूल होने के साथ ही सौन्दर्य से भी कोसों दूर हैं। एक उदाहरण पर्याप्त होगा। सफेद वस्तु के लिए प्राचीन कवि 'चाँदनी', 'दूध' या 'हंस' की उपमाएँ प्रयुक्त करते थे, जिनकी स्निग्धता और पवित्रता सहज ही हमारे आकर्षण का विषय बन जाती है। आज का प्रगतिवादी और प्रयोगवादी कवि सफेदी की उपमा 'साबुन की झाग' से देता है ! एक तो 'साबुन की झाग' में वह पवित्रता नहीं आ सकती जो 'चाँदनी', 'दूध' या 'हंस' में है; दूसरे अभी कल तक साबुन नहीं था। अब विद्युत् का प्रसार होने पर सम्भव है, वह फिर कल न रहे। तब तो हमारी आनेवाली पीढ़ियाँ शब्द-कोश की सहायता से ही जान पावेंगी कि कवि जी अमुक वस्तु की सफेदी पर रीझे थे। 'चाँदनी', 'दूध' और 'हंस' तो शाश्वत हैं। 'पाउडर मिल्क' आविष्कार का नया चरण हो सकता है, किन्तु माँ के दूध की पवित्रता तो बनी ही रहेगी। समझ में नहीं आता कि हमारे कवि नश्वरता से इतना प्रेम क्यों करने लगे हैं ! हमारे नये कवियों की यह मिथ्या विडम्बना ही उनकी रचनाओं के दूसरे संस्करण नहीं होने देती।

लोक-गीतों के प्रति झुकाव के कारण भी कविता में कुछ नवीन उपमाएँ आ रही हैं। लोक-गीतों में नायिका की उपमा सनई के पौधे से दी जाती है। सनई के पौधे की कोमलता, उसका फूलों-सा खिला यौवन, उसके बीज में नूपुरों की रुन-झुन सभी कुछ एक अनिवर्चनीय सुषमा से हमारा मन भर देते हैं। नरेन्द्र शर्मा की एक कविता है—

पके जामुन के रँग का पाग,
बाँध कर आया लो आषाढ़।

काले बादलों को 'पके जामुन के रंग का पाग' कहने की प्रेरणा लोक-गीतों में ही मिली है।

इस प्रकार की नवीन उपमाएँ साहित्य की अक्षय निधियाँ सिद्ध होंगी। यदि बादलों को कवि रेल-गाड़ी या मिल की चिमनी का धुआँ कहे तो काव्य का सौन्दर्य जाता रहेगा।

सूक्ष्म के प्रति आकर्षण ने 'मानवीकरण' अलंकार को जन्म दिया और भावनाओं को व्यक्ति का स्वरूप मिला। प्रसाद जी का एक गीत है—

निकल मत बाहर दुर्बल आह!
लगेगा तुझे हँसी का शीत।

दुर्बल व्यक्ति को शीत का प्रकोप अधिक व्यापता है। उसके लिए बाहर निकलना खतरे से खाली नहीं है। उसे चाहिए कि सिर से पैर तक अपने को ढककर घर के किसी कोने में पड़ा रहे।

रहिमन निज मन की बिथा मनहीं राखहु गोय।
सुनि अठिलइहिं लोग सब बाँट न लेइहैं कोय॥

आह को चाहिए कि वह 'शरद नीरद माला के बीच भयभीत चपला सी' तड़पती रहे। भावनाओं को स्पष्ट करने के लिए ही 'आह' को दुर्बल व्यक्ति और 'हँसी' को शीत बनना पड़ा है।

सौन्दर्य के प्रति कवि का दृष्टि-कोण बदलता-सा जान पड़ता है। पन्त जी को 'तरु की नग्न डाल पर बैठा हुआ कौआ 'चिर सुन्दर' लगता है। पितृ-पक्ष जानकर कोकिला हिन्दी कविता-कानन से उड़ गई है; और अज्ञेय की 'शिशिर की राका' में 'मूत्र-सिंचित मृत्तिका के वृत्त में, तीन टाँगों पर खड़ा नत-ग्रीव धैर्यधन गदहा' रेंक रहा है। निराला जी का 'बाम्हन का बेटा' कोयले-सी काली, घर की पनिहारिन पर मरता है। डेढ़ आँखोंवाली नायिका भी अब

मृग-नयनी और मीनाक्षी के समान प्रेम पाने की अधिकारिणी बन गई है। आज का कवि तन के सौन्दर्य से अधिक मन के सौन्दर्य पर जोर दे रहा है।

गद्य और पद्य का भेद दिनोंदिन मिटता जा रहा है। अधिकतर प्रगतिवादी और प्रयोगवादी कविताओं की छोटी छोटी पंक्तियाँ यदि हम एक सीध में लिख दें तो वे जैसा-तैसा गद्य बन जाती हैं। ऐसे अनेक उदाहरण आपको जगह-जगह अनायास मिल सकते हैं।

आधुनिक छन्द

जब हृदय की सुकुमार कल्पनाएँ बरसात की उमड़ती हुई नदी की तरह बाँध तोड़ देती हैं, तभी कविता का सृजन होता है। बरसात की नदी अपना आपा भूलकर, अपनी सीमा का अतिक्रमण करके भी बिलकुल स्वच्छन्द नहीं हो जाती—उसकी नियत गति बनी ही रहती है। कविता भी तुकान्त या अतुकान्त चाहे जैसी हो, 'लय' से दूर नहीं जाती। प्रसाद जी के 'प्रेम-पथिक' और 'प्रलय की छाया', निराला जी की 'जूही की कली' और गुप्त जी के 'विकट भट' में लय का प्राधान्य है। निराला जी की 'सेवारम्भ', 'कुकुर मुत्ता' आदि रचनाओं में तो तुक का भी निरा अभाव नहीं है।

छन्द के बन्धनों में भावनाएँ नहीं बँधतीं। हृदय की असीम वेदना नयनों की राह से खारे पानी की बूँदों के रूप में ही निकलती है; किन्तु उससे हमारी मनोदशा का अभिव्यंजन तो होता ही है। वेदों में पाँच-सात छन्दों का ही प्रयोग हुआ है। वाल्मीकि तक आते आते यह संख्या पचीस तक पहुँची थी। समय के साथ साथ छन्दों की संख्या भी बढ़ती गई। आज उनकी संख्या सैकड़ों तक पहुँच चुकी है।

एक युग में किसी एक तरह के छन्दों की ही प्रधानता रहती है। भक्ति काल में गेय पदों तथा दोहे-चौपाइयों की प्रधानता थी; और रीति युग में

सवैया तथा कवित्त की। भावों के अनुसार छन्द बदलते रहते हैं। सवैया शृंगार रस के लिए उत्तम छन्द है; किन्तु वीर रस के लिए अमृत-ध्वनि की आवश्यकता होती है। प्रबन्ध काव्य में भावनाएँ मैदान की नदी के बहाव की भाँति होती हैं, दिशा और मार्ग निश्चित होने की दशा में शीघ्रता से छन्द बदलने की आवश्यकता नहीं होती। मुक्तक में भावों के बदलते रहने के कारण छन्द भी बदलते रहते हैं।

आधुनिक काव्य में विषय-वैविध्य बहुत अधिक है। यही कारण है कि इस युग में बहुत अधिक छन्दों का प्रयोग हो रहा है। आज-कल के छन्दों का शास्त्रीय दृष्टि से अभी वर्गीकरण नहीं हुआ है। नये छन्दों का प्रादुर्भाव बराबर होता रहता है। जो छन्द आकर्षक तथा प्रभावोत्पादक होते हैं, वे चल निकलते हैं; शेष समय की सरिता में डूब जाते हैं। और तब फिर नये आचार्यों द्वारा प्रचलित छन्दों का वर्गीकरण और नामकरण होता है। छन्दों का निर्माण आदि काल से होता आया है और आज भी हो रहा है। आज आवश्यकता है फिर से उनके वर्गीकरण और नामकरण की।

आधुनिक युग के छन्द तीन वर्गों में बाँटे जा सकते हैं—

१—परम्परा-गत छन्द—कानपुर के आस-पास के कवियों को खड़ी बोली में सवैया और कवित्त लिखने में अच्छी सफलता मिली है। पुराने छन्दों की एक लम्बी पंक्ति को आकर्षक बनाने के लिए दो या दो से अधिक पंक्तियाँ भी बनाई जाने लगी हैं। कहीं-कहीं पुराने छन्दों को प्रगति के साँचे में ढालने के लिए कवियों ने उनके आगे पीछे दूसरे प्रकार के छन्दों की पंक्तियाँ भी जोड़ दी हैं। यथा—

आज इस यौवन के माधवी कुंज में कोकिल बोल रहा।
मधु पीकर पागल हुआ करता प्रेम-प्रलाप,
शिथिल हुआ जाता हृदय जैसे अपने आप।
लाज के बंधन खोल रहा!

× × ×

मधुप कब एक कली का है !
पाया जिसमें प्रेम-रस सौरभ और सुहाग,
बेसुध हो उस कली से मिलता भर अनुराग;
बिहारी कुंजगली का है !

—प्रसाद (चन्द्रगुप्त नाटक)

दोनों गीतों की बीचवाली पंक्तियाँ दोहा हैं।

प्रसाद जी की 'रमणी हृदय', 'महाकवि तुलसीदास' और 'नमस्कार' शीर्षक रचनाओं में तीन रोला और अन्त में एक उल्लाला छन्द का प्रयोग हुआ है। पंक्तियों का कुल योग चौदह होने के कारण हम उन्हें चतुर्दशपदी गीत भी कह सकते हैं।

२—**विदेशी छन्द**—अँग्रेजी के सॉनेट और फारसी की रुबाइयों का प्रयोग अधिकता से हो रहा है। हिन्दी के अधिकतर चतुर्दश-पदी गीत इन्हीं विदेशी छन्दों के भारतीय संकरण हैं। इनका विस्तृत विवेचन आगे होगा।

३—**नये प्रयोग**—अभी इनकी दिशा निर्धारित नहीं हो पाई है; अतः इनके विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

सॉनेट

सॉनेट का आरम्भ इटली में हुआ था। पेट्रार्क ने सॉनेट का सफल प्रयोग किया और उसे नई दिशा दी। टैसो, कमीन्स और डान्टे का नाम भी इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है। सॉनेट में चौदह पंक्तियाँ होती हैं। प्रथम आठ पंक्तियों को 'ऑक्टेव' कहते हैं; और अन्तिम छः पंक्तियों को 'सेस्टेट'। ऑक्टेव में दो चौपदे होते हैं, जिनका तुक ए बी बी ए, ए बी बी ए होता है। सेस्टेट के तुक तीन प्रकार के हो सकते हैं—सी डी, सी डी, सी डी या सी डी ई, सी डी ई या सी डी ई, डी सी ई। एक सॉनेट में एक ही भाव रहता है, जिसका धीरे धीरे विकास होता है और अन्त में वह पूर्णता पाता है। इटली में सॉनेट प्रेम की भावनाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम है।

अँग्रेजी साहित्य में सॉनेट के प्रयोग की दो धाराएँ हैं। मिल्टन के सॉनेट का बाह्य ढाँचा यद्यपि पेट्रार्क का ही है, तो भी मिल्टन की भावनाओं में सर्वत्र दार्शनिक गम्भीरता व्याप्त है। शेक्सपियर ने अपने सॉनेटों का बाह्य ढाँचा स्वयं बनाया, किन्तु भावनाएँ प्रेम की ही लीं। शेक्सपियर के सॉनेट में विभिन्न तुकों के तीन चौपदे और अन्त में एक द्विपदी (दोहा) होती है। शेक्सपियर के सॉनेट का तुक ए बी ए बी, सी डी सी डी, ई एफ् ई एफ, जी जी है।

पं० लोचनप्रसाद पाण्डेय ने सर्व-प्रथम (१९१० ई० में) सॉनेट का हिन्दी कविता में प्रयोग किया। उनकी 'बाल्य-स्मृति' और 'श्मशान' शीर्षक रचनाएँ पेट्रार्क के सॉनेट में हैं—

कौन ले गया लूट हाय ! मम बाल काल का सुख-भंडार ? (ए)
कहाँ प्रबल उत्साह, कहाँ अब गई हृदय की शान्ति समूल ? (बी)
कहाँ सखा संगिनी आदि का वह नैसर्गिक प्रेम अपार ? (ए)
आँख-मिचौनी, सुखद-धूल-गृह-खेल कहाँ शैशव सुख-मूल ? (बी)
चला गया वह समय हाय ! इस जीवन को करके निःसार (ए)
वही नयन, तनु वही, किन्तु हैं दृश्य आज जग के प्रतिकूल (बी)
मुझे बाल-संगिनी सखा गण भी करते हैं हाहाकार (ए)
इस जीवन के भीषण रण में पड़ निज निज सुखकर निर्मूल (बी)
शान्तिपूर्ण उस बाल-काल के पावन सुख की होते याद (सी)
शोक अग्नि से तव जलता है व्याकुल होते हैं मम प्राण (डी)
स्थायी मुझे ज्ञात होता था पावन शैशव का आह्लाद (सी)
था नहिं मेरे बाल हृदय को कुटिल काल की गति का ज्ञान (डी)
चिर बन्दी रोता है ज्यों नित सोच सोच निज गृह-सुख-स्वाद (सी)
त्यों अब मैं व्याकुल होता हूँ उस सुख का कर मन में ध्यान (डी)

पाण्डेय जी के सॉनेट के सेस्टेट तो ठीक हैं, किन्तु ऑक्टेव का तुक

ए बी बी ए,ए बी बी ए न होकर ए बी ए बी, ए बी ए बी हो गया है। पेट्रार्क के ऑक्टेव की प्रारम्भिक चार पंक्तियों का नमूना 'देव' की पूर्वा में देखिए।

शेक्सपियर के सॉनेट के नमूने के लिए श्री त्रिलोचन शास्त्री का एक गीत देखिए—

गेहूँ जौ के ऊपर सरसों की रंगीनी (ए)
छाई है, पछुआँ आ-आकर इसे झुलाती (बी)
है। तेल से बसी लहरें कुछ भीनी-भीनी (ए)
नाक में समा जाती हैं। सप्रेम बुलाती (बी)
है मानों यह झुक-झुककर, समीप ही लेटी (सी)
मटर खिलखिलाती है फूल भरा आँचल है। (डी)
लगी किचोई है। अब भी छीमी की पेटी (सी)
नहीं भरी है। बात हवा से करती है, बल है (डी)
कहीं नहीं इसके उभार में। यह खेती की (ई)
शोभा है, समृद्धि है। गमलों की ऐय्याशी (यफ)
नहीं है। अलग है यह बिलकुल इस रेती की (ई)
लहरों से जो खा ले पैरों की नक्काशी। (यफ)
यह जीवन की हरी ध्वजा है। इसका गाना (जी)
प्राण प्राण में गूँजा है। मन मन का माना। (जी)

× × ×

रुबाई

रुबाई फारसी का, चार पंक्तियों का एक छन्द है। इसमें प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ पंक्तियों में तुक रहता है तथा तृतीय पंक्ति अतुकान्त होती है। एक रूबाई में एक ही भाव होता है। उमर खैयाम ने मानवीय और आध्यात्मिक प्रेम की अभिव्यक्ति रुबाई छन्द में की है। फिट्जेरल्ड ने उमर खैयाम की रूबाइयों का अंग्रेजी में अनुवाद किया और उस अनुवाद से प्रभावित होकर

संसार की अन्य भाषाओं में भी उसके अनुवाद हुए। हिन्दी में उमर खैयाम की रुबाइयों के अनुवाद सर्व-श्री मैथिलीशरण गुप्त, रघुवंशलाल, बच्चन, गरधर शर्मा, बलदेवप्रसाद मिश्र, केशवप्रसाद पाठक आदि कवियों ने किये हैं।

रुबाई छन्द का एक उदाहरण देखिए—

उस प्याले से प्यार मुझे जो दूर हथेली से प्याला,
उस हाला से चाव मुझे जो दूर अधर से है हाला:
प्यार नहीं पा जाने में है पाने के अरमानो में!
पा जाता तब हाय न इतनी प्यारी लगती मधु-शाला।

—बच्चन।

प्रस्तुत पुस्तक में घनानन्द की पूर्वा रुबाई छन्द में ही है।

प्रेम की कविताओं में आज-कल रुबाई छन्द का प्रयोग हो रहा है। हिन्दी का सवैया छन्द इसके लिए अधिक उपयुक्त है। सवैया का माधुर्य और लोच रुबाई में न आ सकेगी, किन्तु जितनी परिमार्जित भाषा और भावनाओं की अपेक्षा सवैया में होती है, उतनी रुबाई में नहीं। रुबाई छन्द के प्रचलन का कारण उसकी सरलता है।

रुबाई की पंक्तियाँ काफी लम्बी होती हैं, किन्तु आज-कल छोटी पंक्तियाँ लिखने का शौक भी बढ़ रहा है। जिन कविताओं में प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ पंक्तियाँ तुकान्त और तृतीय पंक्ति अतुकान्त होती है, वे लम्बाई की दृष्टि से रुबाई नहीं जान पड़तीं, किन्तु उनकी लय रुबाई की ही होती है। यथा—

मुझे सोने न देते ये
मुझे रोने न देते ये।
कभी क्षण एक भी अपना
मुझे होने न देते ये।

—शम्भूनाथ सिंह।

अधिकतर आधुनिक गीतों में इसी प्रकार के छन्दों का प्रयोग हो रहा है।

चतुर्दशपदी गीत

चतुर्दशपदी गीतों में सॉनेट की ही भाँति चौदह पंक्तियाँ होती हैं। हिन्दी को चतुर्दशपदी गीतों की रचना की प्रेरणा सॉनेट से ही मिली। किन्तु जिस प्रकार शेक्सपियर ने इटली के सॉनेट को इंग्लैण्ड के साँचे में ढाल लिया था, उसी प्रकार अँग्रेजी सॉनेटों का भी चतुर्दश-पदियों में भारतीय-करण हो चुका है। हिन्दी के चतुर्दशपदी गीतों के साहित्य में प्रसाद, पंत, मैथिलीशरण गुप्त, बच्चन और भगवतीचरण वर्मा के महत्वपूर्ण स्थान हैं।

प्रसाद जी की कुछ चतुर्दशपदियाँ तीन रोला और एक उल्लाला छन्द में हैं। इस दिशा में उन्होंने नये प्रयोग भी किये हैं। पंत जी ने केवल रोला का प्रयोग किया है। चतुर्दशपदियों में ताटंक, लावनी या वीर छन्द का भी प्रयोग हुआ है। प्रसाद के 'झरना' में संकलित 'खोलो द्वार' शीर्षक रचना ताटंक छन्द में है। अतुकान्त छन्द में भी कुछ चतुर्दशपदियाँ लिखी गई हैं।

अंग्रेजी तुक-शैली से प्रभावित चतुर्दशपदियों में अधिकतर शेक्सपियर की तुक-शैली का प्रयोग हो रहा है। पेट्रार्क के सॉनेट के ऑक्टेव (अठपदे) के बाद सेस्टेट न लिखकर ए बी बी ए के तुक का एक चौपदा और अन्तिम दो पंक्तियों में शेक्सपीयर की भाँति एक दो-पदी (दोहा) लिख देने की परिपाटी भी चल पड़ी है। प्रभाकर माचवे के 'तार सप्तक' (प्रथम भाग) में प्रकाशित 'दाज्द्रस्तव्युते सोवित्सकी सोयुज्!' शीर्षक सॉनेट का तुक ए बी बी ए, सी डी डी ए, ई एफ् एफ् ई, जी जी है।

बच्चन और भगवतीचरण वर्मा की चतुर्दशपदियों में दुमदार रुबाई का प्रयोग हुआ है। वर्मा जी के कुछ गीतों में केवल बारह पंक्तियाँ हैं। बच्चन की प्रसिद्ध 'इस पार—उस पार' शीर्षक रचना में पहले टेक, फिर एक रुबाई, उसके बाद टेक लाने के लिए एक तुकान्त पद और अन्त में फिर टेक है (हम दो पंक्तियों को एक गिनकर कह रहे हैं)। छन्दों की बनावट

की दृष्टि से यह उनकी प्रतिनिधि रचना है। इस प्रकार के गीतों का आज-कल बहुत प्रचलन है। उदाहरण के लिए बच्चन की 'मिलन-यामिनी' का एक गीत देखिए—

प्यार, जवानी, जीवन इनका,
जादू मैंने सब दिन माना।
डूब किनारे जाते हैं जब,
नद्दी में जोवन आता है,
कूल तटों में बन्दी होकर,
लहरों का दम घुट जाता है।
नाम दूसरा केवल जगती,
जंग लगी कुछ जंजीरों का।
जिसके अन्दर तान तरंगें,
उसका जग से क्या नाता है।
मन के राजा हो तो मुझसे
लो वर-दान अमर यौवन का,
नहीं जवानी उसने जानी
जिसने पर का बन्धन जाना।

गजलें और थिएटर-सिनेमा के गीत

हिन्दी में गजलें लिखने के भी प्रयोग हो रहे हैं। प्रसाद जी की एक बहुत सुन्दर गजल का शेर है—

उन्हें अवकाश ही इतना कहाँ है मुझसे मिलने का।
किसी से पूछ लेते हैं, यही उपकार करते हैं॥

थिएटर और सिनेमा के गीत अधिकतर ऐन्द्रिक प्रेम की पृष्ठ-भूमि पर बनते हैं; किन्तु इधर कुछ अच्छे गीत भी आ रहे हैं। सिनेमा के गीतकारों

में सर्व-श्री नरेन्द्र शर्मा, नैपाली, शैलेन्द्र, मोती बी० ए० और प्रदीप के नाम उल्लेखनीय हैं। गीतों की भाषा बोल-चाल की होती है और उनका छन्द-प्रवाह बहुत सुन्दर होता है।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र और जयशंकर प्रसाद जी ने भी इस प्रकार के कुछ गीत लिखे हैं, जिनके नमूने क्रमात् इस प्रकार हैं--

मछरिया एक टके की बिकाय।
लाख टका कै वाला जोबन गाहक सब ललचाय॥

× × ×

हिये में चुभ गइ,
हाँ, ऐसी मधुर मुसक्यान।
लूट लिया मन ऐसा चलाया नैन के तीर कमान॥

मिश्रित छन्द

कहीं कहीं दो या दो से अधिक छन्द आपस में ऐसे घुल-मिल गये हैं कि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता। गजल और सवैया छन्द का मिश्रण प्रसाद जी ने निम्न पद में अच्छा किया है—

जब प्रीति नहीं मन में कुछ भी
तब क्यों फिर बात बनाने लगे।
सब प्रीति प्रतीत उठी पिछली
फिर भी हँसने मुसकाने लगे॥
मुझे देख सभी सुख खो दिया था
दुख मोल इसी सुख को लिया था।
सर्वस्व ही तो हमने दिया था
तुम देखने को तरसाने लगे॥

फारसी की रुबाइयाँ और अँगरेजी के सॉनेट भी इसी प्रकार मिलकर

एक हो गये हैं। ऐसी कविताओं में दोनों प्रकार के लक्षण पाये जाते हैं। कविताओं का तुक सॉनेट का होता है और लय रुबाई की; और कुछ की लय सॉनेट की होती है और तुक रुबाई की।

नई पीढ़ी के कुछ कवि ऐसे भी हैं जिन्हें सॉनेट या रुबाई का ज्ञान नहीं है और जिन्होंने बच्चन जैसे कवियों का अध्ययन भी नहीं किया है। ऐसे कवियों की कविताओं में सॉनेट और रुबाई दोनों छन्द पाये जाते हैं। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आज का युग ही सॉनेट और रुबाई का है। विदेशी छन्दों के आगमन का हमें स्वागत करना चाहिए। इनका भारतीयकरण कुछ इस प्रकार का हो गया है कि ये हमारे पिंगल-शास्त्र के एक अंग बन गये हैं। कविता का क्षेत्र सार्व-भौम है और आदान-प्रदान इसका जीवन है। जब शक और हूण ही नहीं, हबशी तथा मलाया और लंका के निवासियों के लोक-गीतों की लयों और भावनाओं से हमारे लोक-गीतों की लयें और भावनाएँ मेल खाती हैं, तो फारसी और अँगरेजी के छन्द बहुत अधिक चौंकानेवाले न होने चाहिएँ।

लोक-गीतों की ओर झुकाव

पं० रामनरेश त्रिपाठी द्वारा संकलित लोक-गीतों के संग्रह के प्रकाशन के बाद हिन्दी कवियों का ध्यान लोक-गीतों की मधुरिमा और युग के प्रति उनकी निष्ठा की ओर आकृष्ट हुआ। लोक-गीतों में काव्य के कला-पक्ष का अभाव रहने पर भी भाव-पक्ष की प्रधानता के कारण पाठक का हृदय स्पर्श करने की क्षमता होती है। साहित्य में लोक-गीतों के प्रवेश से भाषा में सरलता आई है और साहित्य लोक-जीवन के निकट आ रहा है।

पिछले चार पाँच वर्षों में प्रकाशित कविताएँ देखने से जान पड़ता है कि छायावाद पुनः पल्लवित हो उठेगा। कुछ कविताएँ तो लोक-गीतों का अनुवाद मात्र हैं; और कुछ में भावना तथा शैली लोक-गीतों की है—

टेर रही प्रिया तुम कहाँ ?
किसकी ये आँखें हैं ? किसकी ये रात रे ?
बिरहिन की आँखें हैं, मावस की रात रे !
बुझता यह दिया, तुम कहाँ ?

—शम्भूनाथ सिंह।

कुछ गीतों में लोक-गीतों की पंक्तियाँ ज्यों की त्यों बैठाने की भी परिपाटी चल पड़ी है। ऐसी कविताओं में लोक-गीतों की मनोहारी पंक्तियाँ कवि के हृदय पर कुछ इस प्रकार अधिकार कर लेती हैं कि वह उन्हें अपनी कविता में बाँधने का लोभ संवरण नहीं कर पाता। इन पंक्तियों के लेखक की भी एक ऐसी ही कविता है—

धूल भरी अलकोंवाली
पगली धरनी ने हरित बसन पहने
सनई के फूलों के गहने
मोती से भरकर माँग
कपाटों से सटकर गुनगुना उठी
'पिय आवन की भइ बेरियाँ दरवजवाँ लागी रहूँ।'

लोक-गीतों की ओर होनेवाले इस झुकाव का प्रभाव भाषा की मधुरता पर भी पड़ा है और हम अज्ञात रूप से ब्रज भाषा के शब्द अपनाने लगे हैं। ब्रज भाषा के शब्द खड़ी बोली में रूपान्तरित हो जाने पर भी अपनी मधुरता नहीं खोते।

× × ×

छायावाद और रहस्यवाद

पिछले तीस वर्षों से छायावाद और रहस्यवाद हिन्दी समीक्षा-जगत् का सिर-दर्द बना हुआ है। महादेवी जी ने प्रकृति से मनुष्य के तादात्म्य को 'छायावाद' और ब्रह्म से तादात्म्य को 'रहस्यवाद' की संज्ञा दी है। विषय

आवश्यकता से अधिक जटिल है और इस पुस्तक के परिमित कलेवर में उसे स्पष्ट करना सम्भव नहीं है; अतः इन सूक्ष्म भेदों पर ध्यान न देकर हम इन पर एक साथ विचार करेंगे।

छायावाद और रहस्यवाद का दुर्भाग्य है कि उनके शैशव काल में ही उनका गला घोंट डालने का कुचक्र चलने लगा था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इस नई धारा को अँगरेजी के मिस्टिसिज्म का पर्याय कहकर विरोध करना प्रारम्भ किया। द्विवेदीजी ने गूढ़ार्थ-बोधक कविता को मिस्टिसिज्म कहा। उन्होंने रवीन्द्र बाबू की प्रशंसा की और हिन्दी कविता को कूड़ा बताया। शुक्ल जी ने भी शेली की रहस्य-भावना का आदर किया। नई धारा के कवियों को शेली और रवीन्द्र का मानस-पुत्र मान कर भी अछूत क्यों समझा गया, यह एक रहस्य ही है।

छायावाद और रहस्यवाद अ-भारतीय नहीं हैं। महादेवी जी ने 'नीहार' की अधिकतर कविताएँ मैट्रिक पास होने के पहले ही लिखी थीं। उस समय शायद उन्होंने रवि बाबू का नाम भी न सुना होगा। ऐसी दशा में समान भाव की कविताएँ उद्धृत करके यह कहना कि नीहार पर रवि बाबू की छाया है, न्याय-संगत नहीं जान पड़ता। विद्यापति, शेली और बायरन की सौन्दर्योपासना एक-सी लगती है। विद्यापति तो शेली और बायरन से पहले के हैं; किन्तु क्या इसी नाते यह कहा जा सकता है कि शेली और बायरन पर विद्यापति का प्रभाव है?

सत्यापति की लीला-भावना से ही सृष्टि की उत्पत्ति हुई है, जो अपने में स्वयं एक रहस्य है। अवतारवाद के कृष्ण वैदिक काल के इन्द्र के पर्याय हैं। इन्द्र के सौन्दर्य और काम-तत्त्व की प्रधानता की आनन्दमयी भावनाओं को अवतारवाद ने कृष्ण में आरोपित कर दिया; और यही कृष्ण के पूर्ण ब्रह्मत्व के पद पर प्रतिष्ठित होने का कारण है। राम को हमने पूर्ण ब्रह्म इसी लिए नहीं माना कि उनमें लोक-पक्ष की प्रधानता रहते हुए भी इन्द्र की आनन्दमयी भावना का अभाव था।

आर्यों की जीवन-चर्या में आनन्द-वृत्ति की ही प्रधानता है। शिव जी के गले में मुण्ड-माला और भुजंग पहनाकर भी हम उन्हें चन्द्रमा और गंगा की मचलती हुई लहरों से दूर न रख सके। छायावाद और रहस्यवाद के विरोधियों ने उनकी जिस भावना को 'कायिक वृत्तियों का प्रच्छन्न पोषण' कहा है, वह वास्तव में हमारी यही आनन्द-भावना है। फ्रॉयड के 'अचेतन मन' और 'दमित वासनाओं' तक जाकर भी नई धारा के आलोचक भारतीय आनन्द-भावना से दूर रहे।

छायावाद के विषय में 'प्रसाद' जी का मत है कि छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृत्ति छायावाद की विशेषताएँ हैं। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह आन्तर स्पर्श करके भाव समर्पण करनेवाली अभिव्यक्ति छाया कान्तिमयी होती है।

डा० रामकुमार वर्मा रहस्यवाद की परिभाषा देते हुए लिखते हैं—रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है, जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है; और यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता।

छायावादी और रहस्यवादी कवियों ने सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ से आत्मीयता का सम्बन्ध स्थापित किया है। सूक्ष्म के प्रति आकर्षण के कारण शैली का दुरूह हो जाना स्वाभाविक ही है। फूल के बाह्य सौन्दर्य का विश्लेषण सरलता से किया जा सकता है। किन्तु जो कवि उसकी पंखड़ियों में निहित सौन्दर्य का विश्लेषण करेगा, उसकी कविता में दुरूहता आ ही जायगी।

इन कविताओं में प्रकृति की सुषमा से कवि के हृदय की सुषमा मिल कर एक हो गई है—कवि का सुख 'ऊषा की मृदु पलकों में' छलकने लगा है और उसका दुख 'सन्ध्या की घन अलकों में' उलझने लगा है।

कवि का नरत्व किसी देवत्व से कम नहीं है। वह तो 'रश्मि' और 'प्रकाश' की भाँति ब्रह्म में मिलकर एक है, उसका 'अहं' पूर्णता पा चुका है। सामाजिक रूढ़ियों के प्रति भी नई धारा के कवियों ने विद्रोह किया है। युगों की पद-दलित नारी का पुरुष के प्रति समर्पण अब केवल 'धर्मे अर्थे च कामे च' की दीवारों में ही बँधा नहीं है, वह मोक्ष में भी हमारे साथ है और उसका 'संग' 'पावन गंगा-स्नान' समझा जाने लगा है।

गाय की महत्ता खली-भूसा खाकर दूध देने में है। छायावादी और रहस्यवादी कवियों ने महात्मा गांधी के नेतृत्व में हुए जन-संघर्षों को पचाकर राष्ट्र को 'तेज' दिया है। महादेवीजी के 'कीर के पिंजर खोल दे' शीर्षक कविता का एक भौतिक अर्थ भी है, जो अपने आध्यात्मिक अर्थ से अधिक महत्त्वपूर्ण है। काव्य की वैयक्तिक वेदना का युग की वेदना से अलग अस्तित्व नहीं है। 'आँसू' की अन्तिम पंक्तियाँ इस बात की साक्षी हैं।

इस नई धारा के कवि पलायनवादी नहीं हैं। व्यक्ति का विकास समाज का विकास है, क्योंकि समाज व्यक्ति की इकाइयों का ही सामूहिक रूप है। इस धारा की कविता का 'अहं' वास्तव में समाज के 'अहं' के विकास का सूचक है।

प्रश्न उठता है—क्या छायावाद और रहस्यवाद मर चुके हैं? इसका उत्तर भी प्रश्न में ही है। क्या 'आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति' मर्त्य है? कोई वाद न तो जीता है, न मरता है। बीसवीं सदी के भौतिकवादी युग में भी निराला जी अपनी 'अर्चना' में तल्लीन हैं, महादेवी जी वैदिक ऋचाओं का अनुवाद कर रही हैं, द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मक काव्य-धारा भी अभी चल ही रही है। तब हम छायावाद और रहस्यवाद की मृत्यु की कल्पना कैसे कर सकते हैं?

प्रगतिवाद (काव्य में रोटी)

वासन्ती कोकिल के मीठे बोल तभी सुहाने लगते हैं, जब हृदय में उल्लास

हो। जब आँखों के आगे वास्तविकता की रेत उड़ रही हो, तब कवि कल्पना की अमराइयों में आँख-मिचौनी खेलकर अपने को अधिक दिन भुलावे में नहीं रख सकता। अपनी पराजित, टूटी और जंग लगी तलवार किनारे रखकर भक्ति-काल के कवि ने भगवान को आँसुओं का अर्घ्य दिया; मुगल राज्य के वैभव में भूलकर रीति-काल के कवि ने सुन्दरी के 'आनन ओप उजास' में मुँह छिपा लिया; और भूषण त्रिपाठी ने उसे वहाँ से खींच लाकर, हाथ में तलवार पकड़ाने का यत्न किया। पर उनकी सुनता कौन था! सन् १८५७ की राज्य-क्रान्ति ने कवि की आँखों के सामने से कल्पना का परदा हटाया। भारतेन्दु ने कहा—

> अँग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी।
> पै धन बिदेस चलि जात यहै अति ख्वारी॥

किन्तु उस युग में उनका स्वर बहुत मन्द पड़ता था।

यों यदि हम चाहें तो प्रगतिवादी कविताओं के उदाहरण सूर और तुलसी के काव्यों में भी ढूँढ़ सकते हैं; विद्यापति का काव्य भी इस प्रकार की भावनाओं से अछूता नहीं है। रीति-काल के कवि को भी हम किसी अंश तक प्रगतिवादी कह सकते हैं। किन्तु सत्य तो यह है कि रोटी की समस्या इतने भीषण रूप में पहले कभी सामने नहीं आई थी।

कल्पना के कवि ने धरती पर पाँव रखा। कविता-कामिनी ने अपने राजसी वस्त्राभूषण उतार फेंके और फटे वस्त्र पहनकर वह जनता का प्रतिनिधित्व करने को आ खड़ी हुई। सभी प्राचीन मान्यताएँ मिट गईं। जो नायिका 'छाले परिबे के डरन' फूल तक नहीं छू सकती थी, वही इलाहाबाद के पथ पर पत्थर तोड़ने लगी; और 'भरे भौन में नैननु ही सब बात' कहनेवाला नायक 'दो टूक कलेजे को करता' भिक्षा की झोली लिए 'पछताता पथ पर' आने लगा। कवि अब मन बाँधनेवाली 'जूड़ा बाँधनि-हारि' पर न रीझ सका; उसे तो 'बालों में नौ मन धूल भरे' अपनी कुल-वधू ही प्रिय लगी।

काव्य जनता की आशा, निराशा, कामना और मनोवृत्तियों के निकट आता गया। कवि अब यह नहीं सोचता—शिक्षा की यदि कमी न होती तो ये गाँव स्वर्ग बन जाते। वह तो स्पष्ट देख रहा है—

उस ओर क्षितिज के कुछ आगे, कुछ पाँच कोस की दूरी पर,
भू की छाती पर फोड़ों-से हैं उठे हुए कुछ कच्चे घर।
मैं कहता हूँ खँडहर उसको, पर वे कहते हैं उसे ग्राम।
जिसमें भर देती निज धुँधलापन, असफलता की सुबह शाम।
पशु बनकर नर पिस रहे जहाँ नारियाँ जन रही हैं गुलाम।
पैदा होना फिर मर जाना है यह लोगों का एक काम॥

कवि इस अभाव के कारणों से भी परिचित है—

इन साम्राज्यों की नींव पड़ी है तिल तिल मरनेवालों पर।
वे व्यौपारी, वे जमींदार, जो हैं लक्ष्मी के परम भक्त,
वे निपट निरामिष सूद-खोर पीते मनुष्य का उष्ण रक्त।...
दानवता का सामने नगर! मानव का कृश-कंकाल लिए--

—भगवतीचरण वर्मा।

'अंचल' जी इस आर्थिक विषमता के रोग का उपचार भी बताते हैं—

हो जड़ समाज चिथड़े चिथड़े,
शोषण पर जिसकी नींव पड़ी।

जहाँ तक जनता के नेतृत्व का प्रश्न है, हिन्दी काव्य-जगत प्रगतिवादी कवियों का आभारी है। किन्तु प्रगतिवाद का एक दूसरा पक्ष है—कम्यूनिस्ट प्रचार, जो किसी दशा में स्वीकृत नहीं किया जा सकता। यह मानसिक दासता प्रत्येक दशा में त्याज्य है—

लाल रूस है ढाल साथियो, सब मजदूर किसानों का।
वहाँ राज है पंचायत का, वहाँ नहीं है वेकारी॥

लाल रूस का दुश्मन, साथी, दुश्मन सब इन्सानों का।
दुश्मन है सब मजदूरों का, दुश्मन सभी किसानों का॥
—नरेन्द्र।

यह कैसा आदर्श है कि हम अपने सभी कार्यों के लिए रूस का मुँह देखते हैं—

आज बन हर हर प्रभंजन रूस आगे बढ़ रहा है।
× × ×
देखो शेरों सा उठा चीन, नेता महान् है रूस आज॥
—सुरेन्द्रकुमार श्रीवास्तव।

श्री शिवमंगल सिंह 'सुमन' की एक कविता है—

ऐसा वैसा दुर्ग नहीं यह मजलूमों का प्यारा।
यह इस युग के संघर्षों का सबसे प्रबल प्रतीक है।
लाल फौज ने लाल खून से आज बनाई लीक है।

क्या अच्छा होता यदि कवि लाल किले में अन्तिम भारत सम्राट् बहादुर शाह के मासूम बच्चों का खून देख सका होता !

रूस के राष्ट्रीय झंडे के 'हँसिये और हथौड़े' में हमारा प्रगतिशील कवि राह भूल गया है। श्री सुरेन्द्रकुमार श्रीवास्तव सलाह देते हैं—

ले हँसिया और हथौड़ा अब चप्पे चप्पे अपना लो सब।
यदि पथ रोके मानव कोई, सर साफ करो निर्भय उसका॥

किन्तु 'चप्पा चप्पा' अपनाने के लिए तो कुदाल, फावड़ा और उसका बेंट ही काफी है। भारतीय किसान हथौड़ा लेकर क्या करेगा ?

व्यर्थ की पंक्तियाँ लिखकर पुस्तक का कलेवर बढ़ाने की प्रवृत्ति भी इधर बढ़ रही है। 'गर्रा नाला' शीर्षक कविता की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

आगे, आगे, आगे, आगे सर्राता है !
सोये, सोये, मैदानों को थर्राता है !

आओ, आओ, आओ, आओ, अर्राता है !
जीतो, जीतो, जीतो, जीतो नर्राता है !

कवि यदि इतना ही लिख देता तो काम चल जाता—

सर्राता, थर्राता, अर्राता, नर्राता है गर्रा नाला ।

प्रगतिवाद का श्रृंगार फ्रॉयड की यौन भावनाओं से बुरी तरह प्रभावित है। प्रगतिवादी श्रृंगार रस की 'रस-राज' संज्ञा सार्थक हो गई है। उसमें हम एक साथ ही करुण, वीभत्स, वीर, रौद्र, भयानक, अद्भुत सभी रसों के दर्शन करते हैं। पूरी कविता पढ़कर कभी तो हँसी आती है और कभी हम ठंढे पड़ जाते हैं। एक उदाहरण लीजिए—

कि जिनकी छातियाँ हैं अभी उठती उभरती
वह कच्ची नाशपातियाँ हैं ।

पाते ही पाते उभार
जिनकी छातियाँ—
और
बन गईं बैसाख की जुआई ढली ककड़ियाँ
कठोरता तो दूर, दबाने पर सट जाती हैं—एक दम पोर
दोनों उँगलियों की ।

प्रगतिवादी कवि तन की भूख (रोटी) की समस्या का निदान मार्क्स दर्शन में ढूँढ़ता है और मन की भूख (सेक्स) की समस्या का निदान फ्रॉयड दर्शन में। अच्छा हुआ कि प्रगतिवाद ने हमें कोई खण्ड काव्य या महाकाव्य नहीं दिया। हाँ, उसके उपन्यास देखने से अनुमान होता है कि उसके काव्य हमें किस पतन की ओर ले जाते हैं। फ्रायड-दर्शन के प्रभाव के कारण बहन और माँ की पवित्रता भी खतरे में पड़ गई है। अ-सामाजिक प्रगतिवादी उपन्यास अनाचार और व्यभिचार की नग्न कथाएँ हैं। समझ में नहीं आता कि भारतीय दर्शन में हमारे प्रगतिशील कौन-सी कमी पाते

हैं जिसके लिए वे मार्क्स और फ्रायड के ऋण के बोझ से हिन्दी काव्य-जगत को दबाते चले जा रहे हैं !

आकर्षक गेट-अप की, चिकने कागज पर छपी प्रगतिशील पुस्तकें हमारे हाथों से फिसल-फिसल जाती हैं। उनका औसत मूल्य ढ़ाई रुपये से पाँच रुपये तक होता है। विश्वविद्यालयों की ऊँची रहन-सहन के दर्जे में पले उनके रचयिता कवि जन-भावनाओं का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकते। 'हँसिया, हथौड़ा और रूस' कोई ऐसा मंत्र नहीं है जिसे जपने से जन-जागरण हो जाय।

प्रश्न उठता है—आखिर यह साहित्य लिखा किसके लिए जा रहा है? गरीब किसान मजदूर न तो ये महँगी किताबें खरीद सकते हैं और न उसकी भाषा के माध्यम से कुछ समझ ही सकते हैं—उन्हें जाग्रत करना तो दूर की बात है। फिर उनमें इतना दर्द भी नहीं है जो पूँजीवादी समाज को राह पर लाकर वर्ग-विहीन समाज का निर्माण कर सके।

प्रयोगवाद

एक अर्द्धवृत्त है। कुछ दूर चलनें पर पन्थ समाप्त-प्राय दिखाई देता है। पथिक जहाँ तक चल चुका होता है, उससे आगे नहीं चल सकता। किन्तु चलने की साध पीछा नहीं छोड़ती। पथिक को लगता है कि मुझे अभी मंजिल नहीं मिली, अभी और चलना है। वह लौटकर पीछे नहीं आ सकता। आने पर भी मिलेगा ही क्या? वही न, जो वह पीछे छोड़ आया है? हारकर वह नये नये प्रयोग करता है, राहों का अन्वेषी बनता है।

सन् १९४३ ई० में 'तार सप्तक' का प्रथम भाग प्रकाशित हुआ था; और पूरे दस वर्ष बाद उसका दूसरा भाग सामने आया है, जिसे देखने पर जान पड़ता है कि प्रयोगवादी कवि आज भी उसी अर्द्धवृत्त के इर्द-गिर्द चक्कर काट रहे हैं, जहाँ वे दस वर्ष पहले थे।

तार सप्तक (प्रथम भाग) की 'विवृत्ति और पुनरावृत्ति' में अज्ञेय जी

ने प्रयोगवाद पर कुछ प्रकाश डाला है। हम उसे यहाँ ज्यों का त्यों उद्धृत कर रहे हैं—

"...संगृहीत कवि (प्रयोगवादी कवि) सभी ऐसे होंगे जो कविता को प्रयोग का विषय मानते हैं—जो यह दावा नहीं करते कि काव्य का सत्य उन्होंने पा लिया है, केवल अन्वेषी ही अपने को मानते हैं।...वे किसी एक स्कूल के नहीं हैं, किसी मंजिल पर पहुँचे हुए नहीं हैं, अभी राही हैं—राही नहीं, राहों के अन्वेषी।...सभी महत्वपूर्ण विषयों पर उनकी राय अलग अलग है।...(प्रयोगवादी कविता) जड़ाऊ कविता नहीं है; वह वैसी हो भी नहीं सकती। जमाना था जब तोपें और तलवारें भी जड़ाऊ होती थीं; पर अब गहने भी धातु के साँचों में ढालकर बनाये जाते हैं!—और हीरे भी तप्त धातु की सिकुड़न के दबाव से बँधे कणों से!"

× × ×

वंचना है चाँदनी सित
झूठ वह आकाश का निरवधि गहन विस्तार—
शिशिर की राका निशा की शान्ति है निस्सार!

—अज्ञेय।

मानव के लिए प्रकृति के रूप का आकर्षण समाप्त होता जा रहा है। 'बाहु-बन्धन में किसी को बाँधने को नित्य आकुल डूबती संध्या सुनसान शान्त उदास'[1] सी लगती है—

गोधूलि मेघमय, सुधा करुण यह वेला
घर विहग लौटते, तिमिर उरग भी फैला
जा रहा पान्थ अश्रान्त अशान्त अकेला।

—प्रभाकर माचवे।

'क्वार की सूनी दोपहरी में' अब घरों में 'सुनसान आलस ऊँघने लगा

है।'[1] 'धूल भरी दीपक की लौ पर मंदे पग धर बादल' की रात आती है, 'गीली राहें, जिनपर माथे पर की सोच भरी रेखाओं जैसी बोझिल पहिये के लम्बे निशान हैं, धीरे-धीरे सूनी होती'[1] जाती हैं।

आर्थिक विषमता और शोषण ने कवि के पास सुन्दर कहने को कुछ छोड़ा ही नहीं है। प्रिया की छबि कभी-कभी उसका मन एक पुलक से भर देती है, कभी 'चूड़ी के टुकड़े' पर उसकी 'सब लज्जित तसवीरें' तिरने लगती हैं, तो कभी 'किसी रूपसी सुर-बाला' की छबि उसके मन में 'सुधि सम्मोहन' भर जाती है।

श्री गिरिजाकुमार माथुर की 'बुद्ध' शीर्षक कविता की ये पंक्तियाँ जितनी बुद्ध के लिए सत्य हैं, उतनी ही प्रयोगवादी कवियों के लिए भी—

वैभव की वे शिलालेख-सी यादें आतीं
एक चाँदनी-भरी रात उस राजनगर की,
रनिवासों की नंगी बाँहों-सी रंगीनी
वह रेशमी मिठास मिलन के प्रथम दिनों की
फीकी पड़ती गई अचानक;
जाने कैसे मिटे नयन डोरों के बन्धन।

प्रकृति के रूप का आकर्षण खोकर हम शुष्क होते जा रहे हैं। किन्तु इस रोग का कोई उपचार भी तो नहीं है। एक भोजपुरी गीत में कन्या का पिता दूर-दूर जाकर भी सुयोग्य वर न पा सकने के कारण करुणा भरे स्वर में कहता है—

पूरुब खोजल रामा पच्छिवँ खोजल रे
खोजल मगह मुँगेर रे!
सीता अस बर कतहूँ न मिलल
मोरी सीता रहिहैं कुँवारि रे!

१—गिरजाकुमार माथुर।

आज विज्ञान ने मगह और मूँगेर की दूरी दो घंटे की कर दी है। जब तक हम उस पुराने वातावरण में लौट नहीं जाते, तब तक हमारे लिए वह दर्द लाना सम्भव नहीं। किन्तु पीछे लौट जाना कठिन है; अतः युग हमें जिधर ले जा रहा है, उधर जाना ही पड़ेगा।

कुछ गीतों में प्रकृति की सुषमा के भी दर्शन होते है—

खेतिहर लड़की की भोली-सी आँखों में, निबुओं की फाँकों में,
मुसकाता अज्ञान, हँसता है सब जहान,
खेतों में पका धान!

—प्रभाकर माचवे।

डा० रामविलास शर्मा का 'दिवा स्वप्न' और 'समुद्र के किनारे' शीर्षक रचनाओं में प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण है।

जीवन की क्षण-भंगुरता की समस्या आज के कवि ने सुलझा ली है—

क्षण-भंगुरता के इस क्षण में जीवन की गति, जीवन का स्वर,
दो सौ वर्ष आयु यदि होती तो क्या अधिक सुखी होता नर?
इसी अमर धारा के आगे बहने के हित यह सब नश्वर,
सृजन शील जीवन के स्वर में गाओ मरण-गीत तुम सुन्दर।
तुम कवि हो, यह फैल चले मृदु गीत निबल मानव के घर-घर
ज्योतित हों मुख नव आशा से, जीवन की गति जीवन का स्वर!

—गजानन मुक्तिबोध।

कवि का अहं दिनों-दिन विकास पाता जा रहा है—

मैं अपने से ही सम्मोहित, मेरा मन डूबा निज में ही।
मेरा ज्ञान उठा निज में से, मार्ग निकाला अपने से ही॥

—गजानन मुक्तिबोध।

प्रयोगवादी कवि लोक-जीवन के प्रति भी ईमानदार हैं। प्रभाकर

माचवे ने 'वह एक' शीर्षक कविता में एक समाचार-पत्र-विक्रेता का बहुत सुन्दर शब्द-चित्र खींचा है—

> वह एक
> मैला सा कुर्ता पहने बेच रहा अखबार;......
> वह एक मशीन
> जिसमें इस दुनिया के गोले के प्रत्येक
> कोने से आतीं जो खबरें हैं रंगीन, श्री-हीन।

कवि को विश्वास है कि एक न एक दिन—

> विषाक्त जलधि के हृदय में,
> फूटकर धीरे धीरे उठ रहा मुक्ति का कमल वह,
> खिलेगा जो एक दिन काले जल-तल पर,
> नव अरुणाभा में,—नव सतयुग के प्रकाश में।

प्रयोगवाद को अभी कोई निश्चित दिशा नहीं मिल सकी है। प्रयोगवाद के नाम पर सिगरेट के धूएँ और चाय की प्याली की भूमिका पर इधर बिना अर्थ की कविताएँ भी आने लगी हैं।

छायावाद और रहस्यवाद ने हमें 'आँसू', 'कामायनी', 'रश्मि', 'नीरजा' और 'दीप-शिखा' जैसी अमर कृतियाँ प्रदान की हैं। पर सात-सात प्रयोगवादी कवि मिलकर दस वर्षों के लम्बे समय में हमें केवल एक संग्रह दे पाते हैं, यह भी विचारणीय है। मैट्रिक होने से पहले (सातवीं से नवीं कक्षा तक) महादेवी जी ने 'नीहार' में हमें जो कुछ दिया है, उसकी तुलना में प्रौढ़ प्रयोगवादी कवि कुछ भी नहीं दे पाये। अपने साहित्य के इन अन्वेषकों से आगे क्या आशा की जाय!

पूर्वा

रात थी, खो गया था, तिमिर में अरुण
घन घिरे थे, न था तारिका का पता
युग प्रभंजन चला, मिट चले घन उधर,
चाँद पूनो का नभ में निखरने लगा,
सुप्त वैभव धरा का बिखरने लगा,
जागरण गीत मुखरित हुआ कंठ से,
जग पड़ी भारती पा नई चेतना।
पंथ पाथेय तुमने दिखाया हमें,
मंत्र स्वाधीनता का सिखाया हमें,
बढ़ चले पग, मिला लक्ष्य, था पास ही।

भारतेन्दु

जन्म–भाद्रपद शुक्ल ५ सं० १९०७ निधन–माघ शुक्ल ६ सं० १९४१

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का जन्म इतिहास-प्रसिद्ध सेठ अमीचन्द के वंश में हुआ था। क्लाइव के अत्याचारों से तंग आकर आपके पूर्वज काशी में आ बसे थे। आपके पिता का नाम बाबू गोपालचंद्र (गिरधर दास—कविता में) और माता का नाम श्रीमती पार्वती देवी था। पाँच वर्ष की अवस्था में स्नेहमयी माता का आँचल और दस वर्ष की अवस्था में पिता का प्यार आपसे छिन गया। तेरह वर्ष की अवस्था में सुश्री मन्नो देवी से आपका विवाह हुआ। यात्रा से आपको विशेष अनुराग था। पान खाने का आपको व्यसन था और नमकीन तथा सोंधी वस्तुएँ अधिक पसन्द करते थे। तेल के स्थान पर आप इत्र का प्रयोग करते थे। उर्दू, संस्कृत, बँगला और अँगरेजी साहित्य का आपको अच्छा ज्ञान था। सत्रह वर्ष की अवस्था में आपने चौखम्भा स्कूल खोला था जो आज हरिश्चन्द्र डिग्री कालेज के रूप में परिणत हो गया है।

लम्बा, इकहरा शरीर, कानों तक लटकनेवाले लम्बे घुँघराले बाल, ऊँचा ललाट, साँवला रंग और ओठों पर मुस्कान! पर मुस्कान? नहीं, वे आँसू थे जो आँखों की राह से न निकलकर ओठों से निकलते थे। भारतेन्दु सच्चे अर्थों में कवि थे। परिवारवालों के दुर्व्यवहार, पुत्र-शोक और ऋण, सभी आपके मार्ग में एक-एक करके आये, पर आप मुस्कराते रहे। अपना व्यक्तिगत दुःख आपने कभी छन्दों में व्यक्त न किया—मानसिक अशान्ति का अन्तर्द्वन्द्व आपके मानस में ही रह गया। मेरा विश्वास है कि यदि आप अपने छन्दों में खुलकर रो सके होते तो हमारे बीच कुछ दिन और रहते और आपका काव्य विश्व का करुणतम काव्य होता।

आपने कवि-वचन-सुधा, हरिश्चन्द्र मैगजीन, हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका और बाल-बोधिनी आदि पत्रों का सम्पादन किया था।

रचनाएँ—वैष्णव सर्वस्व, तदीय सर्वस्व, मधु मुकुल, गीत गोविन्दानन्द, सतसई सिंगार, भक्तमाल उत्तरार्द्ध, राग संग्रह, कृष्ण-चरित्र, प्रेम तरंग, प्रेम मालिका आदि लगभग एक सौ पचहत्तर ग्रंथ।

रूप

तू मिल जा मेरे प्यारे।
तेरे बिना मन-मोहन प्यारे व्याकुल प्रान हमारे।
'हरीचंद' मुखड़ा दिखला जा इन नैनन के तारे॥

वह रूप कितना मोहक है, जिसे देखने को प्राण व्याकुल हैं! देखिए तो, यमुना के कूल पर वह कौन खड़ा है—

ललित त्रिभंग काछनी काछे अमल कमल-से नैन।
कर लै फूल फिरावत गावत मोहत कोटिक मैन॥...
श्याम बरन तन खौर बिराजत अति सुंदर नँद-नंद।
बिथुरी अलकैं मुख पर झलकैं मनु दोउ मन के फंद॥
मुकुट लटक निरखत रवि लाजत छबि लखि होत अमंद।

और 'रूप की जाल' राधा का रूप तो नयनों में समा ही नहीं पाता। यदि सृष्टि में बिखरा हुआ सारा सौन्दर्य किसी भाँति एकत्र किया जा सके तो उसके सहारे राधा के रूप का कुछ अनुमान किया जा सकता है।

नैन भरि देखो श्री राधा बाल।
मुख छवि लखि पूरन छवि लाजत सोभा अतिहि रसाल॥
मृग से नैन कोकिल सी बानी अरु गयंद सी चाल।
नख सिख लौं सब सहजहिं सुंदर मनहुँ रूप की जाल॥

रूप को कभी श्रृंगार की आवश्यकता नहीं होती। बिना श्रृंगार का निखरा हुआ रूप देखिए—

बिना कंचुकी बिनु कर कंकन सोभा बढ़ी अपार।
खसि रहि तन तें तन-सुख सारी खुलि रहे सोंधे बार॥

बालों में मुख जान पड़ता है—

मनहुँ तम के तुंग सिखर पर बाल चंद उदयो है।

देह में द्युति इतनी है कि—

दीपन उलटी करी सहाय।
चली गई पिय पास प्रगट मग काहु न परी लखाय।
अँधियारी में तो भय भारी मुख-ससि नहीं दुराय॥

और कपोलों का तिल तो—

सब सखियन की डीठि डिठौना रति-रतिपति मद-हारी।
स्याम सरूप बसत बनि सूछम सोइ दरसावत प्यारी॥

हाँ, नयनों से कवि को शिकायत अवश्य है—

नयन की मत मारी तरुवरिया।
मैं तो घायल बिनु चोट भई रे कहर कलेजे करिया॥
काहे को सान देत भौंहन की काजर नयनन भरिया।
'हरीचन्द' बिन मारे मरत हम मत लाओ तीर कटरिया॥

रूप को कवि ने विधाता के विधान की पवित्रतम भेंट के रूप में ही स्वीकृत किया है। 'रूप-नदी' की एक झलक देखिए—

प्यारी-रूप-नदी छबि देत।
सुखमा जल भरि नेह-तरंगनि बाढ़ी पिय के हेत॥
नैन-मीन कर-पद-पंकज से सोभित केस-सिवार।
चक्रवाक जुग उरज सुहाये लहर लेत गल-हार॥

प्रेम-लीला

लोक-लाज की गाँठरी पहिले देइ डुवाय।
प्रेम-सरोवर पंथ मैं पाछे राखै पाय॥

× × ×

बिनु गुन जोवन रूप धन बिनु स्वारथ हित जानि।
शुद्ध कामना तें रहित प्रेम सकल रस-खानि॥

× × ×

एकांगी बिनु कारने इक रस सदा समान।
पियहि गिनै सर्वस्व जो सोई प्रेम प्रमान॥

आँखें चार होती हैं; मन एक होते हैं; और हम कहते हैं—प्यार हो गया। प्यार वह अनुभूति है जिसकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। प्यार में कितनी जलन है, यह पपीहा ही बता सकता है, जिसकी एक घूँट की प्यास आज तक न बुझ सकी। प्यार में कितनी शीतलता है, यह चकोर बता सकता है, जो हिम बन जाने के भय से अंगार चुगा करता है। प्यार में कितना उन्माद है, यह मधुप बता सकता है जो काठ तो भेद लेता है, किन्तु कमल की पँखड़ियों में बन्दी बन जाता है। प्रकृति का अणु-अणु, परमाणु-परमाणु प्यार का साक्षी है। किन्तु सभी उसका कोई गुण ही बता पाते हैं। प्यार क्या है, यह तो प्यार करके ही जाना जा सकता है।

श्याम बहुत ढीठ है। ब्रज को उसने सिर पर उठा लिया है। आये दिन किसी न किसी को तंग किया करता है। सुनिये, वह साँकरी गली में खड़ी गोपी क्या कहती है—

छाँड़ो मोरी बहियाँ, सीखी यह कौन चाल,
हा हा तुम परसत तन औरन की नारी।
अँगुरी मेरी मुरुक गई, परसत तन पीर भई,
भीर भई देखत सब ठाढ़ी ब्रज-नारी॥

उसकी शरारतें इतनी बढ़ गई हैं कि यमुना-तट पर जाना कठिन हो गया है। कोई जाय भी कैसे—

जमुना-तट ठाढ़े नँदनंदन कोऊ न्हान न पावे हो।
जो कोउ जल पैठत मज्जन हित ताको चीर चुरावे हो॥

तोरत हार कंचुकी फारत चढ़त कदम पै धाई।
पुनि पाछे तें पीठ मलत है ऐसो ढीठ कन्हाई॥

हारकर उन्होंने नन्द से शिकायत की—

बिनती सुन नंद वाल बरजो क्यों न अपने बाल,
प्रातः काल आइ-आइ अम्बर लै भागै।

नन्द ने अपने लड़ैते लाल से कुछ पूछा भी या नहीं, पता नहीं। लेकिन श्याम की बाँसुरी पर रीझी गोपियाँ—

अटा पै मग जोवत हैं ठाढ़ी।
यहि मारग हरि को रथ ऐहै प्रेम-पुलक तन बाढ़ी॥
कोउ खिरकिन छज्जन पै ठाढ़ी कोउ द्वारे मग जोहैं।
करि सिंगार स्याम सुन्दर-हित प्रेम भरी अति सोहैं॥

और यदि किसी दिन आने में देर हुई या आ ही न सके तो उनसे शिकायत भी करती हैं—

सजन तेरी हो मुख देखे की प्रीत।
तुम अपने जोबन मदमाते कठिन बिरह की रीत॥
जहाँ मिलत तहँ हँसि हँसि बोलत गावत रस के गीत।
'हरीचन्द' घर घर के भौंरा तुम मतलब के मीत॥

भला कौन ऐसी बावरी होगी जो चीर चुरानेवाले को हृदय दे देगी! लेकिन वे करें क्या?—

सखी ये नैना बहुत बुरे।
तब सों भये पराये हरि सों जब सों जाइ जुरे॥

प्रीति कितनी ही छिपाई जाय, छिपती नहीं; और जब घरवाले ही भेदी हों, तब क्या कहा जाय—

छिपाये छिपत न नैन लगे।
उघरि परत सब जानि जात हैं घूँघट में न खगे।

और उन नयनों की विवशता तो देखिए--

का करौं गोइयाँ अरुझि गई अँखियाँ।
कैसे छिपाऊँ छिपत नहिं सजनी छैला मद-माती भई मधु-मखियाँ॥
साँवरो रूप देख परबस भईं इन कुल लाज तनिक नहिं रखियाँ॥

कुल-कानि जब चली ही गई, तो किसी का भय वे क्यों मानने लगे? उन्होंने आँखों से घनश्याम का रूप छककर पीने की ठान ली--

धारन दीजिए धीर हिए कुल-कानि को आजु बिगारन दीजिए।
मारन दीजिए लाज सबै 'हरिचंद' कलंक पसारन दीजिए।
चार चवाइन को चहुँ ओर सों सोर मचाइ पुकारन दीजिए।
छाँड़ि सकोचन चन्द मुखै भरि लोचन आजु निहारन दीजिए॥

सखियों ने प्रेम का परिणाम समझाया तो उन्होंने अपनी विवशता प्रकट की--

सजनी मन हाथ हमारे नहीं तुम कौन को क्या समुझावती हौ।

प्रेम का मोती जब अपनी पूर्णता पा लेता है तब खारा पानी बन जाता है। प्रेमोन्मादिनी ब्रज-बालाओं की भी यही गति हुई। श्याम के सँदेसी ऊधो ज्ञान सिखाने आये। ब्रज-बालाओं ने कहा—

ऊधो जो अनेक मन होते।
तो इक स्याम-सुँदर को देते इक लै जोग सँजोते॥

लेकिन विवशता तो यह है कि—

ह्याँ तो हुतो एक ही मन सो हरि लै गये चुराई।
'हरीचंद' कोउ और खोजि कै जोग सिखावहु जाई॥

और हँसी तो तब आती है जब—

सो बनि पंडित ज्ञान सिखावत कूबरी हू नहिं ऊबरी जासों।

प्रेम एक बार होता है। वह मन्दार के फूल का रेशा नहीं है जो जहाँ तहाँ उड़ता फिरे। जो होना था, एक बार हो चुका। वे श्याम की हैं। यह उसपर निर्भर है कि वह उन्हें ठुकराये या प्यार करे। उन्हें तो जो करना था, कर चुकीं—

रंग दूसरो और चढ़ैगो नहीं अलि साँवरो रंग रँग्यो सो रँग्यो।

संयोग शृंगार

आजु हरि बिहरत जमुना तीर।
स्यामा संग रंग भरि सोहत पहिने झीने चीर॥
प्रथम समागम सकुचत प्यारी जब परसत बलबीर।
उघरत अँग भीनि जल बसनन लाजि भजत तब तीर॥

प्रथम समागम के लाज और संकोच के बन्धन धीरे-धीरे टूट जाते हैं और—

पौढ़ दोउ बातन रस भीने।
नींद न लेत अरुझि रहे दोऊ केलि-कथा चित दीने॥

एक दिन वह भी आता है जब—

सुरति स्रम बिहरत प्रिय-प्यारी।
चाव भरे दोउ सेज नाव पै बाहु बाहु मैं धारी॥

सखियाँ 'कुंजन की इस नवल केलि' को छिपकर देखती हैं—

किंकिनि की धुनि सुनात पातन की खरखरात,
तैसी निसि सनसनात सुखहि साधिका।

रात ढल चली और—

जागे माई सुन्दर स्यामा-स्याम।
कछु अलसात जँभात परस्पर टूटि रही मोतिन की दाम।
अधखुले नैन प्रेम की चितवनि आधे आधे बचन ललाम।
बिलुलित अलक मरगजे बागे नख-छत उरसि मुदाम॥
संगम गुन गावत ललितादिक बाजत बीन तीन सुर ग्राम।
'हरीचन्द' यह छबि लखि प्रमुदित तृन तोरत ब्रज बाम॥

वियोग शृंगार

सुख और दुःख भी प्रकाश और छाया की भाँति मानव-जीवन के साथ लगे हैं। सुख पाकर हम दुःख का अनुमान भी नहीं कर सकते। वास्तविकता यह है कि सुख-दुःख के धूप-छाँही अवगुण्ठन से मानव-जीवन ढका रहता है। ताने और बाने के रंग दो रहते हैं, किन्तु एक दृष्टि में एक ही रंग देख पड़ता है। भोली गोपियों के साथ भी यही हुआ। सुख के दिन बीते और दुःख ने उन पर अपनी छाया डाली। श्याम नहीं आये, उन्हें चिन्ता हुई—

किन बिलमायो मेरो प्रान।
पाटी कर पटकत निसि बीती रोवत भयो बिहान॥

सखियों से पूछा—

सखी मोरे सैंयाँ नहिं आये बीति गई सारी रात।
दीपक-जोति मलिन भइ सजनी होय गयो परभात॥

कौन जानता था कि रात भर अलग रहने से जिसके लिए वे इतनी विकल हैं, वही उनसे हमेशा के लिए छिन जायगा। प्रेम की सुरभि से सम्मोहित होकर वे जिसे फूल समझकर हृदय से लगाना चाहती थीं, वही शूल बन कर उनका हृदय भेद डालेगा! श्याम नहीं ही आये, आँखों की छोटी-

सी भूल ने उन्हें न तो जीने ही दिया और न मरने ही; उन्हें श्याम से शिकायत है—

सैयाँ बेदरदी दरद नहिं जानै।
प्रान दिये बदनाम भए पर नेक प्रीति नहिं मानै॥

आज उनकी यह दशा है—

परी सेज सफरी सरिस करवट लै पछतात।
टप टप टपकत नैन जल मुरि मुरि पछरा खात॥
निसि कारी साँपिन भई डसत उलटि फिरि जात।
पटकि पटकि पाटी करन रोइ रोइ अकुलात॥

सखियाँ समझाती हैं—

चलो सोय रहो जानी, अँखियाँ खुमारी से लाल भईं।
सगरी रैन छतिया पर राखा अधरन को रस लीना।
'हरीचन्द' तेरी याद न भूलै, ना जानौं कह कीना॥

दुनियाँ लाख समझाये, अपने को तो वे ही समझती हैं—

हमहीं अपनी दसा जानैं सखी निसि सोवती हैं किधौं रोवती हैं।

बारह-मासे में कवि ने विरह का इतना सजीव चित्र अंकित किया है कि उसे पढ़कर पलकें भींग जाती हैं। उसकी एक एक पंक्ति में विफल प्रणय का बाँध टूट पड़ता है। स्थानाभाव से उसे उद्धृत कर सकना सम्भव नहीं है। यहाँ पाठक उसके एक पद से ही सन्तोष करें—

सावन मास सुहावन लागै मन-भावन नाहीं।
झूलैं काके संग हिंडोरा देकर गलबाँहीं॥
बरसि घन कुंजन के माहीं।
कौन बचावै आप भींजि मोहिं राखि आपनी छाहीं॥

याद करि दरकत सखि छाती।
कैसे रैन कटे बिनु पिय के नींद नहीं आती॥

प्रकृति

भारतेन्दु का कवि निन्यानबे प्रति शत रीति-युगीन है—यदि हम रीति-युग को लक्षण-ग्रंथों की संकीर्ण परिधि में न बाँध दें तो। भारतेन्दु के लगभग सभी प्रकृति-चित्र उद्दीपन रूप में ही हैं।

संयोग के उद्दीपन रूप में प्रकृति

प्यारी झूलन पधारो झुकि आये बदरा।
ओढ़ौ सुरुख चूनरि तापै स्याम चदरा॥
देखो बिजुरी चमक्कै बरसै अदरा।
'हरीचंद' तुम बिन पिय अति कदरा॥

प्रकृति और प्रिया के रूप एक दूसरे के पूरक हैं। दोनों एक दूसरे की शोभा बढ़ाते हैं। अनुराग की लाल चूँदरी पर प्रकृति ने बादलों की श्याम चादर ओढ़ ली है; और सखी प्रिया से इसी प्रकार का शृंगार करने को कहती है। प्रिया और प्रकृति का रूप अलग-अलग नहीं देखा जा सकता।

वियोग के उद्दीपन के रूप में प्रकृति

पिया परदेस में है, प्रकृति का यौवन बादलों के रूप में उमड़ आया है—

कूकै लगीं कोइलैं कदम्बन पै बैठि फेरि
घोए घोए पात हिलि-हिलि सरसै लगे।
बोलै लगे दादुर मयूर लगे नाचन फिरि
देखि कै सँजोगी जन हिय हरसै लगे।

हरी भई भूमि सीरी पवन चलन लागी
लखि 'हरिचंद' फेरि प्रान तरसै लगे।
फेरि झूमि-झूमि बरषा की ऋतु आई फेरि
बादर निगोरे झुकि-झुकि बरसै लगे॥

'बादर निगोरे' में प्रिया की व्यथा सन्निहित है। उनके 'झुकि झुकि' बरसने
थ ही साथ प्रिया की आँखें भी बरस रही हैं। और ये मोर—

सखी री कुंजन बोलत मोर।
ामिनि दमकि दसो दिसि धावति छूटि छुवति छिति छोर।
ंद मंद मारुत मन मोहत मत्त मधुप-गन सोर।
हरीचंद' ब्रजचंद पिया बिनु मारत मदन मरोर॥

कृति का प्रधान कार्य है प्रेम-पिपासा को उद्दीप्त करना। प्रिय पास रहे
, वह अपना कार्य तो करती ही रहेगी। यही विवशता हमारे दुःखों
ण है।

दना जब अपने उत्कर्ष-विन्दु तक पहुँचती है, तब मानव और प्रकृति
ात्म्य हो जाता है—

पीरो तन पात पर्‍यो फूली सरसों सरस सोई
मन मुरझानो पतझार मनौ लाई है।
सीरी स्वाँस त्रिबिध समीर-सी बहति सदा
अँखियाँ बरसि मधु झार सी लगाई है।
'हरीचंद' फूले मन मैन के मसूसन सों
ताही सों रसाल बाल बहि कै बौराई है।
तेरे बिछुरे ते प्रान कंत के हिमंत अंत
तेरी प्रेम जोगिनी बसंत बनि आई है॥

प्रकृति का आलम्बन चित्र

ठंढा पानी लगा सुहाने आलस फिर आई।
सरस सुगन्ध सिरस फूलों की कोसों तक छाई॥
उपवन में कचनार बनों में टेसू हैं फूले।
मदमाते भँवरे फूलों पर फिरते हैं झूले।

वर्षा का यह वर्णन प्रकृति का आलम्बन के रूप में चित्रण है। पर भारतेन्दु-काव्य में इस प्रकार के प्रकृति-चित्रों की संख्या बहुत कम है।

प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण

भारतेन्दु की सूक्ष्मदर्शिनी दृष्टि ने प्रकृति का कोना-कोना देख डाला था। उनके सूक्ष्म निरीक्षण का एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

सूझै पंथ न कहीं हाथ से हाथ न दिखलाता।
एक रंग धरती आकाश का कहा नहीं जाता॥···
सन सन करके रात खनकती झींगुर झनकारैं।
कभी कभी दादुर रट कर जिय व्याकुल कर डारैं॥
साँप खँडहर पर ठनकारैं।
गिरे करारे टूट टूट के नदी छलक मारैं॥

भक्ति

हरि-मन-कुमुद-प्रमोद-कर ब्रज-प्रकासिनी बाम।
जयति कापिसा चंद्रिका राधा जाको नाम॥
चंद्रभानु नृप- नंदिनी चंद्राननि सुकुवाँरि।
कृष्णचंद्र-मन-हारिनी जय चंद्रावलि नारि॥

भारतेन्दु की भक्ति में वल्लभीय पुष्टि-मार्ग के राधा-तत्त्व की प्रधानता है। भक्त-सर्वस्व (चरण-चिह्न-वर्णन) में कवि ने सबसे पहले राधा के चरणों की वन्दना की है—

जयति जयति श्री राधिका चरण जुगल करि नेम।
जाकी छटा प्रकास तें पावत पामर प्रेम॥

'जसुमति सीप से निकले ब्रज-रतनागार' (कृष्ण) भी कवि को इसी लिए प्रिय हैं कि वे 'ब्रज-तिय को सिंगार' हैं। घनश्याम उसे तब भाते हैं, जब 'दच्छिन दिसि चंद्रावली श्री राधा दिसि बाम' होती हैं। राधा के साथ कवि ने चन्द्रावली की भी वंदना की है; दोनों को कवि ने समान महत्त्व दिया है—

जयति राधिका-नाथ चंद्रावली प्रान पति
× × ×
दास 'हरिश्चंद' ब्रजचंद ठाढ़े मध्य
राधिका" बाम सु दक्षिन चंद्रावली।

राधा के साथ चन्द्रावली के समान महत्त्व का रहस्य पुष्टि-मार्गीय भक्ति की गोपी, गोपांगना और ब्रजांगना उपासना है जिसका विवेचन 'सूरदास' के प्रकरण में हो चुका है। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि राधा गोपी-प्रेम की प्रतीक हैं और चन्द्रावली, ललिता तथा अन्य गोपियाँ गोपांगना-प्रेम की; यशोदा ब्रजांगना हैं।

राधा और कृष्ण मिलकर एक हो गये हैं। एक को अलग रखकर दूसरे की कल्पना ही नहीं की जा सकती। कृष्ण 'सँग सोहत बृषभानु नंदिनी प्रमुदित आनँद कंद' और राधा 'बृंदाबन की कुंज-गलिन में सँग लीन्हें नँद-लाल' बिहार किया करती हैं—

हिंडोरे झूलत कुंज कुटीर।
हिंडोरे राधा औ बलबीर॥

हिंडोरे सब गोपिन की भीर ।
हिंडोरे कालिन्दी के तीर ॥

कृष्ण के प्रेम में कवि इतना रँगा है कि ऋषभदेव और पार्श्वनाथ आदि जैन तीर्थंकरों की स्तुतियाँ भी कृष्ण की ही लगती हैं—

तुमहि तौ पार्श्वनाथ हौ प्यारे ।
तलपन लागे प्रान बगल तें छिनहु होहु जो न्यारे ॥

तुलना के लिए कृष्ण की एक स्तुति भी देखिए—

प्राननाथ मन मोहन प्यारे वेगहिं मुख दिखराओ ।
तलफत प्रान मिले विन तुमसों क्यों न अबहिं उठि धाओ ॥

जैन-कुतूहल का समर्पण भी प्यारे (कृष्ण) को ही है । इतना ही नहीं, वे जैनों को नास्तिक मानने को भी तैयार नहीं हैं—

जैन को नास्तिक भाखै कौन ?
परम धरम जो दया अहिंसा सोई आचरत जौन ॥
सत कर्मन को फल नित मानत अति विवेक के भौन ।
तिन के मतहि विरुद्ध कहत जो महा मूढ़ है तौन ॥
सब पहुँचत एकहि थल चाहौ करौ जौन पथ गौन ।
इन आँखिन सों तो सब ही पथ सूझत गोपी-रौन ॥

सगुण उपासना पर कवि को विश्वास है । उसकी सगुण उपासना भावना की कसौटी पर ही नहीं, तर्क की कसौटी पर भी खरी उतरती है—

तुम निर्गुन हो तो फिर यह गुन जग में किसका ?

संसार को कवि मिथ्या नहीं मानता—

सभी शोर करते हैं साँप का रस्सी में यह धोखा है ।
भूले हैं वह, जहाँ गर दो हों तो यह बात बनै ॥
यह तो तब हो जब कि साँप रस्सी यह कायम हों दो शै ।

यहाँ तुम्हारे सिवा है कोई दूसरा कौन कहै ॥
'हरीचंद' तू सच है तो जग क्यों अपने मुँह झूठा बना।

कवि माया की भी सत्ता नहीं मानता—

तुमने बनाया या कि बने खुद तो यह माया कैसी।
एक जो हौ तुम तो फिर यह कौन दूसरी आके घुसी ॥

आराध्य को पाने के लिए—

ढूँढ़ फिरा मैं इस दुनियाँ में पश्चिम से ले पूरब तक।

लेकिन—

कहीं न पाई मेरे दिलदार प्रेम की तेरे झलक।
मसजिद मंदिर गिरजों में देखा मतवालों का जा दौर।
अपने अपने रँग में रँगा दिखाया सब का तौर।
सिवा झूठी बनावट के न नजर आया कुछ और ॥

धर्म की दीवारों ने ईश्वर को बन्दी बना लिया है। भय के भूत से लोगों को छुटकारा ही कहाँ है जो उस तक पहुँच सकें—

कोई गुनाह से खौफ दोजख का करके डरते हैं।
कोई मजाजी इश्क में अपने मतलब का दम भरते हैं ॥
कोई मर के मिलै बैकुंठ इसी पर मरते हैं।
'हरीचंद' पर इनमें से पहुँचा कोइ नहीं तेरे तलक ॥

यही कारण है कि कवि को बाह्य आडम्बर में विश्वास नहीं है—

गारत हो वह दीन जिसमें तुझ पर ईमान न हो।
ढहै वह काबा जहाँ वक्त सिजदे के तेरा ध्यान न हो ॥
टूटै वह बुत तुम्हारी झलक जिसमें ए जान न हो।
काफिर हो वह कुफ्र से तेरे यार जो कि बदनाम न हो ॥

और वह कहता है—

हजार लानत उस दिल पर जिसमें इश्के दीदार न हो।
फूटें आँखें वे जिन में बँधा अश्क का तार न हो॥

भारतेन्दु की भक्ति एकांगी है। उनके पास कर्त्तव्य हैं, अधिकार नहीं—

पियारे हम तौ भक्त इकंगी।
सब छोड्यो तुमरे हित मोहन लोक-लाज कुल संगी॥

सब कुछ आराध्य को समर्पित कर देने के पश्चात् जब उपेक्षा ही हाथ लगती है, तब बहुत निराशा होती है; और कवि जिद कर बैठता है—

जो पै ऐसिहि करन रही।
तो क्यौं मन-मोहन अपने मुख सों रस-बात कही॥

कवि से ईश्वर प्रसन्न हो या अप्रसन्न, अपनी मर्यादा की रक्षा के लिए तो उसे कवि को तारना ही होगा—

प्यारे अब तौ तारेहि बनिहै।
नाहीं तो तुमको का कहिहै जो मेरी गति सुनिहै॥

लोक-कल्याण

'पूरी अमी की कटोरिया सी चिरजीवो सदा विकटोरिया रानी' पढ़कर कुछ लोगों की भौंहें तन जाती हैं और वे भारतेन्दु की देश-भक्ति में सन्देह करने लगते हैं। किन्तु उन्हें यह भी जानना चाहिए कि कवि का जन्म अठारह सौ पचास ईसवी (राष्ट्रीय महासभा के जन्म से पूरे पैंतिस वर्ष पहले) में हुआ था। औपनिवेशिक स्वराज्य से अधिक की कल्पना तिलक जैसे क्रान्तिकारी भी न कर सके थे; और नेहरू जी ने सन् १९२८ वाली कांग्रेस

में पूर्ण स्वतंत्रता का प्रस्ताव रखा था। हमें यह भी न भूलना चाहिए कि भारतेन्दु अपने समय से बहुत आगे थे।

भारत के पतन का पूरा चित्र कवि की आँखों के आगे नाच उठता है—

पृथीराज जयचंद कलह करि जवन बुलायो।
तिमिरलंग चंगेज आदि बहु नरन कटायो॥
अलादीन औरंगजेब मिलि धरम नसायो।
विषय-वासना दुसह मुहम्मद सह फैलायो॥
तब लौं सोए बहु नाथ तुम जागे नहिं कोऊ जतन।
अब तौ जागौ बलि बेरि भइ हे मेरे भारत-रतन॥

अँग्रेजी राज्य में शान्ति अवश्य मिली, पर कवि उस मीठे अभिशाप से सन्तोष न कर सका—

अँग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन बिदेस चलि जात यहै अति ख्वारी॥

पूर्वजों के विलुप्त पौरुष पर कवि आँसू बहाता है—

सोई भारत भूमि भई सब भाँति दुखारी।
रह्यो न एकहु बीर सहस्रन कोस मँझारी॥
होत सिंह को नाद जौन भारत-बन माहीं।
तहँ अब ससक सियार स्वान खर आदि लखाहीं॥

सड़े-गले समाज का जितना वास्तविक चित्रण भारतेन्दु ने किया है, उतना किसी से नहीं हो सका—

देखी तुमरी कासी, लोगो, देखी तुमरी कासी।
जहाँ बिराजैं विश्वनाथ विश्वेश्वर जी अविनासी॥
आधी कासी भाट-भँडरिया बाह्मन औ संन्यासी।
आधी कासी रंडी मुंडी राँड़ खानगी खासी॥

लोग निकम्मे भंगी गंजड़ लुच्चे बे-बिसवासी।
महा आलसी झूठे शोहदे बे-फिकरे बदमासी॥
मैली गली भरी कतवारन सड़ी चमारिन पासी।
नीचे नल से बदबू उबलै मनो नरक चौरासी॥
घर की जोरू-लड़के भूखे बने दास औ दासी।
दाल की मंडी रंडी पूजें मानो इनकी मासी॥

कवि ने समाज को कहीं कहीं व्यंग्य का बहुत कड़वा घूँट पिलाया है—

धोती भी पहनें जब कि कोई गैर पिन्हा दे।
उमरा को हाथ पैर हिलाना नहीं अच्छा॥
फाकों से मरिये पर न कोई काम कीजिये।
दुनियाँ नहीं अच्छी है जमाना नहीं अच्छा॥
मिल जाय हिंद खाक में हम काहिलों को क्या।
ऐ मीरे फर्श रंज उठाना नहीं अच्छा॥

समाज पर कीचड़ उछालना मात्र उन्हें अभीष्ट न था। समाज के कल्याण का मार्ग भी उन्होंने प्रशस्त किया। धर्म की बुराइयाँ सुनिए—

जाति अनेकन करी नीच औ ऊँच बनायो।
खान पान संबंध सबनि सों बरजि छुड़ायो॥
करि कुलीन के बहुत ब्याह बल बीरज मार्‍यो।
विधवा ब्याह निषेध कियो बिभिचार प्रचार्‍यो॥
रोकि विलायत गमन कूप-मंडूक बनायो।
औरन को संसर्ग छुड़ाइ प्रचार घटायो॥

राजभक्ति के आवेश में अंग्रेजों की थोड़ी-बहुत प्रशंसा कर दी हो, यह दूसरी बात है; पर मन ही मन उनकी नीति से कवि कुढ़ता रहा है—

भीतर भीतर सब रस चूसैं। हँसि हँसि कै तन मन धन मूसै॥

जाहिर बातन में अति तेज। का सखि साजन? नहिं अँगरेज॥

× × ×

चूरन जब से हिन्द में आया। इसका धन बल सभी घटाया॥
चूरन साहेब लोग जो खाता। सारा हिन्द हजम कर जाता॥

भारतेन्दु पर रीति-काल की पूरी छाप है। उनकी लोक-कल्याण सम्बधी रचनाएँ अनुपात में दो प्रति शत से अधिक नहीं है।

भाषा-शैली

पैंतिस वर्ष की अल्पायु में ही भारतेन्दु हम से छिन गया था। इतने अल्प काल में विश्व के किसी कवि ने इतने अधिक विषयों पर इतनी विभिन्न भाषाओं और शैलियों में रचना नहीं की। उनकी अधिकतर कविताएँ कृष्ण लीला सम्बन्धी हैं और सभी गेय पदों में हैं। सवैया, कवित्त और दोहे बहुत ठिकाने के हैं। देव और घनानन्द के सवैयों से भारतेन्दु के सवैये उन्नीस न ठहरेंगे। सबके उद्धरण दे सकना सम्भव नहीं है; फिर भी विभिन्न भाषाओं और शैलियों के कुछ उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं—

राजस्थानी—

म्हारी सेजाँ आवो जू लाल बिहारी।
रंग रँगीली सेज सँवारी लागी छे आसा थारी॥

राजस्थानी और हिन्दी का मेल—

नींदड़ियाँ नहिं आवे, मैं कैसी करूँ ए री सखियाँ।

ग्राम्य और शहर के बीच की भाषा—

बल खात गुजरिया बिरह भरी।
भूलि गई सब सुध तन मन की लागी हरि की तिरछी नजरिया।

देहाती बोली का अधिक पुट—

नजरिहा छैला रे नजर लगाये चला जाय।
नजर लगी बेहोस भई मैं जिया मोरा अकुलाय॥

विशुद्ध ग्राम्य भाषा—

सिखाय नाहीं देत्यो, पढ़ाय नाहीं देत्यो,
सैयाँ फिरंगिनि बनाय नाहीं देत्यो।
कोठवा अटरिया मोहिं नीको न लागै।
नदिया पै बँगला छवाय नाहीं देत्यौ॥

कबीर आदि निर्गुण सन्तों की भाषा—

साँझ सबेरे पंछी सब क्या कहते हैं कुछ तेरा है।
हम सब इक दिन उड़ जायेंगे यह दिन चार बसेरा है॥

संस्कृत—

आश्लिष्यति चुम्बति परिरम्भति पुनः पुनः प्राणेशं।
सात्विकभावोदयशिथिलायित मुक्ताऽकुञ्चित केशं॥
भुजलतिकाबन्धनमाबद्धं कामकल्पतरुरूपं।
सीमन्तिनी कोटिशत मोहन सुन्दर गोकुल भूपं॥

उर्दू—

दिल मेरा ले गया दगा करके।
बे-वफा हो गया वफा करके॥
हिज्र की शब घटा हि दी हमने।
दास्ताँ जुल्फ की बढ़ा करके॥

बँगला—

हाय बिधि एत मोरे केन निर्दय।
अमूल्य रतन करिया अर्पन, केन गो हरन ता हारे कराय।
मम प्रान-धन, हृदय-रतन रमनी-मोहन कोथाय गो जाय॥

पूर्वा

'जगन्नाथ' तुम 'रत्नाकर' हिन्दी के अमर तुम्हारा गान,
'ऊधव' के 'शत' सन्देशों में ब्रज-बालाओं की मुस्कान
निखर रही, भींगे आँसू सी 'हम उनकी वे मेरे हैं',
भागीरथ 'गंगावतरण' के मञ्जुल ब्रज-भामिनी-बिहान ॥

रत्नाकर

जन्म–भाद्रपद शुक्ल ५ सं० १९२३ निधन–सं० १९८९ (१२ जून १९३५ ई०)

श्रीजगन्नाथदास 'रत्नाकर' का जन्म दिल्लीवाल अग्रवाल कुल में काशी में हुआ था। आपके पूर्वज पानीपत (पंजाब) के निवासी थे। आपके पिता बाबू पुरुषोत्तमदास जी फारसी के अच्छे विद्वान् थे। आपने बी० ए० तक शिक्षा पाई थी। दो वर्ष तक आपने रियासत आवागढ़ में सरकारी खजांची का कार्य किया था। फिर अयोध्या-नरेश के प्राइवेट सेक्रेटरी बने और उनकी मृत्यु के पश्चात् जीवन के अन्तिम दिनों तक महारानी के प्राइवेट सेक्रेटरी रहे।

रत्नाकर जी बहुत ही उदार तथा विनोदी प्रकृति के थे। चूड़ीदार पायजामा, लम्बी शेरवानी, आँखों में सुरमा और मुख में पान—बस यही आपकी वेश-भूषा थी। सभा-सम्मेलनों की भीड़-भाड़ से आप अपने को दूर रखते थे। साहित्यिक गोष्ठियों से आपको अनुराग था।

रचनाएँ—हरिश्चन्द्र, उद्धव-शतक, गंगावतरण।

रूप

रत्नाकर की रूप सम्बन्धी कल्पना अलौकिक है। उनके रूप-चित्रों में हमें अनिर्वचनीय पवित्रता के दर्शन होते हैं। कृष्ण, राधा तथा अन्य गोपियों के रूप की तो बात ही दूसरी है, सगर की राज-महिषी के रूप-चित्र में भी हम यही पवित्रता पाते हैं—

> जोबन-रूप-अनूप भूप-सुचि-रुचि अनुगामिनि।
> जिनकी प्रभा निहारि हारि सकुचत सुर-स्वामिनि॥

माँ का सौन्दर्य इन पंक्तियों में देखिए—

> कछु दिन बीतैं भई गर्भ-गरुई दुहुँ रानी।
> भरि औरैं द्युति देह नवल सोभा सरसानी॥

गोपियों का रूप दो ही पंक्तियों में निखर उठा है—

> कंचन-मय किंजलक-दलक-द्युति झलमल झलकति।
> मर्कत-मनि-कृत-कलित-कर्निका-छबि छुटि छलकति॥

वयः संधि कवि के नयनों में एक जिज्ञासा बनकर आती है; लेकिन अपनी सरल जिज्ञासा में भी वह रूप छककर पी लेता है—

> सरसन लाग्यो रस रंग अंग अंगनि मैं,
> पानिप तरंगनि मैं बाल बिलसति है॥···
> परम पुनीत बैस संधि कौ प्रभात पाइ,
> अरुन उदै की कंज कली सी लसति है॥

वयः संधि की सीमा पारकर राधा युवती बनती हैं। उनके अंग-अंग से आलोक फूटा पड़ता है—

जित-जित जाति वृषभानु की दुलारी फवी
तित-तित जाति रवी दीपति दिवारी की।

× × ×

रावरी ठोढ़ी के कूप अनूप सौं रूप त्रिलोक को पानिप पावै।

पीठ पर लहराते हुए केशों की शोभा इन पंक्तियों में देखिए—

कच मेचक नीठि सँभारत हूँ, छुटि पीठ पै यौं छबि सौं छहरैं।
मनु गंग की मंद तरंगनि पै, लहरैं जमुना जल की लहरैं॥

नयन-कमल पर रीझनेवाले मधुपों को रत्नाकर से निराशा हो सकती है, पर कवि करे क्या? राधा के नयन देखता है तो उसमें श्याम देख पड़ते हैं; और श्याम के नयन देखता है तो वहाँ राधा ही राधा दिखाई पड़ती हैं! रूप से कवि की आँखें चौंधिया जाती हैं। वह सरिता में तैरती मछली देखता है, गोधूली का अलसाया अधखिला कुमुद और अनुरागमयी ऊषा के आँचल में विहँसता कमल भी देखता है। देखता तो बहुत-कुछ है, पर कह नहीं पाता। अन्त में हारकर राधा और श्याम के नयन एक साथ ही पाठकों के सम्मुख रख देता है—

उनकैं सफरी स्वच्छ, अच्छ पाठीन सु इनकैं।
उनकैं संध्या-कुमुद, कंज इनकैं पुनि दिन कैं।
उनकैं लाज सकोच लोच की कछु अधिकाई।
इनकैं हौंस-हुलास-रासि की आतुरताई॥
दोउन की छबि पै दोऊ ललकत ललचौंहैं।
पै इक सौंहैं लखत एक करि नैन निचौंहैं॥

श्याम की 'मन्द मुसुकानि जोति जीवन जगाये देत है' और उनकी भौंहों की मिठास से भक्त का हृदय भर जाता है—

टेढ़ी तैं सहस्र गुनी सूधी भौंह मीठी अरु
सूधी तैं सहस्र गुनी टेढ़ी भौंह मीठी हैं।

'राधा-मुख-चंद के चकोर' श्याम के नयनों को—

कोऊ कहैं कंज हैं कलानिधि सुधाकर के,
कोऊ कहैं खंज सुचि-रस के निखारे हैं।...
कोऊ अंग-कानन के कहत कुरंग इन्हैं,
कोऊ कहैं मीन ये अनंग-केतु-वारे हैं।

किन्तु—

हम तौ न जानैं उपमानैं एक मानैं यहै,
लोचन तिहारे दुख-मोचन हमारे हैं॥

श्याम का रूप निष्ठुर नहीं है, दया भी उनमें पर्याप्त मात्रा में है। उनका ध्यान आते ही—

पांडव-वधू को बचे भात सुधि आइ जात,
छाइ जात नैननि पै तंदुल सुदामा को।

शिव का मधुर रूप देखिए—

अरुन-कोकनद चरन सरन जो असरन जन के।

× × ×

गौर सरीर विभूति भूति त्रिभुवन की सोहै।
आनन परम-उदार-प्रकृति-छबि-छलक विमोहै॥

नारायण की रूप-चन्द्रिका से स्निग्ध लेखनी को नर के रूप-चित्रण में भी सफलता मिली है। हरिश्चन्द्र का रूप देखिए—

अति प्रलंब आजानु बाहु दृग कानन-चारी।
उन्नत ललित ललाट बिसद बच्छस्थल धारी॥

रूप की मिठास से पाठकों का हृदय भर गया होगा। लेखक अब पाठकों को जिस रूप के दर्शन कराने ले जा रहा है, उसे रूप कहने में शायद लोगों को आपत्ति हो। वस्तुतः यह भी है सौन्दर्य ही; हाँ यदि आप चाहें तो इसे वीभत्स सौन्दर्य कह सकते हैं। डंकिनी और पिशाच के रूप देखिए—

आकृति अति बिकराल धरे, कवैला से कारे।
बक्र-बदन लघु-लाल-नयन-जुत, जीभ निकारे॥

× × ×

कोउ अँतड़िनि की पहिरि माल इतरात दिखावत।
कोउ चरबी लै चोप सहित निज अंगनि लावत॥

× × ×

छूटे लाँबे केस नैन राजत रतनारे।
सिर सेंदुर कौ तिलक भस्म सब तन में धारे॥

संयोग शृंगार

दाएँ कर गागरि सँभारि झुकि बाईं ओर,
बाएँ कर-कंज नेकुँ घूँघट उठाइ कै।
दै गई हिये मैं हाय दुसह उदेग दाग,
लै गई लड़ैती मन मुरि मुसुकाइ कै।

और एक दिन—

औचक अकेले मिले कुंज रस-पुंज दोऊ,
चौचक भए औ सुधि-बुधि सब ख्वै गईं।

और तब—

नैनंनि में नैननि के बिंब प्रतिबिंब सौं,
दोऊ ओर नैननि की पाँति बँधि ह्वै गईं।
दोऊन कौं दोउनि के रूप लखिबे कौं मनौ,
चार आँख होत ही हजार आँख ह्वै गईं॥

सुनहले दिन और रुपहली रातें एक-एक कर बीतती गईं, प्रिय और प्रिया एक दूसरे के निकट आते गये। एक दिन ब्रज-वीथियों में—

पिय परिरम्भ पाइ रोहिनी रसीली मनौ
पुलकि पसीजि रस भींजि थहरति है।

उनके समागम में इतना आनन्द है कि—

स्रम-जल-बिंद मुख-चन्द को अमंद पेखि,
लेखि सुधा सीकर चकोर चुगि लेत है।

धीरे-धीरे लाज और संकोच के बन्धन शिथिल हो गये और दोनों निर्भय होकर लता-कुंजों में मिलने लगे। प्रेम का आदान-प्रदान बढ़ चला; और—

गूथन गुपाल बैठे बेनी बनिता की आप
हरित लतान कुंज माँहि सुख पाइ कै।

'कान्ह-गति जानि कै' 'मन मोद मानि' प्रिया ने पूछा—'करत कहा हौ?' किन्तु उत्तर कौन देता! वहाँ तो—

इनकैं रँग वे उनकैं रँग ये, रुचि सौं दिन राति रँगाने रहैं।
पुलकाने रहैं, मुलकाने रहैं, सुख-साने रहैं, हरियाने रहैं॥

इतना सुख है कि मान भी नहीं करते बनता। सखी से कहती है—'पैयाँ परौं नैंक मान करिबो सिखाइ दे।' क्योंकि—

नाक कैं चढ़ावत पिनाक भौंह ढीली परैं,
चढ़त पिनाक भौंह नाक मुसुकाइ दै।

बड़े यत्न से प्रिया ने मान सीख लिया और उसका सफल प्रयोग भी कर लिया। किन्तु एक क्षण को भी प्रिय से दूर नहीं रहा जाता। वह सखी से फिर प्रार्थना करती है—

फिर न करौंगी मान प्रान ह्वै गए पै बीर,
अब कैं हमारौ मान-मोचन करा दै तू।

और दूसरे ही दिन हम देखते हैं कि दोनों मिलकर एक हो गये—

आए उठि प्रात गोल गात अलसात मुख
आवति न बात भाल भावत कसीस है।

रत्नाकर का संयोग-शृंगार सामाजिक मर्यादाओं में बँधा हुआ और परम्परागत है। रीति-काल में यौवन और प्रेम की जो धारा अबाध गति से बहती रही, वही रत्नाकर के काव्यों में भी मिलती है। अन्तर इतना ही है कि रीति-काल की धारा मुक्तक में होने के कारण पहाड़ी नदी-सी निःसंकोच बहती है; और प्रबन्धन-काव्य के रूप में होने में कारण रत्नाकर के काव्य में उसने अपना एक निश्चित किनारा बना लिया है।

वियोग शृङ्गार

जाकी एक बूँद कौं बिरंचि बिबुधेस सेस,
सारदा महेस ह्वै पपीहा तरसत हैं।

वही घनश्याम उमड़-घुमड़कर व्रज-वीथियों में बरस रहा था, जिसके—

प्रथम समागम सों सबही बन्यौ पै एक,
अंक तैं छटकि छूटि भाजत बन्यौ नहीं।

वही श्याम सुन्दर उनसे छीन लिया गया। जीवन का सारा सुख श्याम ले गये। उनके पास रोना छोड़कर बचा ही क्या था? एक दूती के मुख से उनकी दशा सुनिए—

> रावरौ हू नाम लिए नैननि उघारै नाहिं,
> आह औ कराह सबै धीरी परी जाति है।
> पीरी परी जाति है बियोग आगि हू तौ अब,
> बिकल बिहाल बाल सीरी परी जाति है॥

विरह के लगभग सभी चित्र स्वाभाविक और भावना-प्रधान हैं। पारसीक विरह-वर्णन की प्रणाली भी कहीं-कहीं मिलती हैं, जहाँ विरह मात्रा-निरूपण सा जान पड़ता है; यथा—

> ... ...
> ऐसो अंग ताप को प्रताप भरि जात है।
> सूखि जातिं स्याही लेखनी कैं नैंकु डंक लागैं
> अंक लागैं कागद बदरि बरि जात हैं।

रत्नाकर के संयोग-चित्रों की भाँति वियोग-चित्र भी परम्परागत हैं। उद्धव-शतक में करुणा का प्रवाह फूटा पड़ता है। पाठक यथा-स्थान देख लें।

वीर रस

ब्रज-वीथियों में सलोने श्याम का मिलन और बिछोह देखनेवाले रत्नाकर ने इन्द्रप्रस्थ के युद्ध को अनदेखा नहीं किया है। चूड़ियों की खनक के साथ उनकी कविता में तलवारों की चमक और वीरों की गर्वोक्तियाँ भी पर्याप्त मात्रा में मिलती हैं। यथा—

आयौ जुद्ध-भूमि मैं सनद्ध बर बीर क्रुद्ध,
रुद्ध-बुद्धि ह्वै रहे बिरुद्ध दलवारे हैं।

विरोधियों की दशा देखने लायक है—

धारि-धारि मारि-मारि करि धाये बीर,
सौंहैं आनि धीर रह्यो भैयौ मैं न बाबू मैं।

× × ×

ऐंचन न पावैं धनु नैंकु धाक-धारी धीर,
खैंचन न पावैं बीर तीर तरकस तैं।

ऐसा हो भी क्यों न ? अभिमन्यु की तलवार में पानी इतना था कि—

कौरव के दाप ताप पाण्डव के जात बहे,
पानी माहिं पारथ सपूत की कृपानी के।

× × ×

पानी गंगधार कौ कृपानी मैं धरयो है मनौं,
जाहि करि अंगी होत अरि अरधंगी है।

गंग-धार का पानी पाप-पुञ्ज का नाश करता है और तलवार का पानी बैरियों का। दोनों मानव-अधिकारों के रक्षक हैं, दोनों 'असरन के सरन' हैं। गंगा की लोल-लहरियाँ छप-छप करती हुई अपने लक्ष्य की ओर बहती चली जाती हैं; और तलवार—

बीर अभिमन्यु की लपालप कृपान वक्र,
सक्र-असनी लौं चक्र-व्यूह माहिं चमकी।
सीस पै परी तौ कुंड काटि मुंड काटि फेरि,
रुंड कै दुखंड कै धरा पै आनि धमकी।

कवि ने महाभारत के वीरों के साथ मध्य काल के वीरों की भी विरुदावली बखानी है। भारतीय जन-स्वातंत्र्य की वेदी पर मर मिटनेवाले वीरों के प्रति कवि की अपार श्रद्धा है।

महाराणा प्रताप ने—

झाँपै तुरकनि कौ सितारा धूरि धारा माहिं,
अस्त्र टाप हिंदुनि की छाप छिति छापै है।

राणा प्रताप के अधूरे काम को छत्रपति शिवा जी ने पूरा किया। उनकी—

मातृ-भूमि भक्ति सक्ति अविचल साहस की,
सहित प्रमान प्रतिपादि छिति छाजी है।
राना मूल-मंत्र जो स्वतंत्रता प्रकास कियौ,
ताकौ महाभास कियौ सरजा सिवाजी है।

वीरों के प्रति अपार श्रद्धा का कारण उनकी देश-भक्ति है—

देस-भक्ति बेदी पै स्वतंत्रता कौ मंत्र साधि,
पूत पंच पूतनि की पंच वलि दीन्ही है।
(गुरु गोविंदसिंह)

× × ×

तरपन कीन्हौ जननी कौ अरि-स्रोनित सौं,
सीस कौं गिरीस-माल अरपन कीन्हौ है।
(वीर नारायण)

भारत की नारियाँ भी आवश्यकता पड़ने पर युद्ध-भूमि में किसी से पीछे नहीं रही हैं। महारानी दुर्गावती की युद्ध-क्रीड़ा देखकर—

धोखौं रहे हेरत त्रिदेव जिय जोखैं यहै,
यह कमला है, कै गिरा है, किधौं काली है।

× × ×

जोगिनी कहैं को यह जोगिनी नई है अहो,
चंडी कहै चंडी को प्रचंडी यह दूजी है।

युद्ध-भूमि में दुर्गावती का शौर्य देखिए—

देवी दुरगावती मलेच्छ-दल गेरे देति,
मानो दैत्य दलनि दरेरे देति दुरगा।

× × ×

देश-प्रेम-पूरनि कौं अरि-दल चूरन कौं,
सूरनि गुहरि मंत्र माया किये देति है।

दुर्गावती और नीलदेवी के बलिदान पर कवि की आँखों में आँसुओं की जगह गौरव की अद्वितीय प्रभा है—

फूटी आँखिहूँ ना तऊ म्लेच्छनि छरारी चही,
सरग अटारी पै कटारी मारि पहुँची।

× × ×

चढ़त चिता पै नीलदेवी के उमंगि जुटीं,
देवनि कै संग देव-अँगना जुहारती।
जौ लौं कवि भारत के भारती सँवाखो करैं
तौ लौं तक आरती उताखो करै भारती॥

भारत की राज्य-श्री अब अँग्रेजों के अधिकार में जा चुकी थी; और जब—

ओलनि लौं गोलनि की बाढ़ सेंधिया की परैं,
ताव गई तरकि नवाब पेशवाजी की।

उस समय महारानी लक्ष्मी बाई की तलवार—

धमकी जहाँ हीं जहाँ संगर घटा री घोर
बिज्जु की छटा री है तहाँ हीं तहाँ तमकी।

और उस वीर-बाला की युद्ध-क्रीड़ा से—

धधकति गोलनि कैं द्वन्द्र धँसी यों जाति,
धँसत समन्दर ज्यौं अन्दर दवारी के ।

वीर रस की कविताओं में रत्नाकर की कला भूषण के टक्कर की है। ब्रज भाषा में युद्ध के इतने सजीव चित्र अन्यत्र उपलब्ध नहीं हैं ।

उद्धव-शतक

कर्त्तव्य की वेदी पर प्रेम का बलिदान किया जा सकता है; लेकिन प्रेम की स्मृतियाँ पीछा नहीं छोड़तीं । ये स्मृतियाँ कर्तव्य-पथ पर सतत प्रेरणा प्रदान किया करती हैं । इनकी कल्याणी ज्योति जीवन के अन्धकार में पथिक को प्रकाश देती है । प्रेम की पूर्व स्मृतियों का संघर्ष रह-रहकर हृदय को उद्वेलित कर जाता है । किन्तु यह संघर्ष ही जीवन है; और जीवन है कर्त्तव्य की रंगभूमि ।

कर्त्तव्य की पुकार सुनकर बाँसुरी बजानेवाला कन्हैया ब्रज की वीथियाँ छोड़कर हाथ में सुदर्शन लेकर द्वारका के राज-पथ पर चला आया था, किन्तु प्रेम की टीस उसे बराबर सालती ही रही । उद्धव-शतक प्रेम के संकल्प-विकल्प की कहानी है ।

श्याम ने जमुना में नहाते समय एक जल-जात बहता देखा । उसके सौरभ ने उन्हें कुछ बीती बातें स्मरण दिला दीं और वे बेसुध हो गये । 'ऊधव सखा कैं कंध' श्याम 'भुजबंध दिए' आये और अपनी 'बिरह-बिथा की कथा'—

नेंकु कही बैननि, अनेक कही नैननि सौं,
रही-सही सोऊ कहि दीनी हिचकिनि सौं ।

संयोग की स्मृतियाँ श्याम भूलकर भी नहीं भूले—

नंद औ जसोमति के प्रेम पगे पालन की,
लाड भरे लालन की लालच लगावती।...
जमुना कछारनि की रंग-रस-रारनि की,
बिपिन बिहारनि की हौंस हुमसावती।
सुधि ब्रज-बासिनि दिवैया सुख-रासिनि की
ऊधौ नित हमको बुलावन कौं आवती॥

× × ×

ऊधौ सुख-संपति-समाज ब्रज-मंडल के
भूलैं हू न भूलै भूलैं हमको भुलाइबौ।

'गोकुल की रज' के आगे श्याम को त्रिलोक की सम्पत्ति भी व्यर्थ लगने लगी और 'राधा-मंजुल-सुधाकर के ध्यान' के भार से उनके मन का जहाज डूबने लगा। अब पूर्व प्रेम की स्मृतियाँ हृदय को शूल-सी सालती हैं—

ऊधौ ब्रज-बास के बिलासनि कौ ध्यान धँस्यौ
निसि-दिन काँटै लौं करेजैं कसकत है।

ऊधो श्याम को समझाते हैं—

पाँचौ तत्त्व माहिं एक सत्त्व की ही सत्ता सत्य
याही तत्त्व-ज्ञान कौ महत्त्व श्रुति गायौ है।
तुम तौ विवेक रतनाकर, कहौ क्यों पुनि
भेद पंच-भौतिक के रूप मैं रचायौ है।
गोपिन मैं, आप मैं वियोग औ सँजोग हू मैं
एकै भाव चाहिए सचोप ठहरायौ है।
आपु ही सौं आपुको मिलाय औ बिछोह कहा
मोह यह मिथ्या सुख-दुख सब ठायौ है॥

किन्तु श्याम को अपने प्रेम की पवित्रता और सत्यता में इतना विश्वास है कि वे ऊधो से कहते हैं—

आवौ एक बार धरि गोकुल-गली की धूरि
तब इहिं नीति की प्रतीति धरि लैहैं हम।
मन सौं, करेजे सौं,स्त्रवन-सिर-आँखिनि सौं
ऊधव तिहारी सीख भीख करि लैहैं हम॥

'सुजस कमाइबै उछाह उदगार में सँदेस लै कै ऊधौ' चले; लेकिन उनकी ज्ञान की गठरी ढीली होकर—

डार मैं तमालनि की कछु बिरमानी अरु
कछु अरुझानी है करीरनि के झार मैं।

बरसाने में न जाने कौन बयार बहती थी कि ऊधो के—

औरै मुख-रंग भयौ सिथिलित अंग भयौ
बैन दबि दंग भयौ गर गरुआने मैं।

बेचारे ऊधव के मुँह से बैन न आये। वे—

लच्छ दुरे सकल, बिलोकत अलच्छ रहे
एक हाथ पाती, एक हाथ दिये छाती पर।

प्रेम की बेलि को विरह के पैरों तले रौंदी जाती देखने लगे; फिर भी उनके अहं ने उनका साथ न छोड़ा। ब्रज-बालाओं को आत्मा और परमात्मा का रहस्य समझाकर उन्होंने यह सिद्ध करना चाहा कि न तो किसी का किसी से संयोग होता है और न वियोग। उन्होंने बताया—

मोह-बस जोहत बिछोह जिय जाको छोहि,
सो तौ सब-अन्तर निरंतर बस्यो रहै।

कान्ह और गोपियों में अन्तर नहीं। वस्तुतः दोनों के अन्तःकरण में ब्रह्म की एक ही सत्ता व्याप्त है। दोनों के मध्य में जो बाह्य भेद प्रतिभासित होता है, उसका कारण माया है। सत्य तो यह है कि--

> सोई कान्ह, सोई तुम, सोई सबही हैं, लखौ
> घट-घट अन्तर अनंत स्याम घन कौं।
> जीव आतमा कौं परमातमा मैं लीन करौ
> छीन करौ तन कौं, न दीन करौ मन कौं॥

बेचारी ब्रज-बालाएँ ऊधव की 'अकह कहानी' समझ न सकीं। उनके लिए यही समस्या थी कि उनके 'बिषम ज्वर-वियोग की चढ़ाई' में 'यह पाती कौन रोग की पठावत दवाई है।' उन्होंने जानना चाहा--

> ऊधौ कहौ सूधौ सौ सनेस पहिलैं तौ यह
> प्यारे परदेस तै कबैं धौं पग पारिहैं।

परमात्मा में आत्मा को तो वे लीन कर लेंगी; लेकिन—

> जैहै बनि बिगरि न बारिधिता बारिधि की,
> बूँदता बिलैहै बूँद बिवस बिचारी की।

और फिर—

> एते बड़े बिस्व माहिं हेरैं हू न पैये जाहि,
> ताहि त्रिकुटी मैं नैन मूँदि लखिबौ कहौ।

यदि किसी भाँति साधना-पथ से उन्हें मोक्ष मिल भी गया तो वह उनके किसी काम का नहीं है। उन्हें तो विश्वास है कि—

> काहू तो जनम मैं मिलैंगी स्याम सुन्दर कौं,
> याहू आस प्रनायाम-साँस मैं उड़ावै कौन।

विरहाग्नि का भी उन्हें भय नहीं है—

जब ब्रजचन्द्र कौ चकोर चित चारु भयौ,
बिरह चिंगारिनि सौं फेरि डरिबो कहा।

विरह का अभिशाप उनके लिए वर-दान बन गया है। यहाँ तक कि 'जम-जातना' का भय भी जाता रहा—

ऊधौ जम-जातना की बात ना चलावौ नैंकु
अब सुख-दुख कौ बिबेक करिबौ कहा।
छिन जिन झेली कान्ह-बिरह बलाय तिन्हैं
नरक - निकाय की धरक धरिबौ कहा॥[1]

संसार में—

घातैं रहि जाइँगी न कान्ह की कृपा तैं इती,
ऊधौ कहिबे कौं बस बातैं रहि जाइँगी।

उन्होंने जान लिया कि—

रावरी सुधाई मैं भरी है कुटिलाई कूटि,
बात की मिठाई मैं लुनाई लाइ ल्याए हौ।

---

१. इस विचार-धारा में पारसीक विरह की स्पष्ट छाप है। इसी भावना के कुछ शेर देखिए—

यही सोजे दिल है तो महशर में जलकर।
जहन्नुम उगल देगा मुझको निगलकर॥

—अमीर मीनाई।

× × ×

वाइजा! सोजे जहन्नुम से डराता है किसे?
दाबे फिरते हैं बगल में दिल-सा आतिशखाना हम॥

—सौदा।

वे 'मोहन लला पर मन-मानिक वार चुकीं' थीं। कोई रूप-व्यवसायी तो थीं नहीं जो 'हिय में अनेक मनमोहन' बसातीं। जिसे वे प्रत्यक्ष देख चुकी हैं उसके लिए अनुमान का आश्रय वे क्यों लें—

हम परतच्छ मैं प्रमान अनुमानैं नाहिं,
तुम भ्रम भौंर मैं भले ही बहिबौ करौ।
लखि ब्रज-भूप-रूप अलख अरूप ब्रह्म,
हम न कहैंगी तुम लाख कहिबौ करौ॥

यदि अलख और अरूप ब्रह्म की सत्ता हो भी तो वह उनके किसी काम का नहीं—

कर बिनु कैसैं गाय दूहिहै हमारी वह,
पद बिनु कैसे नाचि थिरकि रिझाइहै।
कहै रतनाकर बदन बिनु कैसे चखि
माखन, बजाइ बेनु गोधन गवाइहै।
देखि सुनि कैसैं दृग स्रवनि बिना ही हाय,
भोरे ब्रज-बासिन की बिपति बराइहै।
रावरो अनूप कोऊ अलग अरूप ब्रह्म,
ऊधौ कहौ कौन धौं हमारैं काम आइहै॥

रही साधना की बात, तो 'जोगी सौं बियोग-भोग-भोगी' कम नहीं हैं। अन्तर इतना ही है कि—

वै तौ बस बसन रँगावैं, मन रँगत ये,
भसम रमावैं वे, ये आपु ही भसम हैं।

मुक्ति उनके लिए एक समस्या है—

ऊधौ मुक्ति-माल वृथा मढ़त हमारे गरैं,
कान्ह बिना तासौं कहौ काकौ मन मोहैंगी।

गोपियाँ 'कान्ह की कमेरी हैं' किसी 'ब्रह्म के बबा की चेरी' नहीं हैं। वे प्रेम के उस चरम उत्कर्ष विन्दु तक पहुँच चुकी हैं, जहाँ भुक्ति और मुक्ति दोनों मिलकर एक हो जाती हैं —

सरग न चाहैं अपबरग न चाहैं सुनौ,
भुक्ति मुक्ति दोऊ सौं बिरक्ति उर आनैं हम।
एक ब्रजचंद कृपा-मंद-मुसकनि हीं मैं
लोक परलोक कौ अनंद जिय जानैं हम॥

'सोवत लखात' ऊधव को, हो सकता है, भगवा वस्त्र सुन्दर लगे; किन्तु—

स्याम-रँग-राँचे साँचे हिय के हम ग्वारिनि कैं
जोग की भगौंहीं भेष देख रँचिहै नहीं।

उन्होंने ऊधव को साफ साफ बता दिया—

लौटि पौटि बात को बवण्डर बनावत क्यों
हिय तैं हमारे घनस्याम हटिहैं नहीं।

हम उनकी हैं और वे हमारे प्रीतम हैं—

वे तो हैं हमारे ही हमारे ही हमारे ही औ
हम उनहीं की उनहीं की उनहीं की हैं।

कन्हैया के मिलने की आशा हो तो वे साधना का पथ भी अपना सकती हैं, अन्यथा—

ब्रह्म मिलिबैं तैं कहा मिलिहै बताओ हमैं
ताकौ फल जब लौं मिलै ना नन्दलाला हू।

उन्हें विश्वास है कि ऊधो यदि उनकी 'अँखियानि तैं' कान्ह देख लेते तो ब्रह्म का इतना बखान न करते। उनके प्रेम का प्रवाह वह सिन्धु नहीं है, जिसे अगस्त ने सोख लिया था। वे जानना चाहती हैं कि—

वे तौ भए जोगी जाइ पाइ कूबरी कौ जोग,
आप कहैं उनके गुरू हैं किधौं चेला हैं।

बेचारे ऊधव इसका क्या उत्तर देते ? पर गोपियों को ज्ञात हो गया कि—

कूबरी की पीठि तैं उतार भार भारी तुम्हैं
भेज्यौ ताहि थापन हमारी छीन छाती पर।

ऊधव गोपियों को कुबरी के भेजे जान पड़ते हैं—

रसिक-सिरोमनि कौ नाम बदनाम करौ
मेरी जान ऊधौ कूर कूबरी पठाए हौ।

ऊधव उन्हें अक्रूर से भी कठोर लगते हैं—

लै गए अक्रूर क्रूर तन तैं छुड़ाइ हाय,
ऊधौ तुम मन तैं छुड़ावन पधारे हौ।

किन्तु उन्हें अपने कार्य में सफलता न मिल सकेगी, क्योंकि—

ज्यौं ज्यौं बसे जात दूरि दूरि प्रान-मूरि,
त्यौं त्यौं धँसे जात मन मुकुर हमारे मैं।

अन्त के सन्देश में तो करुणा जैसे साकार हो उठी है। 'नंद जसुदा औ गाय गोप गोपिका' तथा 'वृषभानु भौन' की बात श्याम से कहने को वे इसलिए मना कर देती हैं कि उनके नयनों में आँसू न छलक आवें। वियोग और लांच्छन का गरल वे इस शर्त पर पीने को तैयार हैं कि श्याम 'उदास मुख' न हों। उनका इतना ही सन्देश है—

नाम को बताइ औ जताइ ग्राम ऊधौ बस
श्याम सौं हमारी राम-राम कहि दीजियौ।

× × ×

भली हैं, बुरी हैं, सलज्ज, निरलज्जहू हैं
जो कहौ सो हैं, पै परिचारिका तिहारी हैं।

भावनाएँ सत् और असत् नहीं देखतीं। सत्य तो यह है कि भावनाओं में इनका अस्तित्व भी नहीं होता, ये तो उनके विकृत रूप हैं। प्रेम सत् और असत् से परे शुद्ध हृदय की अनुभूति है। ज्ञान और धर्म अपनी सीमाएँ प्रेम में खो देते हैं। ऊधो की विफलता का यही रहस्य है।

अन्त में ऊधो—

प्रेम-रस रुचिर बिराग-तूमड़ी मैं पूरि
ज्ञान-गूदड़ी मैं अनुराग सौं रतन लै।

ब्रज से बिदा हो गये। उनका ज्ञान 'बिरहानल की झार में छार' हो गया। अपनी 'अहं' भावना के नष्ट होते ही वे—

रथ तैं उतरि पथ पावन जहाँ ही तहाँ
विकल विसूरि धूरि लोटन लगत हैं।

श्याम से वे कहते हैं—

आँसुनि की धार औ उभार कौं उसाँसनि के
तार हिचकिनि के तनक टरि लेन देहु।
आतुर ह्वै और हू न कातर बनावौ नाथ
नैसुक निवारि पीर धीर धरि लेन देहु।
कहत अबै हैं कहि आवत जहाँ लौं सबै
नैंकु थिर कढ़त करेजौ करि लेन देहु॥

अपने पतन का उन्हें तनिक भी दुःख नहीं है। अपने पर उन्हें अब भी विश्वास है—

तब हम जानैं तुम्हैं धीरज-धुरीन जब
एक बार ऊधो बनि जाइ पुनि जाओ ना।

यदि श्याम की चेतावनी का उन्हें ध्यान न होता तो वे 'तजि ब्रज-गाँव इतै पाँव धरते नहीं।'

ऊधव अब पूर्ण मनुष्य बन चुके हैं—

गोपी-ताप-तरुन-तरनि-किरनावलि के,
ऊधव नितांत कांत-मनि बनि आए हैं।

प्रकृति

गंगा-लहरी और गंगावतरण के कवि ने गंगा का पौराणिक रूप ही देखा है—

दुख-द्रुम-झाड़ काटै धाड़ काटै दोषनि की,
पातक पहाड़ काट सब जग जानी है।

अन्त में जब कवि कहता है कि 'गंग तव धार मैं धर्यौ धौं कौन पानी है' तो पाठक के सामने ब्रह्मा के कमण्डल की कुछ बूँदें ही आती हैं, गंगा के किनारे की झाड़ियों को अपने में समा लेनेवाली मचलती लहरियाँ नहीं। क्या अच्छा होता कि कवि ने गंगा नदी का प्राकृतिक सौन्दर्य देख पाया होता! यमुनाष्टक की भी यही दशा हुई है—

झलकति अंग तैं उमगि अनुराग-प्रभा,
तातैं सुभ स्याम-अंग रंग ढरकत की।
मरकत मनि तैं मरीचि कढ़ै मानिक की,
मानिक तैं मनहु मरीचि मरकत की॥

\+ \+ \+

जमुना जवैया पेखि पातक पुकारि कहैं,
भैया, वह न्हात ही कन्हैया करि देति है।

विश्वामित्र प्रकृति का परम्परागत रूप—

लहलहात ह्वै हरित भरित फल-फूलनि तरुवर।
वापी कूप तड़ाग झील सरवर सरिता सर।
जीवन-घर सन्ताप-हर नर-ही-तल-सीतल-कर।

देखकर ही थक गये और उन्हें 'विश्राम' की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। प्रकृति की सुषमा की ओर उनका ध्यान ही न गया। हम इसे प्रकृति का आलम्बन-चित्र कह तो सकते हैं, किन्तु इसमें उस मनोहारिता का अभाव है जो प्राकृतिक चित्रों में होना चाहिए।

आलम्बन रूप में—

गंगा के भूमि पर आने का वर्णन प्रकृति के आलम्बन-चित्र का सुन्दरतम उदाहरण है—

कहुँ हिम ऊपर चलति कहूँ नीचे धँसि धावति।

× × ×

फाँदति फैलति फटति सटति सिमिटति सुढंग सों।
सृंगनि बिच-बिच बढ़ी गंग सरि भरि उमंग सौं॥

× × ×

कहुँ बिस्तर थल पाइ वारि-बिस्तार बढ़ावति।
पुनि कोउ घाटी बीच भीचि जल-बेग बढ़ावति।
ढुरकत ढोकनि खड़बड़ाइ धुनि-धूमि मचावति॥

व्रज के लता-कुंजों का सौन्दर्य देखिए—

चंपा-गुंज-लवंग मालती लता सुहाईं।
कुसुम कलित अति ललित तमालनि सौं लपटाईं॥

× × ×

मंजुल सघन निकुंज कहूँ सोभा सरसानी।
गुंजत मत्त मलिंद-पुंज जिन पै सुखदानी॥

वर्षा का सौन्दर्य इन पंक्तियों में देखिए। स्वरों के आरोह-अवरोह से ही जान पड़ता है, जैसे बादल उमड़-घुमड़कर बरस रहे हों—

चहुँ दिसि तैं घनघोरि घोरि नभ मण्डल छाये।
घूमत, घूमत, झुकत औनि अतिसय नियराये॥
दामिनि दमकि दिखाति, दुरति पुनि दौरति लहरैं।
छूटि छबीली छटा-छोर छिन छिन छिति छहरैं॥

संयोग के उद्दीपन रूप में

प्रकृति को उद्दीपन रूप में चित्रित करने में कवि को विशेष सफलता मिली है। संयोग के उद्दीपन का एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

दिव्य द्रुमन की पाँति लसति सब भाँति सुहाई।
ललित लता बहु लहलहाति जिनसौं लपटाई॥
स्याम बरनि मन-हरनि नदी कृस्ना अति निर्मल।
कलित-कंज-बहु-रंग वहति तहँ मंजु मधुर जल॥
सीतल सुखद समीर धीर परिमल बगरावत।
कूजत बिबिध विहंग मधुप गूँजत मन भावत॥

व्रज के लता-कुंजों में रास रचने के पहले कवि ने वातावरण का इतना मनोहर चित्र खींच दिया है कि पाठक कवि के मन की बात बिना बताये ही जान जाते हैं। इस प्राकृतिक सौन्दर्य को श्याम की रास-लीला के सौन्दर्य का पायन्दाज कहें तो अत्युक्ति न होगी।

वियोग के उद्दीपन रूप में

संयोग काल की प्रकृति का मनोरम रूप वियोग में विष बन जाता है। जो चाँदनी, मधुप और कोकिला संयोग-काल में हृदय की वीथियों में आनन्द की वर्षा कर जाती थीं, वही वियोग में—

छीर-सी चाँदनी मैं सजनी अलि-भीर हलाहल घोरन लागी।

× × ×

कोयल के कूकनि की तुरही रही है बाजि,
विरहिनि भाजि कहौं कौन की पनाह लै।
सीतल समीर पै सवार सरदार गंध,
मंद-मंद आवत मलिंद की सिपाह लै॥

× × ×

भौंर चहुँ ओर भ्रमैं एकौ पल नाहिं थम्हैं,
सीतल सुगंध मंद मारुत की लहरैं।

जिसे जीवन-पथ पर साथ देना था, वही जब रूठकर दूर जा बैठा, तब ये पाथेय लेकर क्या होंगे?

लोक-कल्याण

राधा-कृष्ण की लीला में डूबी रत्नाकर की लेखनी ने लोक-जीवन के मनोरम चित्र खींचकर लोक-कल्याण का भी आदर्श उपस्थित किया है। माँ गंगा के तीर का एक दृश्य देखिए—

ग्राम-वधूटी जुरति आनि तट गागरि लै-लै।
गावतिं परम पुनीत गीत धुनि लावतिं जै-जै॥

× × ×

गृह स्रम संचित स्वास्थ उमगि आनन पर दमकत।

ग्राम-बंधूटियों के हृदय में भी गंगा की पुनीत लहरों-सी ही आनन्द की धारा हिलोरें ले रही है।

दाम्पत्य जीवन का सुखमय चित्र इन पंक्तियों में देखिए—

दोउ दोउनि कौं निरखि हरषि आनँद रस चाखत।
दोउ-दोउनि की सुरुचि मूक भावनि सौं राखत॥
दोउ दोउनि की प्रभा पाइ इक-रँग हरियाने।
इक-मन इक-रुचि एक-प्रान इक-रस सरसाने॥

देश और काल की सीमाएँ दाम्पत्य जीवन के इस आनन्द के लिए धूमकेतु बन सकतीं हैं, किन्तु उसे समाप्त कर देना उनके बस की बात नहीं है। धर्म ने शैव्या को बिकने पर विवश किया; किन्तु उसकी शर्त है—'संभाषन पर-पुरुष संग उच्छिष्ट असन तजि करिहैं हम सब काज'। कितना सुख है इस दाम्पत्य जीवन के क्रोड़ में! परिस्थितियों ने शरीर बेच देने को विवश किया, किन्तु उसका आनन्द ज्यों का त्यों बना रहा।

रत्नाकर की समृद्धि-सम्पन्न राज्य की कल्पना अद्वितीय है—

सकल सुखी तिहिं राज माहिं नित रहत धर्म-रत।
निज-निज चारहु बरन चारु आचरन-आचरत॥
कहुँ कलेस कौ लेस देस में रह्यो न ताके।
घर-घर नित नव मंजुल मंगल मोद प्रजा के॥

किन्तु यह तभी सम्भव है, जब राजा और राज-कर्मचारी ऐसे हों—

गो-ब्राह्मन प्रतिपाल ईस-गुरु-भक्त अदूषित।
बल-बिक्रम-बुधि-रूप धाम सुभ-गुन-गन-भूषित॥
नीति पाल जिहिं सचिव बालकी खाल खिंचैया।
सेनप स्वामि-प्रसेद-पात - थल रक्त सिंचैया॥

क्या अच्छा होता कि हमारे कर्णधार इस आदर्श तक पहुँच पाते! हरिश्चन्द्र ने दास होने के नाते डंकिनी की भेंट अस्वीकृत कर दी, और यहाँ न्यायालयों में भी भेंट दिये बिना काम नहीं चलता!

भाषा

रत्नाकर जी ब्रज-भाषा के अन्तिम कवि थे। काशी में जन्म पाकर उन्होंने अयोध्या को अपनी कर्म-भूमि बनाया था। इतना होते हुए भी ब्रज-भाषा पर उनका पूरा अधिकार था। कारण यह था कि सूर और बिहारी के साहित्य के गम्भीर अध्ययन में उन्होंने सारा जीवन बिताया था; और ब्रज-भाषा की प्रकृति तथा स्वरूप का उन्होंने बहुत ही सूक्ष्म दृष्टि से निरीक्षण किया था। ब्रज-भाषा के व्याकरण की दृष्टि से इतनी शुद्ध और परिमार्जित भाषा अन्य किसी की नहीं दिखाई देती। उनकी भाषा सामान्यतया मधुर है, किन्तु 'सों' 'ज्यों' 'धौं' और 'कौं' की भर-मार कभी-कभी पाठकों को उबा देती है। रत्नाकर के काव्य में 'घनानन्द' और 'रसखान' की मधुरिमा के अभाव का कारण व्याकरण के बन्धन ही हैं।

वीर रस में भाषा का ओज देखते ही बनता है। कवि ने इसके लिए रेफ, कर्ण-कटु शब्द और संयुक्त वर्णों का प्रयोग भी खोज-खोजकर किया है—

ड—अचल उदंड बरिबंडनि के मण्डल मैं,
डंड लौं अखंडल के खंडत हली गई।
कुंडनि के रुण्ड मैं वितुण्डनि के सुंड लगैं,
कुंडनि के मुण्ड त्यौं वितुण्डनि के तुण्ड मैं॥
द—बद्दल समान मुगद्दल बिलाने हैं।
ल्ला—साहसी सिवा के बाँके हल्ला कौ घड़ल्ला देखि,
अल्ला अल्ला करत मुसल्ला भागे जात हैं।

त्ता—चपल चकत्ता की महत्ता अरु सत्ता चाँपि ,
कत्ता कढ़ें छत्ता के चकत्ता हहरत हैं ॥

रत्नाकर जी की भाषा वीर रस में जहाँ एक ओर भूषण की कला के समीप पहुँचती दिखाई देती है, वहीं दूसरी ओर श्रृंगार रस में देव के समकक्ष पहुँचती है। व्याकरण के नियमों की बहुत अधिक चिन्ता न कर यदि वे अनुभूतियों को ही प्रधानता देते, तो उनके काव्य में और भी अधिक रस आ जाता।

कला

रत्नाकर के काव्य-सिन्धु में भावना से अधिक कला की महत्ता है। उद्धव और गोपियों के कथोपकथन को सूरदास, नन्ददास, सत्यनारायण ने भी अपने काव्य में स्थान दिया है। सूरदास और नन्ददास जी के 'भ्रमर गीत' भावनात्मक करुणा से ओत-प्रोत हैं। सत्यनारायण जी के 'भँवर गीत' में देश की वर्तमान दशा के भी दर्शन होते हैं। रत्नाकर जी के 'उद्धव शतक' में यद्यपि सूर की करुण भावना का अभाव है, किन्तु उनका कला-पक्ष सूर के निकट पहुँचता-सा दिखाई देता है। गोपियों के भोले तर्क और करुण वातावरण में भी व्यंग्य और हास्य के पुट पाठक का मन मोह लेते हैं।

गोपी के एक रूप-वर्णन में कृष्ण-भक्ति शाखा के सभी प्रमुख कवियों के नाम श्लेषार्थ में बहुत सुन्दरता से आये हैं—

आवत निहारे हौं गुपाल एक बाल जाकी,
लाग्यो उपमा में कवि कोबिद समाज है।
तरुन दिनेस दिव्य अरुन अमोल पाय
छीन कटि केहरि औ गति गजराज है।

संभु कुच मुख पद्माकर दिमाक देव
ताप घनआनँद घनेरो कच साज है।
छबि की तरंग रतनाकर है अंग मुस-
कानि रस-खानि बनि आलम निवाज है॥

परम्परा-प्रिय होने पर भी आवश्यकतानुसार कवि ने उपमा और उत्प्रेक्षा को नई दिशा दी है। द्रौपदी के बढ़ते हुए चीर को पन्द्रहवाँ अनन्त कहना इसी प्रकार की नई कल्पना है—

चौदहै अनन्त जग जानत हुते पै यह
पंद्रहौं अनन्त चीर द्रुपद-सुता कौ है।

गंगावतरण में गंगाजी के क्रोध के भावों का प्रेम के भावों में परिणत हो जाना बहुत सुन्दरता से व्यक्त हुआ है—

भयौ कोप कौ लोप चोप औरै उमगाई।
चित चिकनाई चढ़ी कढ़ी सब रोष-रुखाई॥
छोभ छलक ह्वै गई प्रेम की पुलकि अंग मैं।
थहरनि के ढरि ढंग परे उछरति तरंग मैं॥
भयौ बेग उद्वेग पैंग छाती पर धरकी।
हरहरानि धुनि बिघटि सुरट उघटी हर-हर की॥
भयौ हुतौ भ्रू-भंग-भाव जो भव-निदरन कौ।
पलटि प्रभाव परयो हिय हेरि हरन कौ॥

पूर्वा

आँख के तारे पियारे श्याम जब
आँख के काँटे बने थे कंस के।
नाश की सब शक्तियाँ जर्जर हुईं
तिमिर भागा ज्योति में अवतंस के।

× × ×

छोड़कर ब्रज-वीथियों के प्यार को
और मुरली पीत पट अभिसार को।
द्वारका के प्राण थे घनश्याम अब
—और थीं जन-सेविकाएँ गोपियाँ।

× × ×

माँग युग की क्यों उपेक्षित हो भला ?
श्याम हों या राम हों, किसको गिला ?
धोवियों की माँग भी पूरी हुई
—थी बनी जनकात्मजा वन-वासिनी।

× × ×

'चौपदों' का ठाठ क्या निराला है।
'रस कलश' सुरभित सुरा का प्याला है॥
'प्रियप्रवास' हो कि हो 'बनवास' अब।
है नहीं 'हरिऔध' यह कसाला है॥

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

न्म—वैशाख कृष्ण ३ सं० १९२२ निधन—सं० २००४ (६ मार्च १९४७)

हरिऔध जी का जन्म आजमगढ़ जिले के निजामाबाद नामक गाँव में आ था। आपके पिता का नाम पं० भोलासिंह और माता का नाम श्रीमती क्मणी देवी था। आपके पूर्वज शुक्ल यजुर्वेदी सनाढ्य ब्राह्मण थे जो कालान्तर सिक्ख हो गये थे। मिडिल परीक्षा पास कर आपने काशी के क्वीन्स कालेज प्रवेश किया, किन्तु अस्वस्थता के कारण आपको विद्यालय छोड़ना पड़ा। पर ही आपने फारसी, संस्कृत और अँग्रेजी का अध्ययन किया। बाबा रसिंह के सम्पर्क में आकर आप कविता की ओर झुके। सत्रह वर्ष की स्था में सुश्री अनन्त कुमारी से आपका ब्याह हुआ। निजामाबाद के तह- ली स्कूल में कुछ वर्ष अध्यापन कार्य किया; फिर कानूनगो बने। कानून- से अवकाश प्राप्त कर आपने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अवैतनिक रूप ध्यापन कार्य किया।

रिऔध जी के जीवन का ध्येय अध्ययन और अध्यापन ही रहा। उनका सरल, विचार उदार और लक्ष्य महान् था। सरकारी नौकर होते हुए यता उनमें कूट-कूटकर भरी थी।

नाएँ—प्रियप्रवास, वैदेही-वनवास, चुभते चौपदे, चोखे चौपदे और ऽ।

काव्य के होने मात्र से किसी काव्य-ग्रंथ को महाकाव्य नहीं कहा जा सकता। हरिऔध जी के इन तथा-कथित महाकाव्यों में उस सार्वभौम सन्देश का अभाव है जो एक महाकाव्य में होना आवश्यक है।

प्रिय-प्रवास को बीसवीं सदी के अनुरूप बनाने का कवि ने बहुत प्रयत्न किया है। सत्याग्रह आन्दोलन और रामकृष्ण मिशन के सेवा-कार्य भी इसमें प्रच्छन्न रूप से मिलते हैं। कृष्ण के अलौकिक कार्य तर्क-संगत होने से गोवर्द्धन-धारण की घटना को उपमा के रूप में लिया गया है; किन्तु 'पकड़ना कुलिशोपम चंचु से खल बकासुर का बलबीर को' जैसी पंक्तियाँ यत्र-तत्र हमारे सम्मुख रहस्य बनकर आ जाती हैं। यदि बकासुर को असद् और कृष्ण को सद् वृत्तियों का प्रतीक मानें या बकासुर को राक्षस और कृष्ण को अवतार मानें तब तो संगति बैठ जाती है। किन्तु एक मनुष्य के बच्चे का मछली की भाँति बगले की चोंच में दबे रहना बुद्धि स्वीकार नहीं कर सकती।

'उत्तर रामचरित' की कथा-वस्तु पर 'वैदेही-वनवास' का निर्माण हुआ है। किन्तु यदि कवि अनुप्रास का मोह त्यागकर 'वैदेही-वनवास' का नाम 'वैदेही-स्थानान्तरण' रखता तो अधिक उपयुक्त होता। महाकाव्य में सर्वत्र कवि ने 'वनवास' के लिए 'स्थानान्तरण' शब्द का ही प्रयोग किया है; और महाकाव्य का कथानक भी 'स्थानान्तरण' की सुनिश्चित योजना-सा लगता है।

दुर्मुख चर से राम को ज्ञात हुआ कि रावण के यहाँ छः महीने बिताने के कारण वैदेही पर उनकी प्रजा उँगली उठाने लगी है। मन्त्रणागृह में लक्ष्मण, शत्रुघ्न और भरत से राम इस विषय में परामर्श कर सीताजी को शान्ति स्थापित होने तक स्थानान्तरित कर देने की सोचते हैं। वशिष्ठ जी भी इस 'राजनीति' का समर्थन करते हैं और 'पतित-पावनी सुर-सरिता के कूल पर महर्षि वाल्मीकि के पुनीत आश्रम को, जो सब प्रकार प्रशान्त और श्रेष्ठतर है और जहाँ एक विशद बालिका-विद्यालय भी है, मिथिलेश-सुता के वास योग्य' बताते हैं। सीता जी उस समय गर्भवती थीं, और गर्भवती स्त्रियों को आश्रम में रहना भी चाहिए; अतः इस प्रकार 'एक पन्थ दो काज' की कहावत चरि-

तार्थ हो गई। निश्चित समय पर सीता जी वाल्मीकि आश्रम में लक्ष्मण द्वारा पहुँचा दी गई। वशिष्ठ जी ने एक पत्र लिखकर पहले से ही वहाँ उनके रहने का प्रबन्ध करा दिया था। बीच-बीच में शत्रुघ्न आकर उन्हें देख भी जाते हैं। वन में ही लव और कुश का जन्म होता है। यज्ञ में राम उन्हें पुनः वापस बुला लेते हैं। यहीं सीता जी राम के चरण स्पर्श कर दिव्य ज्योति में परिणत हो जाती हैं।

उत्तर रामचरित की कथा-वस्तु को बीसवीं सदी के साँचे में ढालने का परिणाम काव्य की दृष्टि से अहितकर हुआ। 'वैदेही-वनवास' करुण रस-प्रधान काव्य होते हुए भी करुण रस से दूर चला गया है। हृदय की भावनाओं को तर्क की कसौटी पर कसने का दूसरा परिणाम हो ही क्या सकता है?

हरिऔध के काव्य में करुणा

यदि विरह विधाता ने सृजा विश्व में था,
तो स्मृति रचने में कौन सी चातुरी थी!

स्मृति रचने में विधि ने कोई चातुरी की हो या नहीं, इसे जान लेने से भी कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। जब विरह के साथ स्मृति का सृजन हो ही गया, तब उसका परिणाम हमें भोगना ही पड़ेगा।

विहग का विहगी के प्रति आकर्षण मानवीय आकर्षण के ही समान होता है; किन्तु स्मृति के अभाव में उनके सुख-दुःख सीमित रहते हैं। विहग जब पास रहता है, तब विहगी को सुख की अनुभूति होती है; और उसके दूर चले जाने पर सुख की अनुभूति तो समाप्त हो जाती है; किन्तु दुःख की अनुभूति नहीं होती। श्रेष्ठता के प्रमाणपत्र-स्वरूप मानव का करुणा से परिणय कर दिया गया है।

प्रिय-प्रवास—प्रिय-प्रवास करुण रस-प्रधान महाकाव्य है। दुःख की घटाओं ने ब्रज-चन्द्र को ब्रज-वासियों की आँख से ओझल कर दिया। तीन कोस की दूरी तीन युगों की दूरी बन गई। किन्तु विश्वास बना था कि कभी श्याम के दर्शन अवश्य होंगे। श्याम को बुलाने के लिए ऊधव से सन्देश भेजा गया, देवी-देवताओं की मन्नतें मानी गईं, किन्तु परिणाम कुछ न निकला। परिस्थितियों से विवश होकर श्याम को मथुरा से द्वारका जाना पड़ा; और इस प्रकार निराशा में और अधिक वृद्धि हुई। करुणा भरे वातावरण में महाकाव्य का अन्त होता है—

तो भी आई न वह घटिका औ न वे वार आये।
वैसी सच्ची सुखद ब्रज में वायु भी आ न डोली॥

अपनी परिस्थितियों से सन्तोष नहीं होता। मन को कितना ही समझाया जाय, वह मानता नहीं। राधा सोचती है—

होते मेरे अबल तन में पक्ष जो पक्षियों से।
तो यों ही मैं समुद उड़ती श्याम के पास जाती॥…
जो हो जाती पवन, गति पा वांछिता लोक प्यारी।
मैं छू आती परम प्रिय के मंजु पादाम्बुजों को॥

किन्तु न तो वे विहगी ही बन सकीं और न पवन ही। उन्हें तो नियति ने सरिता के तीर पर किसी निर्मोही की बंसी से निकाली हुई मछली के समान तड़प-तड़पकर जान देने के लिए बनाया था।

गोपियों की 'कुँवर वर से ब्याही जाने की वांछा थी' जो पूरी न हो सकी। गोपियों की करुणा में राधा की-सी पवित्रता का अभाव है—

सर्वांगों में लहर उठती यौवनाम्बोधि की है।
जो है धारा परम प्रबला औ महोछ्वास-शीला।
तोड़े देती प्रबल-तरि जो ज्ञान औ बुद्धि की है।
घातों से है दलित जिसके धैर्य्य का शैल होता॥

तीन कोस की दूरी के रहस्य में भी कुछ कम करुणा नहीं है—

कभी न होगी मथुरा-प्रवासिनी,
गरीबिनी गोकुल-ग्राम-गोपिका।
भला करे लेकर राज भोग क्या,
यथोचिता, श्यामरता, विमोहिता॥

अन्तिम पंक्ति के तीन शब्दों की करुणा पर ध्यान दीजिए। प्रिय-प्रवास के पन्द्रहवें सर्ग की छन्द-संख्या उन्यासी से सौ तक के छन्दों में इसी प्रकार के प्रयोग हैं।

प्रिय-प्रवास के 'पवन दूत' पर मेघ दूत का प्रभाव है, किन्तु जहाँ मेघ दूत की करुणा वैयक्तिक है, वहाँ पवन दूत की करुणा विश्व-प्रेम में पगी हुई है; इसी कारण पवन दूत मेघ दूत की करुणा तक नहीं पहुँच सका है। पवन दूत का शेष संवल विश्व-प्रेम है, किन्तु मेघ दूत निरीह है। मेघ दूत का यक्ष सरिता की कुन्तल लहरों में 'प्रिया' का भृकुटि-विलास पाकर भी सन्तुष्ट नहीं होता; पवन दूत की ब्रज-बाला मधुप में श्याम की आभा पाकर ही सन्तुष्ट हो जाती है। जहाँ कहीं कवि पवन दूत में मेघ दूत की करुणा ला सका है, वहाँ सफल रहा है—

पूरी होवें तुझसे न अन्य बातें हमारी।
जो तू मेरी विनय इतनी मान ले औ चली जा।
छू के प्यारे कमल पग को प्यार के साथ आ जा।
जी जाऊँगी मैं हृदय तल में तुझी को लगा के॥

हरिऔध जी की करुणा सर्वत्र भारतीय संस्कृति के अनुकूल ही है। कहीं-कहीं पारसीक संस्कृति का भी प्रभाव है—

अब नभ उगलेगा आग का एक गोला।
सकल ब्रज धरा को फूँक देगा जलाता॥[1]

१—इसी आशय के उर्दू के कुछ शेर देखिए—

वैदेही-वनवास—हम पहले कह आये हैं कि इस महाकाव्य में कथानक का मूल आधार बदल जाने के कारण, करुणा को अवकाश नहीं है। 'उत्तर रामचरित' और 'रामचन्द्रिका' की तुलना में करुणा का अभाव होते हुए भी इसकी कुछ पंक्तियों में पाठकों की आँखें गीली कर देने की क्षमता है।

राम के मुख से अपने स्थानान्तरण की बात सुनकर—

> जनक-नन्दिनी ने दृग में आते आँसू को रोक कहा।...
> बदन बिलोके बिना बावले युगल नयन बन जायेंगे।
> तार बाँध बहते आँसू का बार बार घबरायेंगे॥
> मुँह जोहते बीतते बासर रातें सेवा में कटतीं।
> हित वृत्तियाँ सजग रह पल-पल कभी न थीं पीछे हटतीं॥

आपत्तियाँ सीता को निराश न कर सकीं। करुण परिस्थितियाँ भी उन्हें जीवन-संघर्ष में नित्य प्रेरणा ही देती रहीं—

> आकुलताएँ बार बार आ मुझको बहुत सतायेंगी।
> किन्तु कर्म-पथ में धृति-धारण का सन्देश सुनायेंगी॥

'अपने सुख-पथ में अपने हाथों काँटे' बोनेवाले राम की परिस्थिति भी कुछ कम करुण नहीं है। लक्ष्मण से वे कहते हैं—

> तात विदित हो कैसे अन्तर्वेदना।
> काढ़ कलेजा क्यों मैं दिखलाऊँ तुम्हें।

> उड़ा के आह का शोला कभी बनाएँगे हम।
> शबे फिराक में खुरशीद आस्माँ के लिए॥
>
> —ज़ौक।

> बन्द हो जाती हैं सैयारों की आँखें खौफ से।
> फेंकता हूँ जब मैं दिल से आहे आतिशबार को॥
>
> —नासिख।

स्वयं बन गया जब मैं निर्मम जीव तो।
मर्म्म-स्थल का मर्म्म बताऊँ क्यों तुम्हें।

और जब वन-देवी ने उनसे पूछा—

क्यों वियोग-वारिधि आवर्तों में पड़ी।
जो सतीत्त्व की लोक-वन्दिता मूर्त्ति है।

तब अयोध्या का राजा यह भी न कह सका कि मेरी परिस्थिति एक दास से भी अधिक दयनीय है।

सीता जी के वियोग में अयोध्या के पत्ते-पत्ते रो रहे थे। उन्हें आश्रम में पहुँचाकर लौटनेवाले घोड़ों की दशा देखिए—

घुमा घुमा सिर रहे रिक्त रथ देखते।
थे निराश नयनों से आँसू ढालते॥
बार बार हिनहिना प्रगट करते व्यथा।
चौंक चौंककर पाँव कभी थे डालते॥

चुभते चौपदे और चोखे चौपदे—चुभते चौपदे और चोखे चौपदे में कवि का ध्यान भावों की अपेक्षा मुहावरों पर ही अधिक होने के कारण इनमें प्रिय-प्रवासवाली करुणा का अभाव है। देश की वर्तमान अवस्था के करुण चित्र चौपदों में सुन्दर बन पड़े हैं।

कवि अपने गरिमामय अतीत की याद कर आँसू बहाता है—

धूल उनकी है उड़ाई जा रही।
धूल में मिल धूल वे हैं फाँकते॥
सब जगत मुँह ताकता जिनका रहा।
आज वे हैं मुँह पराया ताकते॥

कवि ने आँसुओं से भींगा वर्त्तमान का करुण चित्र भी खींचा है—

वैदेही-वनवास—हम पहले कह आये हैं कि इस महाकाव्य में कथानक का मूल आधार बदल जाने के कारण, करुणा को अवकाश नहीं है। 'उत्तर रामचरित' और 'रामचन्द्रिका' की तुलना में करुणा का अभाव होते हुए भी इसकी कुछ पंक्तियों में पाठकों की आँखें गीली कर देने की क्षमता है।

राम के मुख से अपने स्थानान्तरण की बात सुनकर—

> जनक-नन्दिनी ने दृग में आते आँसू को रोक कहा।···
> बदन बिलोके बिना बावले युगल नयन बन जायेंगे।
> तार बाँध बहते आँसू का बार बार घबरायेंगे॥
> मुँह जोहते बीतते बासर रातें सेवा में कटतीं।
> हित वृत्तियाँ सजग रह पल-पल कभी न थीं पीछे हटतीं॥

आपत्तियाँ सीता को निराश न कर सकीं। करुण परिस्थितियाँ भी उन्हें जीवन-संघर्ष में नित्य प्रेरणा ही देती रहीं—

> आकुलताएँ बार बार आ मुझको बहुत सतायेंगी।
> किन्तु कर्म-पथ में धृति-धारण का सन्देश सुनायेंगी॥

'अपने सुख-पथ में अपने हाथों काँटे' बोनेवाले राम की परिस्थिति भी कुछ कम करुण नहीं है। लक्ष्मण से वे कहते हैं—

> तात विदित हो कैसे अन्तर्वेदना।
> काढ़ कलेजा क्यों मैं दिखलाऊँ तुम्हें।

> उड़ा के आह का शोला कभी बनाएँगे हम।
> शबे फिराक में खुरशीद आस्माँ के लिए॥
>
> —जौक।

> बन्द हो जाती हैं सैयारों की आँखें खौफ से।
> फेंकता हूँ जब मैं दिल से आहे आतिशबार को॥
>
> —नासिख।

स्वयं बन गया जब मैं निर्मम जीव तो।
मर्म्म-स्थल का मर्म्म बताऊँ क्यों तुम्हें।

और जब वन-देवी ने उनसे पूछा—

क्यों वियोग-वारिधि आवर्तों में पड़ी।
जो सतीत्त्व की लोक-वन्दिता मूर्त्ति है।

तब अयोध्या का राजा यह भी न कह सका कि मेरी परिस्थिति एक दास से भी अधिक दयनीय है।

सीता जी के वियोग में अयोध्या के पत्ते-पत्ते रो रहे थे। उन्हें आश्रम में पहुँचाकर लौटनेवाले घोड़ों की दशा देखिए—

घुमा घुमा सिर रहे रिक्त रथ देखते।
थे निराश नयनों से आँसू ढालते॥
बार बार हिनहिना प्रगट करते व्यथा।
चौंक चौंककर पाँव कभी थे डालते॥

चुभते चौपदे और चोखे चौपदे—चुभते चौपदे और चोखे चौपदे में कवि का ध्यान भावों की अपेक्षा मुहावरों पर ही अधिक होने के कारण इनमें प्रिय-प्रवासवाली करुणा का अभाव है। देश की वर्तमान अवस्था के करुण चित्र चौपदों में सुन्दर बन पड़े हैं।

कवि अपने गरिमामय अतीत की याद कर आँसू बहाता है—

धूल उनकी है उड़ाई जा रही।
धूल में मिल धूल वे हैं फाँकते॥
सब जगत मुँह ताकता जिनका रहा।
आज वे हैं मुँह पराया ताकते॥

कवि ने आँसुओं से भींगा वर्त्तमान का करुण चित्र भी खींचा है—

मारते हैं जमा पराई अब।
है हमें आँख मारना आता ॥
+ + +
पेट हम काट काट हैं जीते।

लेकिन मुसीबतों से घबराकर हाथ पर हाथ धरकर बैठ जाने से तो त्राण मिलेगा नहीं; अतः कवि आत्म-विश्वास और आत्म-निर्भरता पर जोर देता है—

वह कमाई कर कभी हारा नहीं।
जाँघ का अपनी सहारा है जिसे ॥

जीवन-सरिता में आशा का दीप लिये मानव बहता चला जाता है। सुख के पीछे जब दुःख आता है, तब दुःख के पीछे सुख निश्चय ही आवेगा। कवि इसी शाश्वत सत्य पर विश्वासकर 'चुभते चौपदे' की समाप्ति इन पंक्तियों से करता है—

भला क्यों न तो दिन फिरेंगे हमारे।
दमकते मिले जब कि डूबे सितारे ॥

हरिऔध जी के पात्र

कृष्ण

सरोज है दिव्य-सुगंध से भरा।
नृलोक में सौरभवान् स्वर्ण है।
सु-पुष्प से सज्जित पारिजात है।
मयंक है श्याम बिना कलंक का ॥

पुराणों में कृष्ण ब्रह्म के अवतार माने गये हैं। हिन्दी कविता में कृष्ण के भाव-प्रधान चित्रण हैं। आत्मा और परमात्मा के प्रेम को पत्नी और पति के प्रतीक रूप में सरलता से समझा जा सकता है; इसी कारण हिन्दी के प्राचीन कवियों ने कृष्ण में लीला-भाव की प्रधानता आरोपित की थी। भागवत के दशम स्कन्ध के कृष्ण को तो प्राचीन कवियों ने अपना आराध्य बनाया, किन्तु उनके लोक-नायक स्वरूप की सबने अवहेलना की। हरिऔध जी ने अपने 'प्रिय-प्रवास' में कृष्ण-काव्य को नई दिशा दी।

अपनी सर्व-प्रथम रचना 'श्रीकृष्ण शतक' में हरिऔध जी ने कृष्ण को सच्चिदानन्द के रूप में चित्रित किया है—

नमत निगुन, निरलेप, अज, निराकार, निरद्वन्द।
माया-रहित, विकार बिन, कृष्ण सच्चिदानन्द॥

धीरे धीरे कवि कृष्ण को धरती के समीप लाता गया। 'रुक्मिणी-परिणय' और 'प्रद्युम्न-विजय' नामक नाटकों में उन्हें परब्रह्म न बनाकर अवतारी स्वरूप दिया गया है। 'प्रेमाम्बु-वारिधि' और 'प्रेमाम्बु-प्रवाह' में भी कृष्ण का वही स्वरूप मिलता है।

'प्रिय-प्रवास' के प्रारम्भ में कृष्ण का अलौकिक स्वरूप बदली के चाँद की तरह कहीं कहीं निखर उठता है। किन्तु बारहवें सर्ग तक पहुँचते पहुँचते वे 'महात्मा' बन जाते हैं[1] और तेरहवें सर्ग में कवि उन्हें 'नर' कह देता है।[2]

सत्रहवें सर्ग तक पहुँचते पहुँचते कृष्ण एक डाक्टर नेता, राधिका जी सुयोग्य नर्स और गोपियाँ सेवा समिति की सदस्या बन जाती हैं! अलौकिक पुरुषों के लोक-नायक स्वरूप को हम बुरा नहीं कहते; किन्तु नवीनता की भी कोई सीमा होनी चाहिए। 'साकेत' में गुप्त जी ने भी तो राम का महा-

---

१—होता सुसिद्ध यह है वे हैं महात्मा।

२—अपूर्व आदर्श दिखा नरत्व का।

पुरुष के रूप में चित्रण किया है; किन्तु कहीं वे अपने मर्यादा-पुरुषोत्तम वाले रूप से दूर नहीं जाते।

गोपियाँ ऊधव से पूछती हैं—

कोई यों है कथन करता तीन ही कोस आना।
क्यों है मेरे कुँवर वर को कोटिशः कोस होता॥

ऊधव उत्तर देते हैं—

वे जी से हैं अवनि जन के प्राणियों के हितैषी।
प्राणों से है अधिक उनको विश्व का प्रेम प्यारा॥

पर गोपियाँ क्या विश्व में नहीं थीं?

कृष्ण के सम्बन्ध में उत्पन्न ऐसी जिज्ञासाओं का कवि के पास कोई उत्तर नहीं है।

लोक-नायक के रूप में कृष्ण का स्वरूप अद्वितीय है। लोक-कल्याण की भावना उनमें कूट-कूटकर इतनी भरी थी कि—

परम सिक्त हुआ वपु वस्त्र था।
गिर रहा सिर ऊपर वारि था।
लग रहा अति उग्र समीर था।
पर विराम न था ब्रज सिन्धु को॥

उनकी इसी सेवा-भावना से प्रभावित होकर ब्रज-वासियों ने उन्हें 'गिरिधर' की उपाधि दे डाली थी—

लख अपार प्रसार गिरीन्द्र में।
ब्रज - धराधिप के प्रिय - पुत्र का॥
सकल लोग लगे कहने उसे।
रख लिया उँगली पर श्याम ने॥

'गुण के निकेत' होने के साथ-ही-साथ कृष्ण में विनयशील वीरता भी

है। 'सर्वभूत के हित' करने की प्रतिज्ञा का पालन उन्होंने अपने प्रेम की बलि देकर की।

राम

उत्तर रामचरित में सीता-निष्कासन की घटना का वर्णन है। गोस्वामी जी ने राम के मर्यादा-पुरुषोत्तमवाले रूप को अपने काव्य का विषय बनाया था। युग बदल चुका था, अतः राज्याभिषेक का वर्णन कर वे मौन हो गये। हरिऔध जी ने निष्कासन के अपवाद का खण्डन करने का प्रयत्न किया है; किन्तु इसकी सफलता में काव्य की करुणा दब-सी गई है।

सीता के निष्कासन में राम के दो स्वरूप स्पष्ट हैं—पहला राजा राम और दूसरा पति राम। राजा राम ने जनता की माँग पर अपनी प्रिया को ठुकरा दिया; और पति राम ने पिता के आदर्श (तीन विवाह करना) की उपेक्षा कर आ-जीवन एक पत्नी-व्रत का पालन किया। राम का आदर्श दोनों रूपों में महान् है।

हरिऔध जी के राम में मर्यादा-पुरुषोत्तम राम की महत्ता का अभाव है। 'वैदेही-वनवास' के राम एक चतुर राजनीतिज्ञ हैं। उनकी चालें इतनी सफल हैं कि साँप भी मर जाता है और लाठी भी नहीं टूटती।

यशोदा

यशोदा का चरित्र एक भावुक माँ के रूप में बहुत सुन्दर बन पड़ा है। सूर की यशोदा और हरिऔध की यशोदा में कोई अन्तर नहीं है। कृष्ण की सुख-शान्ति के लिए वे सर्वदा चिन्तित रहती हैं।

जब दो-चार दिन का सम्भावित वियोग अनन्त काल के वियोग में परिणत हो जाता है, तब उनका मातृत्व रो पड़ता है—

> प्रिय पति वह मेरा प्राण प्यारा कहाँ है?
> दुख जलनिधि डूबी का सहारा कहाँ है?

लख मुख जिसका मैं आज लौं जी सकी हूँ ;
वह हृदय हमारा नेत्र तारा - कहाँ है ?

उस दुखिया माँ को कौन बताता कि 'उसकी विजित जरा का आधार' अब सृष्टि का आधार बन चुका है ? किन्तु उसे राजनीतिक चालों से क्या प्रयोजन ! वह प्रति दिन द्वार पर बैठी अपने लाडले की राह देखा करती है; यहाँ तक कि सूखे पत्तों के गिरने में भी उसे कृष्ण का पद-चाप सुनाई पड़ता है ।

समय व्रज-वासियों के कपोलों के आँसू न सुखा सका । ऊधव कृष्ण के प्रतिनिधि बनकर आये । माँ यशोदा भला उन्हें क्या सन्देश देतीं ! उन्हें तो यही चिन्ता है—

प्रातः पीता सुपय कजरी गाय का चाव से था ।
हा ! पाता है न अब उसको लाल प्यारा हमारा ।।
संकोची है अति सरल है धीर है लाल मेरा ।
लज्जा होती अमित उसको माँगने में सदा थी ।।
जैसे लेके सुरुचि सुत को अंक में मैं खिलाती ।
हा वैसे अब नित खिला कौन कान्ता सकेगी ।।

यशोदा की करुणा मर्म स्पर्श कर जाती है । अपनी वेदना का तादात्म्य विश्व-वेदना से कर लेना उनके बस की बात न थी । वे माँ थीं और जीवन भर माँ ही रहीं—

मैं रोती हूँ हृदय अपना कूटती हूँ सदा ही ।
हाँ ऐसे ही व्यथित अब क्यों देवकी को करूँगी ।।
प्यारे जीवें प्रमुदित रहें औ' बनें भी उन्हीं के ।
धाई नाते बदन दिखला जायँ बारेक और ।।

राधा

भारतीय काव्य-परम्परा ने राधा को प्रकृति या शक्ति का और गोपियों को आत्मा का प्रतीक माना है; किन्तु हरिऔध जी ने उनको मानवी का चरित्र प्रदान किया है। हरिऔध जी की राधिका हाड़-माँस की बनी नारी है जो कृष्ण (नृरत्न) को प्यार करती है। राधा का प्रेम प्रथम दर्शन का प्रेम (लव ऐट फर्स्ट साइट) नहीं है। 'पयोमुखी राधा व्रजभूप कुटुम्ब की परम कौतुक पुत्तलिका' थी। यौवन की देहरी पर पाँव रखते ही अनजान में श्याम के चरणों पर उसने अपना हृदय चढ़ा दिया था, किन्तु 'सविधि वरण की कामना' कामना ही रह गई।

कर्त्तव्य की गुहार सुनकर श्याम ने व्रज-वीथियों का प्यार ठुकराकर सेवा-व्रत लिया; और मथुरा की राजनीतिक उलझनों ने उन्हें राधा से दूर कर दिया; किन्तु राधा के हृदय से वे दूर न जा सके—

ये आँखें हैं जिधर फिरतीं चाहतीं श्याम को हैं।
कानों को भी मुरलि-रव की आज भी लौ लगी है।
कोई मेरे हृदय-तल को पैठ के जो बिलोके।
तो पावेगा लसित उसमें कान्ति प्यारी उन्हीं की॥

लोक-नायक कृष्ण को राधा ने अपना आदर्श बनाया और निश्चय किया—

आज्ञा भूलूँ न प्रियतम की विश्व के काम आऊँ।
मेरा कौमार व्रत भव में पूर्णता-प्राप्त होवे॥

राधा का वैयक्तिक प्रेम विश्व-प्रेम में परिणत हो गया। अब विश्व के अणु-अणु में उन्हें श्याम-ही-श्याम दिखाई पड़ने लगे—

मैं पाती हूँ मधुर ध्वनि में कूजने में खगों के।
मीठी तानें परम प्रिय की मोहिनी वंशिका की।

वे तो यही चाहती हैं—

प्यारे जीवें जग-हित करें गेह चाहे न आवें।

महाकाव्य के अन्त में कवि ने राधा को जो स्वरूप प्रदान किया है, वह बहुत भव्य है। उनका देवत्व छीनकर कवि ने उन्हें नारीत्व की उच्चतम पृष्ठ-भूमि पर प्रतिष्ठित किया है। उनका यह नारीत्व अपने में इतना पूर्ण है कि वह किसी देवत्व से कम नहीं लगता—

वे छाया थीं सुजन सिर की शासिका थीं खलों की।
कंगालों की परम निधि थीं औषधी पीड़ितों की॥
दीनों की थीं संगिनि जननी थीं अनाथाश्रितों की।
आराध्या थीं अवनि व्रज की प्रेमिका विश्व की थीं॥

सीता

राम के शौर्य और ऊर्मिला के आँसुओं की कहानी कहकर हमारे कवि धन्य हो गये हैं; किन्तु सीता के आँसू?

राम के जिस सिर पर घण्टे भर बाद मुकुट रखा जानेवाला था, कैकेयी ने उस पर बरगद का दूध लगवाया। ऊर्मिला के पत्नीत्व ने कर्त्तव्य से हार मानी और सीता के कर्त्तव्य ने पत्नीत्व से। ऊर्मिला का नारीत्व और पत्नीत्व उसका शेष संबल था; किन्तु सीता का नारीत्व और पत्नीत्व रावण के हाथों में पड़कर जीवन की अन्तिम साँसें ले रहा था। संघर्षों में सीता की विजय हुई; किन्तु वह तथा-कथित विजय पराजय से भी अधिक करुण थी। बार-बार अग्नि-परीक्षा लेने पर भी सीता की पवित्रता के विषय में संसार का सन्देह बना ही रहा।

सीता ने कहा—माँ पृथ्वी, मुझे स्थान दो। पृथ्वी फटी और उसमें से सोने का सिंहासन निकला। सीता जी सबके देखते ही देखते अन्तर्धान हो गईं। कौन जाने यह लोक-कथा भी अपने अन्दर कोई मार्मिक रहस्य

छिपाये हुए हो, जिसे समय ने अपने आँसुओं से धो-पोंछकर यह स्वरूप प्रदान कर दिया हो।

क्या अच्छ होता कि 'वैदेही-वनवास' का कवि वैदेही के आँसू देख सका होता!

'वैदेही-वनवास' के कथानक ने यद्यपि सीता जी से उनकी सम्पूर्ण करुणा ही छीन ली है, किन्तु उनका आँसू भरा चित्र बिगड़ते-बिगड़ते भी निखर उठा है। राम द्वारा अपने स्थानान्तरण की बात सुनकर वे कहती हैं—

भव हित-पथ में क्लेशित होता जो प्रभु-पद को पाऊँगी।
तो सारे कंटकित मार्ग में अपना हृदय बिछाऊँगी॥...
आप जिसे हित समझें उस हित से ही मेरा नाता है।
हैं जीवन सर्वस्व आप ही, मेरे आप विधाता हैं॥

इन पंक्तियों में एक भारतीय पत्नी का शुद्ध हृदय बोल रहा है।

राम और सीता के जीवन-मरण का सम्बन्ध शत्रुघ्न से भी छिपा न रह सका—

यदि रघुकुल-तिलक पुरुष हैं,
तो आप शक्ति हैं उनकी।
जो प्रभुवर त्रिभुवन पति हैं,
तो आप भक्ति हैं उनकी॥

सीता का वैयक्तिक प्रेम भी कालान्तर में राधा के प्रेम के समान विश्व-प्रेम में परिणत हो गया था—

पशु-पक्षी क्या कीटों का भी प्रति दिवस।
जनक-नन्दिनी-कर से होता था भला॥...
दो पुत्रों के प्रतिपालन का भार भी,
उन्हें बनाता था न लोक-हित से विमुख॥

प्रकृति

हरिऔध जी के काव्य में प्रकृति-चित्रण सदा वातावरण स्पष्ट करने के लिए हुआ है। 'प्रिय-प्रवास' के नवें और बारहवें तथा 'वैदेही-वनवास' के दूसरे, तीसरे और तेरहवें सर्गों के अतिरिक्त उनके दोनों महाकाव्यों के सर्गों का प्रारम्भ प्रकृति-वर्णन से ही हुआ है। उनका कोई सर्ग प्रकृति-वर्णन से अछूता नहीं बचा है। प्रिय-प्रवास के नवम सर्ग का आरम्भ तो प्रकृति-वर्णन से नहीं हुआ है, किन्तु बाइसवें छन्द के बाद पूरा सर्ग ही प्रकृति-वर्णन ने ले लिया है।

अधिकतर प्रकृति-चित्रों में नाम गिनाने की परम्परा का ही पालन हुआ है। कवि ने यह भी ध्यान नहीं रखा कि नामों की इस सूची के सब वृक्ष एक ही स्थान पर उग भी सकते हैं या नहीं। यथा—

> जम्बू अम्ब कदम्ब निम्ब फलसा जम्बीर औ आँवला।
> लीची दाड़िम नारिकेल इमली औ शिंशिपा इंगुदी।

नामों की ऐसी लम्बी सूची से पाठक प्रायः ऊब जाते हैं।

आलम्बन-चित्र

हरिऔध जी के महाकाव्यों के प्रकृति-चित्र आलम्बन-से जान पड़ते हैं; किन्तु वास्तव में उनका सम्बन्ध पात्रों की मनोदशा से है। वैदेही-वनवास के एकादश सर्ग के आरम्भिक अड़तीस छन्दों में बादलों का वर्णन है; किन्तु उन्तालीसवें छन्द में कवि लिखता है—

> मैं सारे गुण जलधर के,
> जीवन-धन में पाती हूँ॥

बादलों के इस आलम्बन-चित्र को भी हम उद्दीपन ही कहेंगे।

'चुभते चौपदे' और 'चोखे चौपदे' में उनके आलम्बन-चित्र यत्र-तत्र बिखरे हुए मिलते हैं—

गूँजकर, झुककर, झिझककर, झूमकर,
झौंरकर के भौंर हैं रस ले रहे।
फूल का खिलना, विहँसना, बिलसना,
दिल लुभाना देख हैं दिल दे रहे॥

'कला के लिए कला' के सिद्धान्त की कुछ रचनाओं में भी प्रकृति के आलम्बन-चित्र बहुत सुन्दर बन पड़े हैं—

कोयले के रंग पर भी मस्त रह
हैं निराला राग गातीं कोयलें।

उद्दीपन-चित्र

प्रकृति के उद्दीपन-चित्रों में कवि को विशेष सफलता मिली है। गोधूली और रात्रि के चित्र बहुत सुन्दर हुए हैं। करुण रस-प्रधान काव्य लिखने के कारण प्रकृति के रूप पर लुब्ध मानव के स्वाभाविक उल्लास का हरिऔध जी के काव्य में अभाव-सा है।

प्रभात का एक हुलास-पूर्ण चित्र देखिए—

लोक-रंजिनी उषा सुन्दरी रंजन-रत थी।
नभ-तल था अनुराग-रँगा, आभा-निर्गत थी॥...
दिन-मणि निकले, किरण ने नवल ज्योति जगाई।
मुक्त मालिका विटप तृणावलि तक ने पाई॥

प्रभात का ही एक करुणा भरा चित्र देखिए—

प्रवहमान प्रातः समीर था।
उसकी गति में थी मंथरता॥
रजनी-मणिमाला थी टूटी।
पर प्राची थी प्रभा-विरहिता॥

दिन-मणि निकले तेजोहत से।
रुक रुककर के किरणें फूटीं॥
छूट किसी अवरोधक कर से।
छिटक छिटक धरती पर टूटीं॥

संयोग-काल की प्रकृति का सारा आकर्षण और उन्माद वियोग की लू-लपटों में समाप्त हो जाता है। प्रकृति के सौन्दर्य की महत्ता तभी तक है, जब तक मन का सौन्दर्य उसके साथ समन्वित रहे। आँखों के बादल बरसकर प्रकृति के रूप पर कोहरा डाल देते हैं—

धारा वही, जल वही यमुना वही है।
है कुंज वैभव वही वन-भू वही है॥
हैं पुष्प पल्लव वही व्रज भी वही है।
ये हैं न वही घनश्याम बिना जनाते॥

उपदेशात्मिका प्रकृति

उपदेश देने के निमित्त भी कवि ने प्रकृति का चित्रांकन किया है—

कहीं भली है बनती कुवस्तु भी।
बता रही थी यह मंजु गुंजिका॥

× × ×

ज्योतिर्मयी - विकसिता - हसिता लता को।
लालित्य साथ लिपटी तरु को दिखा के।
थे भाखते पति-रता - अवलम्बिता का।
कैसा प्रमोदमय जीवन है दिखाता॥

प्रकृति से तादात्म्य

मानव का 'अहं' जब अपनी उच्चतम सीमा पर पहुँच जाता है, तब उसकी

वैयक्तिक सीमाएँ समाप्त हो जाती हैं और वह सम्पूर्ण सृष्टि में अपना ही प्रतिबिम्ब पाता है। प्रेम की पहली सीढ़ी पर गोपियों ने श्याम में अपना प्रतिबिम्ब देखा था। किन्तु जब विरह ने उनका प्रेम पुष्ट कर दिया, तब उनके लिए सारी सृष्टि श्याममय हो गई। मधुप से गोपियों का यह कथन हमारी बात की पुष्टि करता है—

तव तन पर जैसी पीत आभा लसी है।
प्रियतम कटि में सोहता वस्त्र वैसा।
गुन गुन करना औ गूँजना देख तेरा।
रस-मय-मुरली का नाद है याद आता॥

इस चरम विकास की अवस्था में मानव और प्रकृति का भेद मिट जाता है। हमारे सुख में प्रकृति हँसती है; और दुःख में जान पड़ता है कि—

यह सकल दिशाएँ आज रो-सी रही हैं।

इस अवस्था में प्रकृति को संगिनी बनाकर उससे अपने सुख-दुःख की बात भी कही जा सकती है; और आवश्यकता पड़ने उसके सुख से ईर्ष्या भी की जा सकती है। यमुना से गोपियाँ कहती हैं—

घन-तन रत मैं हूँ तू असेतांगिनी है।
तरलित उर तू है चैन मैं हूँ न पाती॥
अयि अलि बन जा तू शान्तिदाता हमारी।
अति प्रतापित मैं हूँ ताप तू है भगाती॥

समस्याएँ और उनके समाधान

लोक-कल्याण

व्रज-वीथियों में रास रचनेवाले राधा-कृष्ण को हरिऔध जी ने ही सर्व-

प्रथम मन्दिर की चहार-दीवारों से बाहर लाकर लोक-जीवन की पृष्ठ-भूमि पर खड़ा किया है। यद्यपि इस कार्य में कवि को उतनी सफलता न मिल पाई, जितनी अपेक्षित थी, किन्तु आनेवाली पीढ़ियों के लिए हरिऔध का निर्देशित मार्ग अनुकरणीय है। सम्भव है, भविष्य में हिन्दी साहित्य को इसी कथानक पर कोई सुन्दर महाकाव्य मिले।

लोक-जीवन के महत्तर उद्देश्य का सन्देश कृष्ण के मुख से सुनिए—

रह अचेष्टित जीवन त्याग से।
मरण है अति-चारु सचेष्ट हो॥···
विपद से वर-वीर-समान जो।
समर अर्थ समुद्यत हो सका॥
विजय भूति उसे सब काल ही।
वरण है करती सु-प्रसन्न हो॥

इन पंक्तियों में उस समय की विदेशी सत्ता को उलट देने का भी सन्देश छिपा है।

कृष्ण ने अपने को लोक-जीवन के साथ घुला-मिला लिया था—

वे दीन के सदन थे अधिकांश जाते।···
थे राज-पुत्र इस हेतु नहीं, सदा वे।
होते सुपूजित रहे शुभ कर्म द्वारा॥

राधा द्वारा निर्देशित नवधा भक्ति में भी हम लोक-सेवा की ही भावना पाते हैं। विश्व को एक कुटुम्ब मानकर सबके सुख-दुःख में योग देना ही सच्ची ईश्वरोपासना है। राधा को मानवी बनाकर भी कवि ने उनका आदर्श लोकोत्तर ही रखा है—

दीनों, हीनों, निबल विधवा आदि को मानती थीं।
पूजी जातीं ब्रज अवनि में देवियों सी अतः थीं॥···

विवाह

जिसे तरंगित करता रहता है सदा।
मंजु सम्मिलन शीतल मृदुगामी अनिल ।।
खिले मिले जिसमें सद्भावों के कमल।
है दम्पति का प्रेम सरोवर वह सलिल ।।

नर और नारी एक दूसरे के पूरक हैं। दो परस्पर-विरोधी अपूर्णताओं के सम्मिलन से पूर्णता की प्राप्ति होती है। पशु-पक्षियों ने भी अपनी अपूर्णताओं पर विजय पाने के लिए जोड़े बना लिये हैं। विवाह की समस्या के मूल में यही सत्य कार्य कर रहा है। दाम्पत्य-प्रेम वसुधा का स्वर्ग है। किन्तु ये सब तो आदर्श की बातें हैं। व्यवहार में प्रायः यही देखा जाता है कि 'भ्रम, प्रमाद अथवा सुख-लिप्सा आदि से' दाम्पत्य जीवन में गाँठ पड़ जाती है। विज्ञानवती के सामने भी यही समस्याएँ हैं। वह सीता जी से जानना चाहती है कि दम्पति के ये दुर्भाव किस प्रकार दूर किये जा सकते हैं।

सीताजी ने बताया कि 'नियति के पूत प्रबन्ध' से नर-नारी एक सूत्र में बँधते हैं। दाम्पत्य जीवन की सफलता पति और पत्नी दोनों पर आश्रित है। पत्नी के चंचल होने पर पति को गम्भीर बनना चाहिए; और पति के उग्र होने पर पत्नी को कोमल बनना चाहिए। इस प्रकार पारस्परिक सहयोग और सहनशीलता की पृष्ठ-भूमि पर दाम्पत्य जीवन का स्वर्णिम प्रासाद खड़ा किया जा सकता है। उलझनें सुलझाने से ही सुलझती हैं।

लंका के पतन का मूल कारण सीता जी वहाँ की गृह-कलह ही मानती हैं। लंका में भौतिकवाद अपने चरम विकास तक पहुँच चुका था। वहाँ की स्त्रियाँ पुरुषों को वश में करने की कामना से अपना अधिकतर समय बनाव-सिंगार में ही बिताती थीं; और बात-बात में पति से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया करती थीं।

विवाह-विच्छेद (तलाक) सीता जी के लिए एक अन-बूझ पहेली है।

उनका विश्वास है कि दो हृदय मिलकर एक हो जाने पर फिर कभी अलग नहीं हो सकते।

नर और नारी के समानाधिकारों का समर्थन करते हुए भी कवि ने सर्वत्र नर को ही प्रधानता दी है। नर अनेक नारियों से एक साथ विवाह कर सकता है; किन्तु नारी का समर्पण जीवन में केवल एक बार होता है। इसी लिए गोपियाँ कहती हैं—

> सोचो ऊधो यदि रह गईं बालिकाएँ कुमारी।
> कैसी होंगी व्रज-अवनि में प्राणियों को व्यथाएँ॥

कुछ अन्य समस्याएँ

समाज की नींव को खोखली करके उसे मिथ्या आडम्बर का ढाँचा मात्र बना डालनेवाली समस्याओं की तह तक भी कवि पहुँचा है। 'चोखे चौपदे' और 'चुभते चौपदे' में इन समस्याओं के प्रति कहीं वह विद्रोह कर बैठता है, और कहीं आँसुओं के वेग से उसका गला रुँध जाता है—

कन्या-विक्रय—छूटते हैं खेत बेटी बेच कर।

× × ×

> काठ के पुतले कहाँ हमसे मिलें।
> बेचते हैं आँख की पुतली हमीं॥

विधवा—गोद में ईसाइयत इसलाम की।
> बेटियाँ बहुएँ लिटाकर हम लुटे॥

× × ×

> जो हमीं रखें न उसका पाकपन।
> पाक तीरथ क्यों न तो नापाक हो॥

दाम्पत्य जीवन की सरसता का अभाव—

तब भला न मसान कैसे घर बने।
डायनें जब देवियाँ बनने लगीं॥

अछूत—वे अछूता हमें न छोड़ेंगे।
छूत से हैं जिन्हें नहीं छूते॥
हैं दबे पाँव के तले तो क्या।
क्या हमें काटते नहीं जूते॥

कुल-वधू—बे-परद हों क्यों न परदेवालियाँ।
पड़ गया परदा हमारी आँख पर॥[1]

भाषा-शैली

भाषा और शैली की दृष्टि से हरिऔध जी आ-जीवन प्रयोगवादी ही रहे। उनमें विलक्षण प्रतिभा थी; किन्तु अपनी प्रतिभा का सदुपयोग करने की अपेक्षा उन्होंने दुरुपयोग ही अधिक किया। यदि आप गोस्वामी जी के 'जानकी मंगल' और 'पार्वती मंगल' की भाषा-शैली से 'मानस' की परिमार्जित भाषा-शैली की तुलना करें तो हमारा कथन और अधिक स्पष्ट हो जायगा। हरिऔध जी यदि कोई एक ही शैली अपनाकर उसे परिमार्जित करते तो अधिक उपयुक्त होता।

'प्रिय-प्रवास' में संस्कृत शब्दों की बहुलता है—

१—इसी आशय का महाकवि अकबर का भी शेर है—

बे-परदः कल जो आईं नजर चन्द बीबियाँ।
'अकबर' जमीं में गैरते कौमी से गड़ गया॥
पूछा जो मैंने आपका परदा वो क्या हुआ।
कहने लगीं कि अक्ल पे मर्दों की पड़ गया॥

रूपोद्यान प्रफुल्ल-प्राय-कलिका राकेन्दु-बिम्बानना।

वर्णिक छन्द और संस्कृत-गर्भित पदावली के बीच हिन्दी के 'था', 'थे', 'थो', 'के', 'की', 'से' रेगिस्तान में उगे खजूर के पेड़ों जैसे जान पड़ते हैं। ग्राम्य शब्द (भाखते, बखानते, बोरते) सरल भाषा में तो सुन्दर लगते हैं, पर संस्कृत-गर्भित पदावली में इनकी सुन्दरता जाती रहती है। तत्सम शब्दों की अधिकता ने काव्य का माधुर्य समाप्त कर दिया है। 'प्रिय-प्रवास' तीन सौ बरस पहले केशव द्वारा की गई भूल की पुनरावृत्ति है।

छन्दों में विशेषणों का प्रयोग आवश्यकता से अधिक हुआ है। कहीं-कहीं तो पूरा छन्द विशेषणों में ही समाप्त हो गया है—

कल-मुरलि-निनादी लोभ नीयांग शोभी।
अलिकुल-मति-कोपी-कुंतली कान्ति-शाली॥
अपि पुलकित-अंके आज लौं क्यों न आया।
वह कलित कपोलों-कांत आलापवाला॥

वर्णिक छन्दों के अन्त में लघु यति-भंग-से जान पड़ते हैं—

वोहीं आये ब्रज अधिप भी सामने शोक-मग्न।
होते जाते विफल यदि हैं सर्व संयोग सूत्र॥

'चुभते चौपदे', 'चोखे चौपदे' और 'बोल-चाल' में कवि ने 'प्रिय-प्रवास' से भिन्न दिशा पकड़ी है। 'प्रिय-प्रवास' में यदि संस्कृत-गर्भित पदावली के कारण प्रसाद गुण का अभाव है, तो चौपदों में बोल-चाल के शब्दों के कारण—

ताड़नेवाले नहीं कब ताड़ते।
तोड़ना है दिल अगर तो तोड़ लो॥
मुँह चिढ़ा लो मोड़ लो मुँह बक बहँक।
फोड़ लो दिल के फफोले फोड़ लो॥

सीधी-सी बात कवि ने इतनी घुमा-फिराकर कही है कि पाठक असमंजस में पड़ जाता है।

हरिऔध जी यदि किसी अंग विशेष के मुहावरों को पद्य-बद्ध करने लगे हैं, तो उनकी पैनी दृष्टि से कोई मुहावरा छूटने नहीं पाया है। 'पेट के पचड़े' में पाप के इस पिटारे पेट के रखने और रखाने से लेकर उससे निपट पाने तक के सभी मुहावरे संगृहीत हैं।

मुहावरों में कहीं-कहीं एक ही अर्थ के शब्दों की बार-बार पुनरावृत्ति हुई है

चिढ़ गये तो चिढ़े रहें डर क्या।
चढ़ गई तो चढ़ी रहें भौंहें॥

कहीं-कहीं एक ही शब्द के दो अर्थों का प्रयोग सुन्दरता से हुआ है—

जब बचा रह गया न अपना-पन।
आँख कैसे न तब बचा जाते॥

× × • ×

जब बुरे कूँचे तुम्हें रुचते रहे।
सिर तभी तुम बे-तरह कूँचे गये॥

चौपदों में हमें शैली ही शैली मिलती है, भावों के आरोह-अवरोह पर कवि ने ध्यान नहीं दिया है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा। कवि के विचार-जगत में 'मामा' शब्द आया; और उसने सोचा कि यह 'मा' की दो बार पुनरावृत्ति से बना है। बस वह लेखनी लेकर 'मामा' पर टूट पड़ा। अब कलम का कमाल देखिये—

है अगर मानता नहीं मन तो।
कौन नाना व कौन मामा है॥
मन कहे और मान मन ले तो।
बाप बाप है और मा मा है॥

आचार्य केशवदास जी ने भी शब्दों के साथ खिलवाड़ किया है; किन्तु कविता पर उनका इतना अधिकार है कि अर्थ कविता से दूर नहीं जाते। मन माने या न माने, बाप बाप ही रहेगा, मा मा ही रहेगी, नाना नाना ही रहेगा और मामा मामा ही रहेगा। मन के मानने या न मानने से बाप बदल तो सकता नहीं। कवि कहना यह चाहता था कि मन के न मानने से इन सामाजिक सम्बन्धों के प्रति हमारी श्रद्धा नहीं रहती; किन्तु शाब्दिक चमत्कार के फेर में पड़कर वह कुछ का कुछ कह गया।

'वैदेही वनवास' की भाषा सरल और मधुर है। छन्द-प्रवाह देखने लायक है। यदि कवि अन्य काव्यों में भी यही शैली अपनाता तो अधिक उत्तम होता।

पूर्वा

चुनकर अतीत के आँचल से
हीरे जन-पथ में बिखराये,
सौरभ से पूर्ण दिगन्त हुआ
आनँद के पावन घन छाये!

नूतन स्वर में 'भारत-भारति' के
जागा आशा का विहान।
'जय भारत' की शुचि वीणा पर
गाया संस्कृति का अमर गान!

'नर नारायण का अंश' एक है
अखिल सृष्टि का कण-कण,
आधुनिक काव्य के तुलसिदास
भारती - सुवन मैथिलीशरण।

मैथिलीशरण गुप्त

जन्म—श्रावण शुक्ल द्वितीया सं० १९४३

श्री मैथिलीशरण गुप्त का जन्म बुन्देलखण्ड के चिरगाँव (जिला झाँसी) नामक गाँव में हुआ था। आपके पिता सेठ रामचरण गुप्त का हिन्दी साहित्य से विशेष अनुराग था। गुप्त जी की शिक्षा-दीक्षा घर पर ही सम्पन्न हुई। जीवन के प्रभात से ही आप काव्य-रचना में लग गये थे। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के सम्पर्क में आकर आपके काव्य-जीवन को नई दिशा मिली। खड़ी बोली की कविता की नींव के पत्थरों में आपका महत्त्वपूर्ण स्थान है। आपके अनुज श्री सियारामशरण गुप्त भी हिन्दी के प्रतिष्ठित कवि और उपन्यासकार हैं।

बुन्देलखण्ड (गुप्त जी की जन्म-भूमि) अयोध्या और व्रज के बीच में स्थित है, इसी कारण वहाँ राम की प्रत्यंचा और श्याम की बाँसुरी का समन्वय हो गया है। गुप्त जी के काव्य में भी हमें सर्वत्र यही समन्वय मिलता है। ऊर्मिला के आँसुओं की बाढ़ में रावण के घर में वन्दिनी सीता और अपने ही घर में वन्दिनी भारत माता की सुधि आप कभी न भूले। अपने राजनीतिक विचारों के कारण आप कुछ दिन ब्रिटिश नौकरशाही के मेहमान भी बन चुके हैं।

आज-कल आप केन्द्रीय राज्य परिषद् के मनोनीत सदस्य हैं। सहृदयता, सरलता और उदारता आपमें कूट-कूटकर भरी है। संक्षेप में, झाँसी की रानी के राज्य के आदर्श नागरिक में जितने गुण होने चाहिएँ, वे सभी आपमें पर्याप्त मात्रा में हैं।

रचनाएँ—जयद्रथ-वध, भारत-भारती, स्वदेश संगीत, हिन्दू, झंकार, साकेत, यशोधरा, द्वापर, सिद्धराज, कुणाल गीत, जय भारत आदि।

बुरा शेर कहने की गर कुछ सज़ा है।
अबस झूठ बकना अगर ना-रवा है॥
तो वह महकमा जिसका क़ाज़ी खुदा है।
मुकर्रर जहाँ नेको बद की जज़ा है॥
गुनहगार वाँ छूट जायेंगे सारे।
जहन्नुम को भर देंगे शायर हमारे॥

—हाली।

गुप्त जी उन कवियों में नहीं हैं जो वर्तमान से मुँह मोड़कर अतीत से आँख-मिचौनी खेलते रहें और सुनहले भविष्य के सपने देखते रहें। अतीत और भविष्य की ओर गुप्त जी की आँख गई, किन्तु वर्तमान वे कभी न भूले। सुनहले भविष्य के लिए अतीत के कोप से उन्होंने हीरक हार चुनकर वर्त्तमान के थाल में सजाये और भारती का आह्वान किया।

गुप्त जी ने जब लेखनी उठाई थी, तब विषय का ही नहीं, भाषा का भी प्रश्न था। व्रज-वीथियों से मन-मोहन की मुरली-माधुरी में भींगी व्रज भाषा ने उन्हें बुलाया; रीति-काल की 'सूधो पाँव न धरि परत सोभा ही के भार' की सुकुमारी ने भी अपनी ओर आकर्षित करना चाहा; शासन ने लोहे के सीखचों की ओर इंगित कर भय दिखाना चाहा; पर कवि ने तो अपना लक्ष्य निश्चित कर लिया था—

केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए।
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए॥

और उन्होंने अपनी लेखनी से कहा—

जग जायँ तेरी नोक से सोये हुए हैं भाव जो।

'भारत-भारती' के स्वरों में कवि के गान फूट निकले। गौरवमय अतीत का गायक यह भी लिखना न भूला—

छुरे काटते हैं जो नार।
होते हैं बहुधा सविकार॥

राष्ट्र कवि

राष्ट्र का गांधी जी ने जो अर्थ (हिन्दू-मुसलिम एकता) लगाया था, उस अर्थ में गुप्त जी को राष्ट्रीय कवि नहीं कहा जा सकता। गुप्त जी वस्तुतः हिन्दू संस्कृति और हिन्दू समाज के कवि हैं। यद्यपि यथा-स्थान मुसलमानों से सद्भाव प्रकट करने की कवि ने पूरी चेष्टा की है—

हिन्दू हो या मुसलमान हो,
नीच रहेगा फिर भी नीच।
मनुष्यत्व सबके ऊपर है,
मान्य मही मण्डल के बीच॥

और उसकी कामना है—

हिन्दू मुसलमान दोनों अब,
छोड़ें यह विग्रह की नीति।

किन्तु जान पड़ता है, जैसे कवि अधिक दिन अपने को भुलावे में न रख सका।

सुनते हैं, मुरलीधर की मूर्त्ति देखकर राम-भक्त तुलसी ने कहा था—

का बरनौं छबि आज की, भले बिराज्यो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै, धनुष बाण ल्यौ हाथ॥

गुप्त जी की भी मुसलमान धर्म में आस्था वहीं तक हैं, जहाँ तक वह भारतीय उपनिषदों और शंकर के अद्वैत दर्शन से मेल खाता है। काबा और कर्बला की निम्न पंक्तियाँ देखिए—

यह सारा संसार है उस प्रभु का परिवार।
सबसे रखना चाहिए प्रेम-पूर्ण व्यवहार॥
यही ईश्वरोपासना, यही धर्म का मर्म।
एक दूसरे के लिए, करें यहाँ हम कर्म॥
मनुज मात्र के अर्थ जो करते हैं उद्योग।
सच्चे जन भगवान के हैं बस वे ही लोग॥

मुहम्मद साहब के विचार (आवेदन)

× × ×

विपक्षियों के भी भावों का
रखना होगा हमको ध्यान।

(औदार्य)

सच बताइए, ये सिद्धान्त आपको किस धर्म के लगते हैं ?

नबी की सफीया नाम की आठवीं पत्नी ने जब उनसे मर्म की यह कथा कही कि 'देव, यह दासी तुम्हारी है यहूदी धर्म की' तो क्षण भर मौन रह कर वे बोले—

धर्म हैं सो धर्म हैं, जो पंथ हैं सो पंथ हैं।
एक ने सबके लिए भेजे यहाँ निज ग्रंथ हैं॥
बस उसी के मंत्र से चलते हमारे यंत्र हैं।
स्वमत के सम्बन्ध में हम सब समान स्वतंत्र हैं॥

'अपना धर्म पालने की सबको पूरी स्वतंत्रता है' जहाँ इस्लाम ने इस सिद्धान्त का उल्लंघन किया, वहाँ उससे गुप्त जी की सहानुभूति नहीं रही। 'विसर्जन' में मूर जनों की महिषी कहिना के शब्दों में बर्बर इस्लाम धर्म की दशा देखिए—

जीने देकर नहीं जियेंगे, मार मारेंगे वे दुर्दान्त।...
धर्माधीन राज्य का उलटा, राज्याधीन हो गया धर्म॥...

निज इमाम के शव की भी क्या दुर्गति न की इन्होंने हाय !...
उन अनाथ अबलाओं पर भी, किया इन्होंने कितना क्रौर्य !...
आप मदीने की मसजिद में, अपने गुरु की मस्तक छाप !
मिटा चुके ये बाजि बाँधकर, अब भी गूँज रही है टाप !...
वहाँ अर्थ में ही अनथ है, जहाँ लुटेरों का प्राबल्य !

मर्म की एक बात और कह दूँ। 'यशोधरा' और 'कुणाल' के मुक्तक गीतों में भी कथा-प्रवाह बहता चलता है ; पर 'काबा' और 'कर्बला' में उसकी धारा अवरुद्ध-सी है। 'काबा' में कवि बार-बार विषय और छन्द बदलता रहता है। जान पड़ता है, जैसे वह इसे किसी तरह पूरा कर डालना चाहता है। ऊर्मिला और यशोधरा के आँसुओं में बह जानेवाले महाकवि ने अड़तिस पृष्ठों में किसी प्रकार 'कर्बला' पूरा कर दिया है। 'जय भारत' और 'साकेत' के साथ 'काबा और कर्बला' भी पढ़ जाइए; और अन्त में 'अर्जन और विसर्जन' पढ़ लीजिए। फिर सब बातें स्पष्ट हो जायँगी।

हिन्दू

'हिन्दू' कवि के उद्बोधन-गीतों का सुन्दर संग्रह है। 'हिन्दू' के कवि ने अतीत के खँडहर पर आँसू बहाकर ही सन्तोष नहीं किया। अतीत को उसने प्रेरणा के रूप में ग्रहण किया है—

प्राप्त करो वह पानी आर्य, कि हो पितामह तर्पण कार्य।
चढ़कर आया था यूनान, लौट गया कर कन्यादान।
वही उर्वरा धरा उदार, वही सिन्धु वह रत्नागार।
वही हिमालय विन्ध्य विशाल, सुख दुख के साथी चिरकाल।
छोड़ परस्पर वैर विवाद, करो आर्य गण अपनी याद।

कवि को अपने अतीत पर गर्व है—

कहाँ सिकन्दर सा सरताज, नैपोलियन कहाँ है आज?
किन्तु बुद्ध के राज्य महान्, अब भी स्याम चीन जापान॥

किन्तु अतीत के ये गौरवमय चित्र केवल वर्त्तमान की प्रेरणा के लिए हैं। कवि वर्त्तमान को कहीं भूल नहीं सका। सामाजिक कुरीतियों पर उसने खुलकर प्रहार किये हैं। रूढ़िगत परम्पराओं और सामाजिक संकीर्णताओं की दासता की श्रृंखला में जकड़े हुए समाज के मर्म पर उसने आघात किये हैं।

चौका करे जला दे आग, अद्हन धरे चला दे साग।
गूँधे, बेले घीवर वर्य, सेंक न सके किन्तु आश्चर्य॥

हिन्दू विधवा का एक चित्र देखिए—

हिन्दू विधवा की शुचि मूर्त्ति, पवित्रता की सकरुण मूर्त्ति।
किसपर है इसका दायित्व, यही तुम्हारा है न्यायित्व।
कि तुम करो ब्याहों पर ब्याह, पर विधवाएँ भरें न आह।

भारत-भारती

'भारत-भारती' का प्रतिपाद्य विषय है—

हम कौन थे, क्या हो गये हैं, और क्या होंगे अभी।
आओ विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी॥

'भारत-भारती' अपने समय की राष्ट्रीय कविताओं में सर्वश्रेष्ठ है। एक समय था, जब 'भारत-भारती' देश के नौजवानों की कण्ठहार बनी थी; और एक वह समय भी आया, जब कवि को ब्रिटिश सरकार ने कृष्ण के जन्म-स्थान में कुणाल-गीत लिखने भेजा था।

अतीत और वर्त्तमान के चित्र कवि से जितने सुन्दर बन पड़े हैं, भविष्य

के चित्र उस अनुपात में सुन्दर नहीं हो पाये हैं। किन्तु इसके लिए कवि को दोष नहीं दिया जा सकता। उस समय के जन-आन्दोलन का ध्येय 'औपनिवेशिक स्वराज्य' मात्र था।

अतीत के चित्र जितने गरिमामय हैं, वर्त्तमान के उतने ही करुण। कृषक का चित्र देखिए—

बरसा रहा है रवि अनल भूतल तवा सा जल रहा।
है चल रहा सन-सन पवन तन से पसीना ढल रहा॥

गौरवपूर्ण अतीत का ध्यान दिलाकर कवि देश को जगाता है—

हत-भाग्य हिन्दू जाति तेरा पूर्व गौरव है कहाँ?
वह शील, शुद्धाचार, वैभव, देख अब क्या है यहाँ?
बीती अनेक शताब्दियाँ पर हाय तू जागी नहीं।
यह कुम्भकर्णी नींद तुमने आज भी त्यागी नहीं।
देखें कहीं पूर्वज हमारे स्वर्ग से आकर हमें।
आँसू बहाएँ शोक के इस वेष में पाकर हमें।

नारी

माँ की ममता और बहन के स्नेह पर जब वासना की हलकी छाया पड़ती है, तब वह पत्नी का प्यार बन जाती है। माँ, बहन और प्रेमिका नारी के तीन रूप हैं; और जब तीनों मिलकर एक हो जाते हैं, तब बनती है पत्नी।

प्रेमिका

माँ, बहन और पत्नी का चित्रण गुप्त जी ने बहुत सुन्दर किया है, पर न जाने क्यों प्रेयसी से उन्हें प्रारम्भ से ही चिढ़-सी रही है। अकेली हिडिम्बा ही उनका स्नेह पा सकी है। पंचवटी की शूर्पणखा के दर्शन कीजिए—

थी अत्यन्त अतृप्त वासना, दीर्घ दृगों में झलक रही।
कमलों की मकरन्द मधुरिमा, मानों छवि से छलक रही॥
कटि के नीचे चिकुर-जाल में, उलझ रहा था बायाँ हाथ।
खेल रहा हो ज्यों लहरों में, लोल कमल भौंरों के साथ॥

यह तो हुआ उसका रूप; किन्तु उसका चरित्र-चित्रण मनोवैज्ञानिक ढंग से नहीं किया गया है। एक भले घर की अविवाहित युवती की तो बात ही क्या, कोई वेश्या भी इस प्रकार निर्लज्जता से सम्भाषण नहीं कर सकती—

लेकर इतना रूप कहो तुम, दीख पड़े क्यों मुझे छली?
चले प्रभात वात फिर भी क्या, खिले न कोमल-कमल कली?
रात बीतने पर है अब तो, मीठे बोल बोल दो तुम।
प्रेमातिथि है खड़ा द्वार पर, हृदय-कपाट खोल दो तुम॥

नारीत्व से च्युत होकर प्रेमिका गुप्त जी की सहानुभूति खो देती है। शूर्पणखा की प्रेम-याचना पर लक्ष्मण का यह कथन स्थिति स्पष्ट कर देता है—

नारी के जिस भव्य भाव का साभिमान भाषी हूँ मैं।
उसे नरों में भी पाने का उत्सुक अभिलाषी हूँ मैं।

× × ×

हा नारी! किस भ्रम में है तू, प्रेम नहीं यह तो है मोह;
आत्मा का विश्वास नहीं यह, तेरे मन का है विद्रोह॥
विष से भरी वासना है यह, सुधापूर्ण यह प्रीति नहीं।
रीति नहीं, अनरीति और यह, अति अनीति है, नीति नहीं॥

बहन

गुप्त जी ने 'साकेत' में राम की बहन शान्ता का भी उल्लेख किया है।

विश्वामित्र के साथ जब राम और लक्ष्मण यज्ञ-रक्षा के हेतु जाते हैं, तब वह उन्हें टीका करने आती है—

प्रभु ने चलते हुए कहा, अब शान्ते भय सोच क्या रहा।
भगिनी जय-मूर्त्ति सी झुकी, यह राखी जब बाँध तू चुकी॥

बहन का यह चित्र उनके अनुरूप है। दूसरी बार ऊर्मिला ने विनोद में उसे याद किया है; किन्तु उस विनोद में भी बहन का नारीत्व निखर उठा है—

भूलते हो नाथ! फूल फूलते ये कैसे, यदि,
ननद न देतीं प्रीति पद-जल-जात की।

माँ

कौशल्या

कौशल्या का चरित्र पत्नी और माँ दोनों रूपों में सुन्दर है; पर पत्नी से अधिक वे माँ ही हैं। पति का स्नेह उन्हें मिल न पाया। और जब कैकेयी ने राम को भी उनसे छीनना चाहा, तब उनका मातृत्व उमड़ पड़ा। राजमहिषी साधारण माँ की भाँति रो पड़ी—

मुझे राम की भीख मिले...।
मेरा राम न वन जावे, यहीं कहीं रहने पावे॥

लक्ष्मण-शक्ति का समाचार पवन-सुत से सुनकर जब शत्रुघ्न लंका पर चढ़ाई करने को उद्यत होते हैं, तब उनका मातृत्व बाँध तोड़ देता है—

बेटा बेटा नहीं समझती हूँ यह सब मैं।
बहुत सह चुकी और नहीं सह सकती अब मैं।

हाय गये सो गये, रह गये सो रह जावें।
जाने दूँगी तुम्हें न वे आवें तब आवें॥
देखूँ तुमको कौन छीनने मुझसे आता।
पकड़ पुत्र को किधर गई कौशल्या-माता॥

सुमित्रा

सुमित्रा का चरित्र आदर्श सपत्नी का चरित्र है। कर्त्तव्य की पुकार पर उसने अपने मातृत्व की बलि चढ़ा दी।

कैकेयी

कैकेयी आदर्श माता है। उसका मातृत्व इतना प्रबल है कि वह उस पर अपना पत्नीत्व निछावर कर देती है। भरत के इस व्यंग्य में भी सत्य है—

धन्य तेरा क्षुधित पुत्र-स्नेह। खा गया जो भूनकर पति-देह॥

राम को वह पुत्रवत् मानती है, किन्तु जब मन्थरा यह कहकर—

भरत से सुत पर सन्देह। बुलाया तक न उसे जो गेह॥

उसके मातृत्व को जगाती है, तब वह कहती है—

करूँगी मैं इसका प्रतिकार।...

और उसने प्रतिकार किया भी। किन्तु भरत से जब उसे उपेक्षा ही मिलती है, तब वह अवाक् हो जाती है। दुनियाँ की उसे चिन्ता नहीं, नरक का उसे डर नहीं; किन्तु भरत की उपेक्षा उसे असह्य है—

अपराधिनि हूँ मैं तात तुम्हारी मैया।...
कुछ मूल्य नहीं वात्सल्य मात्र क्या मेरा।...
राज्य कर, उठ वत्स मेरे बाल,
मैं नरक भोगूँ भले चिर काल।

उसने भला-बुरा जो कुछ किया, मातृत्व की भावना से प्रेरित होकर किया। गुप्त जी ने 'जयद्रथ-वध' में स्वयं कहा है—

अधिकार खोकर बैठ रहना यह महा दुष्कर्म है।
न्यायार्थ अपने बन्धु को भी दण्ड देना धर्म है॥

कैकेयी ने तो केवल अपने अधिकार माँगे थे। कौशल्या और राम के ये कथन उसका चरित्र बहुत ऊपर उठा देते हैं—

पुत्र-स्नेह धन्य उनका। हठ है हृदय-जन्य उनका॥
सौ बार धन्य यह एक लाल की माई।

कुन्ती

कर्ण के प्रति कुन्ती का मातृत्व बहुत ही करुण है। कुन्ती के ही शब्दों में-

मुख्य दंडदाता है जन का मन ही उसकी भूलों का।
कंटकमय कर देता है वह उसका आसन फूलों का॥
शस्त्र-परीक्षा के दिन ज्यों ही सूत-पुत्र तू कलित हुआ।
एक साथ ही मेरा मानस व्यथित भाव से मलित हुआ॥
मैं चिल्लाने चली 'नहीं, यह मेरा सुत है, मेरा ही।
किन्तु डूब-सी गई उसी क्षण, दीखा मुझे अँधेरा ही॥

आँचल पसारकर वह कर्ण से अपने मातृत्व की भीख माँगती है। अपनी कोख से जन्म लेनेवाले मात्र की ही उसे चिन्ता नहीं है; वह सम्पूर्ण देश की माताओं की कोख और बहुओं का सुहाग चाहती है—

कुल ही नहीं देश भी इसमें हो जावेगा सारा नष्ट।
वीर-हीन होकर यह वसुधा होगी अपने पद से भ्रष्ट॥

किन्तु मानी कर्ण तो अपना जीवन दुर्योधन के अर्थ पहले ही अर्पित क

चुका था; अतः उसने स्पष्ट कह दिया कि प्रेम दोष-गुण नहीं देखता। कुन्ती से वह इतना ही कह सका—

ध्रुव वह, धर्मराज विजयी हो, हठी पुत्र क्या और कहे?
पुत्र पाँच के पाँच तुम्हारे, अर्जुन किंवा कर्ण रहे।

कुन्ती कर्ण से निराश होकर लौट आती है। उसका मातृत्व देखिए—

दोनों ओर मुझे रोना ही, रुके किन्तु कातर वाणी।
मरने में ही जीनेवाले जनती हैं हम क्षत्राणी॥

गान्धारी

गान्धारी के चरित्र पर कवि ने अधिक जोर नहीं दिया है। पर धर्म-परायणा माँ और पत्नी के रूप में उसका चित्रण सुन्दर बन पड़ा है। द्यूत-क्रीड़ा के समय दासी का हाथ धरे वह सभा में आई, जहाँ उसके पुत्रों ने कृष्णा की लाज ले लेने की ठान ली थी। अन्धे पति की सफल अन्धता पर व्यंग्य कर उसने पूछा—

सुनी नहीं क्या, आ घर में घुस अभी शिवा जो है रोई?
भाई से पितृकुल पुत्रों से पतिकुल मेरा नष्ट हुआ।...
हाय लोक की लज्जा भी अब नहीं रह गई लक्षित क्या?
आज बहू का तो कल मेरा कटि-पट नहीं अरक्षित क्या?

सुयोधन को बार-बार उसने समझाया—सुत-सम्पदा के लोभ से तू मत बुला यह आपदा। पर भवितव्यता होकर ही रही।

पत्नी

मेरी यही महा मति है। पति ही पत्नी की गति है॥

नारी का पत्नी-रूप गुप्त जी को विशेष प्रिय है। उनके काव्य की

उसने भला-बुरा जो कुछ किया, मातृत्व की भावना से प्रेरित होकर किया। गुप्त जी ने 'जयद्रथ-वध' में स्वयं कहा है—

अधिकार खोकर बैठ रहना यह महा दुष्कर्म है।
न्यायार्थ अपने बन्धु को भी दण्ड देना धर्म है॥

कैकेयी ने तो केवल अपने अधिकार माँगे थे। कौशल्या और राम के ये कथन उसका चरित्र बहुत ऊपर उठा देते हैं—

पुत्र-स्नेह धन्य उनका। हठ है हृदय-जन्य उनका॥
सौ बार धन्य यह एक लाल की माई।

कुन्ती

कर्ण के प्रति कुन्ती का मातृत्व बहुत ही करुण है। कुन्ती के ही शब्दों में—

मुख्य दंडदाता है जन का मन ही उसकी भूलों का।
कंटकमय कर देता है वह उसका आसन फूलों का॥
शस्त्र-परीक्षा के दिन ज्यों ही सूत-पुत्र तू कलित हुआ।
एक साथ ही मेरा मानस व्यथित भाव से मलित हुआ॥
मैं चिल्लाने चली 'नहीं, यह मेरा सुत है, मेरा ही।
किन्तु डूब-सी गई उसी क्षण, दीखा मुझे अँधेरा ही॥

आँचल पसारकर वह कर्ण से अपने मातृत्व की भीख माँगती है। अपनी कोख से जन्म लेनेवाले मात्र की ही उसे चिन्ता नहीं है; वह सम्पूर्ण देश की माताओं की कोख और बहुओं का सुहाग चाहती है—

कुल ही नहीं देश भी इसमें हो जावेगा सारा नष्ट।
वीर-हीन होकर यह वसुधा होगी अपने पद से भ्रष्ट॥

किन्तु मानी कर्ण तो अपना जीवन दुर्योधन के अर्थ पहले ही अर्पित कर

चुका था; अतः उसने स्पष्ट कह दिया कि प्रेम दोष-गुण नहीं देखता। कुन्ती से वह इतना ही कह सका—

ध्रुव वह, धर्मराज विजयी हो, हठी पुत्र क्या और कहे?
पुत्र पाँच के पाँच तुम्हारे, अर्जुन किंवा कर्ण रहे।

कुन्ती कर्ण से निराश होकर लौट आती है। उसका मातृत्व देखिए—

दोनों ओर मुझे रोना ही, रुके किन्तु कातर वाणी।
मरने में ही जीनेवाले जनती हैं हम क्षत्राणी॥

गान्धारी

गान्धारी के चरित्र पर कवि ने अधिक जोर नहीं दिया है। पर धर्म-परायणा माँ और पत्नी के रूप में उसका चित्रण सुन्दर बन पड़ा है। द्यूत-क्रीड़ा के समय दासी का हाथ धरे वह सभा में आई, जहाँ उसके पुत्रों ने कृष्णा की लाज ले लेने की ठान ली थी। अन्धे पति की सफल अन्धता पर व्यंग्य कर उसने पूछा—

सुनी नहीं क्या, आ घर में घुस अभी शिवा जो है रोई?
भाई से पितृकुल पुत्रों से पतिकुल मेरा नष्ट हुआ।...
हाय लोक की लज्जा भी अब नहीं रह गई लक्षित क्या?
आज बहू का तो कल मेरा कटि-पट नहीं अरक्षित क्या?

सुयोधन को बार-बार उसने समझाया—सुत-सम्पदा के लोभ से तू मत बुला यह आपदा। पर भवितव्यता होकर ही रही।

पत्नी

मेरी यही महा मति है। पति ही पत्नी की गति है॥

नारी का पत्नी-रूप गुप्त जी को विशेष प्रिय है। उनके काव्य की सभी

पत्नियाँ पति-परायणा हैं; और पति के संकेत पर ही उन्होंने जीना-मरना सीखा है।

राम के यह पूछने पर कि—

शुभे, बताओ कि तुम कौन हो और चाहती हो तुम क्या ?

शूर्पणखा कहती है—

पहनो कान्त तुम्हीं यह मेरी जयमाला-सी-वर माला।

सीता उसका प्रतिवाद नहीं करतीं, केवल इतना कहती हैं—

मुझे नित्य दर्शन भर इनके तुम करती रहने देना।…
प्रिय से स्वयं प्रेम करके ही हम सब कुछ भर पाती हैं।
वे सर्वस्व हमारे भी हैं यही ध्यान में लाती हैं॥

कितना ऊँचा आदर्श है सीता का !

ऊर्मिला

क्रौंच के आँसुओं से भींग जानेवाले महर्षि वाल्मीकि और मानस का सर्वश्रेष्ठ अंश भरत को दे डालनेवाले तुलसी की ऊर्मिला के प्रति उपेक्षा कवि को अखरी। उसने सम्पूर्ण 'साकेत' ऊर्मिला के आँसुओं पर वार दिया।

पति और पत्नी में सूई-डोरे का सम्बन्ध है। जहाँ सूई, वहीं डोरा; जहाँ पति, वहीं पत्नी। सीता ने अपना यही आदर्श रखा—

सतियों को पति संग कहीं, वन क्या अनल अगम्य नहीं।

किन्तु अपने आँसू पलकों में ही पीकर पति के रास्ते से दूर हट जाना कहीं बड़ा आदर्श है। ऊर्मिला के मन ने प्रिय-पथ का विघ्न न बनने की ठान ली। राम ने सत्य ही कहा है—

मैं वन में भी रहा गृही।
वनवासी हे निर्मोही, हुए वस्तुतः तुम दो ही।

ऊर्मिला का विश्वास है कि हृदय की प्रीति हृदय पर ही होती है। वह 'एक प्राण दो-देह' की साकार कल्पना है। लक्ष्मण-शक्ति का समाचार सुनकर वह कहती है—

जीते हैं वे वहाँ यहाँ जब मैं जीती हूँ।

वन से लौटने पर राम का यह कथन उसे बहुत ऊँचे उठा देता है—

तूने तो सहधर्मचारिणी के भी ऊपर।
धर्म-स्थापन किया भाग्य-शालिनि इस भू पर॥

उसका आदर्श सचमुच सब से ऊँचा है—

डूब बची लक्ष्मी पानी में,. सती आग में पैठ।
जिये ऊर्मिला करे प्रतीक्षा सहे सभी घर बैठ।

ऊर्मिला का चरित्र इतना ऊँचा है कि चित्रकूट में लक्ष्मण को स्वयं अपने पर सन्देह हो गया—

गिर पड़े दौड़ सौमित्र प्रिया-पद-तल में।
वह भींग उठी प्रिय-चरण धरे दृग-जल में॥

और उनसे यही कहते बना—

बन में तनिक तपस्या करके बनने दो मुझको निज योग्य।
भाभी की भगिनी तुम मेरे अर्थ नहीं केवल उपभोग्य॥

ऊर्मिला कहती क्या? वह बोली—

हा स्वामी कहना था क्या क्या कह न सकी कर्मों के दोष!
पर जिसमें सन्तोष तुम्हें हो, मुझे उसी में है सन्तोष!

'साकेत' के नवम सर्ग की ऊर्मिला पर रीति-काल की पूरी छाप है। संयोग के स्मरण-चित्र कहीं-कहीं अश्लील भी हो गये हैं—

सी सी करती हुई पार्श्व में लखकर मुझको।
अपना उपकारी कहते थे मेरे प्रियतम तुझको॥

वियोग के कुछ चित्र अतिशयोक्ति-पूर्ण भी हो गये हैं—

जा मलयानिल लौट जा, यहाँ अवधि का शाप।
लगे न लू होकर कहीं तू अपने को आप॥

किन्तु उसकी मर्यादा और कातरता बरबस ही हमारा ध्यान खींच लेती है—

अवधि शिला का था उर पर गुरु भार।
तिल तिल काट रही थी दृग जल-धार॥

× × ×

मानस मन्दिर में सती, पति की प्रतिमा थाप।
जलती सी वह विरह में, बनी आरती आप॥

× × ×

हाथ न आया स्वप्न भी, और गई यह रात।
सखि उडुगन भी उड़ चले, अब क्या गिनूँ प्रभात॥

भावनाओं के वेग में ऊर्मिला कहीं-कहीं अपने आदर्श से दूर जाती हुई जान पड़ती है; किन्तु प्रिय-पथ का विघ्न न बनने की भावना कभी उसका साथ नहीं छोड़ती—

यही आती है इस मन में।
छोड़ धाम-धन जाकर मैं भी रहूँ उसी वन में॥
बीच बीच में उन्हें देख लूँ मैं झुरमुट की ओट।
जब वे निकल जायँ तब लौटूँ उसी धूल में लोट॥

ऊर्मिला का विरह व्यक्तिगत है; और उसमें हम सामाजिकता का अभाव पाते हैं। किन्तु इसके लिए गुप्त जी से अधिक दोषी ऊर्मिला की परिस्थिति

हैं। साकेत के राज-प्रासाद में वह अकेली थी। यदि यशोधरा की भाँति वह भी माँ होती, तो शायद उसका विरह इतना करुण न होता। बुद्ध और लक्ष्मण के जाने की परिस्थितियाँ भी भिन्न हैं—इन कारणों से ऊर्मिला की विरह की अतिशयोक्तियाँ भी क्षम्य हैं। ऊर्मिला का सामाजिक रूप केवल एक बार अन्त में उस समय सामने आता है, जब वह लक्ष्मण-शक्ति का समाचार सुनकर साकेत की सेना का नेतृत्व करने आती है; और सैनिकों से लंका का अपवित्र सोना साकेत न लाकर वहीं समुद्र में डुबा देने को कहती है।

गान्धी जी साकेत की ऊर्मिला को भी मानस की ऊर्मिला जैसी देखना चाहते थे। ऊर्मिला के प्रति उनका यह अन्याय तो अवश्य था, किन्तु उसका मौन विरह अधिक प्रभावोत्पाक होता। नवम सर्ग की ऊर्मिला के उन्माद उसके अनुरूप नहीं जान पड़ते। यदि गुप्त जी ऊर्मिला का चित्रण यशोधरा की भाँति ही मूक प्रेमिका के रूप में करते, तो कदाचित् अधिक सुन्दर होता। पर हो सकता है कि अपनी प्रतिभा का बहुगुण रूप दिखाने के लिए ही उन्होंने ऐसी दो-रंगी रचनाएँ की हों।

•

यशोधरा

'साकेत' की ऊर्मिला ने कृपापूर्वक कपिलवस्तु के राज-भवन की ओर गुप्त जी को संकेत किया और 'यशोधरा' के आँसू उमड़ चले। सुगत का गीत तो देश-विदेश के कितने ही कवि-कोविदों ने गाया है; परन्तु गर्विणी गोपा की स्वतन्त्र सत्ता और महत्ता देखकर कवि को शुद्धोदन के मुँह से कहलाना पड़ा—

गोपा बिना गौतम भी नहीं ग्राह्य मुझको।

सिद्धार्थ के सामने एक समस्या है—घूम रहा है कैसा चक्र ? और वे अपने जीवन का लक्ष्य निर्धारित कर लेते हैं—

खोजूँगा मैं उसको, जिसके बिना यहाँ सब तीता है।

गोपा को उन्होंने अपने पथ की बाधा जाना। उसकी 'गोद पूर्ण' थी, वह 'हास-विलास-विनोद-पूर्ण' थी। गौतम 'मोद-पूर्ण' होने को एक रात सर्वस्व छोड़कर निर्वाण की खोज में चल पड़े। शुद्धोदन ने उन्हें ढूँढ़ लाना चाहा, पर गोपा ने मना कर दिया; और शुद्धोदन के यह कहने पर कि—

जान पड़ती तू आज मुझको कठोर है।

वह कहती है—

धर्म लिए जाता आज मुझे उसी ओर है।

गोपा का आदर्श ऊर्मिला से भी ऊँचा है। बुद्ध के जाने का उसे दुःख इतना ही है कि—

मिला न हा इतना भी योग,
मैं हँस लेती तुम्हें वियोग!
देती उन्हें विदा मैं गाकर,
भार झेलती गौरव पाकर,
यह निःश्वास न उठता हा कर।
बनता मेरा राग न राग,
मिला न हा इतना भी योग।

और वह अपने जीवन का लक्ष्य निश्चित कर लेती है—

अब कठोर हो वज्रादपि ओ कुसुमादपि सुकुमारी!
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी!

यशोधरा का यह निश्चय बुद्ध के निश्चय से किसी अंश में कम नहीं है। अपने से ही वह प्रश्न करती है—

अयि मेरे अर्द्धांगि-भाव, क्या विषय मात्र थे तेरे?

और उत्तर भी स्वयं दे डालती है—

> है नारीत्व मुक्ति में भी तो ओ वैराग्य-विहारी।

उसकी यही कामना है—

> आओ नाथ! अमृत लाओ तुम, मुझ में मेरा पानी;
> चेरी ही मैं बहुत तुम्हारी, मुक्ति तुम्हारी रानी।...
> स्वामी के सद्भाव फैलकर फूल फूल में फूटें।

बुद्ध ने यशोधरा की बाँह गही थी और उसने उनकी छाँह—

> बस, सिन्दूर विन्दु से मेरा जगा रहे वह भाल।
> वह जलता अंगार जला दे उनका सब जंजाल॥

विरह

यशोधरा के आँसुओं ने बुद्ध के मार्ग के कण्टक भिगोकर गला डाले; उन कण्टकों में उनका मार्ग रोक सकने की शक्ति ही न रही। गोपा के आँसू कितने पवित्र हैं! भारतीय नारी का सरल हृदय उनमें मचल पड़ा है—

> कूक उठी है कोयल काली।
> ओ मेरे वन - माली!
> ढलक न जाय अर्घ्य आँखों का, गिर न जाय यह थाली।
> उड़ न जाय पंछी पाँखों का, आओ हे गुणशाली!

× × ×

> आओ हो वनवासी!
> अब गृह-भार नहीं सह सकती
> देव, तुम्हारी दासी।
> राहुल पलकर जैसे तैसे,
> करने लगा प्रश्न कुछ वैसे,
> मैं अबोध उत्तर दूँ कैसे?

वह मेरा विश्वासी,
आओ हो वनवासी !
जल में शतदल तुल्य सरसते,
तुम घर रहते हम न तरसते,
देखो, दो दो मेघ बरसते,
मैं प्यासी की प्यासी !
आओ हो वनवासी ।

यशोधरा कितनी ही महान् क्यों न हो, पर आखिर तो पत्नी ही थी। अपने पत्नीत्व का वह क्या करती ? राहुल के प्रति इस खीझ—

चुप रह, चुप रह, हाय अभागे !
रोता है, अब किसके आगे ?

में उसका पत्नीत्व व्यक्त होता है। राहुल के शब्दों में वह—

मेरे लिए अम्ब, बन बैठी तू पहेली है,
झूठी कल्पना ही आज जिसकी सहेली है !

ऊर्मिला और यशोधरा

ऊर्मिला का विरह व्यक्तिगत है—वह अपने में ही घुलती रहती है। इसी से उसका विरह मुखर उठा है। यशोधरा परिवार में घुल-मिल गई है। आँसू पलकों में ही समा जाते हैं, ओंठों पर मुस्कान खेलती है। बुद्ध के लिए रोती है तो राहुल के लिए गाती भी है—राहुल ही उसका जीवन है।

ऊर्मिला केवल प्रिया है और यशोधरा माँ भी। राहुल के यह कहने पर-

आई तुझसी ही यह संध्या धूलि-धूसरा !

वह कहती है—

किन्तु बेटा, तुझसा सुधांशु मेरी गोद में ;
लाल निज काल काट लूँगी मैं विनोद में।

यशोधरा का सहारा है राहुल ! किन्तु ऊर्मिला का ?······?······

माँ यशोधरा

यशोधरा का पत्नीत्व मातृत्व में खो गया है। राहुल ने माँ से जो शिक्षा पाई, वह शायद ही और किसी से पा सकता। एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

'अम्ब, मेरी बात कैसे तुझ तक जाती है ?'
'बेटा, वह वायु पर बैठ उड़ आती है।'
'होंगे जहाँ तात क्या न होगा वायु माँ, वहाँ ?'
'बेटा, जगत्प्राण वायु, व्यापक नहीं कहाँ ?'
'क्यों अपनी बात वह ले जाता वहाँ नहीं ?'
'निज ध्वनि फैलकर लीन होती है वहीं।'
'और उनकी भी वहीं ? फिर क्या बड़ाई है ?'
'सबने शरीर-शक्ति मित की ही पाई है।
मन के ही माप से मनुष्य बड़ा-छोटा है।
और अनुपात से इसी के खरा-खोटा है।'
'तो मन ही मुख्य है माँ ?' 'बेटा, स्वस्थ देह भी।
योग्य अधिवासी के लिए हो योग्य गेह भी।'
'मानवों को पंख क्यों विधाता ने नहीं दिये ?'
'पंखों के बिना ही, उड़े चाहे तो, इसी लिए !'

कविता के भाव पर न जाइए; केवल शिक्षा का ढंग देखिए। राहुल के बाल-सुलभ प्रश्नों का उत्तर कितनी सरल, किन्तु दार्शनिक भाषा में और कितने वैज्ञानिक आधार पर दिया गया है ! मनोविज्ञान का बड़े से बड़ा अध्यापक भी इन प्रश्नों का इतना सहज और बोधगम्य उत्तर न दे पाता। इसी को कहते हैं—जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि।

गर्विणी गोपा

चाहे तुम सम्बन्ध न मानो,
स्वामी! किन्तु न टूटेंगे ये, तुम कितना ही तानो।
पहले हो तुम यशोधरा के,
पीछे होगे किसी परा के,
मिथ्या भय हैं जन्म-जरा के,
इन्हें न उसमें सानो,
चाहे तुम सम्बन्ध न मानो।
वधू सदा मैं अपने वर की,
पर क्या पूर्त्ति वासना भर की?
सावधान! हाँ, निज कुल घर की,
जननी मुझको जानो।
चाहे तुम सम्बन्ध न मानो।

गर्विणी गोपा सच्चे अर्थों में भारतीय पत्नी है। 'मिल गया उनका संधान आज' गौतमी के कहने पर वह बुद्ध का कुशल पूछने के पहले गौतमी से 'आली' उन्हें सिद्धि तो मिली है ?' ही पूछती है; और जब गौतमी कहती है कि 'सिद्धियाँ तो उनके पदों पर प्रणत हैं' तो वह कहती है—

गोपा गर्विणी है आज, आली, मुझे भेंट ले,
आँसू दे रही हूँ, कह और क्या अदेय है ?
यदि यह सत्य है तो मैं भी कृत-कृत्य हूँ,
आज सुख से भी निज दुःख मुझे प्यारा है।

गोपा का परित्याग करके बुद्ध मानवता की विभूति बने, किन्तु गोपा तो सदा बुद्ध की ही रही। संसार बुद्ध को चाहे जो कहे, गोपा तो यही कहेगी—

आली, मैं उन्हीं की रही, वे भी जन्म जन्म में,
मेरे रहें, तब तो मैं उनकी, वे मेरे हैं।

उसे मुक्ति भी नहीं चाहिए—

जीवन्मुक्ति भाव से तुमने किया अमर-पद-लाभ।
पर उस अमर मूर्त्ति के आगे ओ मेरे अमिताभ!
सौ सौ बार मरूँगी मैं!

उसके आँसुओं में इतनी शक्ति है (उनका इतना मूल्य है) कि शुद्धोदन उन्हें लेकर मुक्ति-मुक्ता छोड़ने को तैयार हैं।

बुद्ध से मिलने वह नहीं जाती। पलकों की छाँह में जो विश्राम करता हो, हृदय के तार-तार में जिसके गान गूँज रहे हों, उसे ढूँढ़ने वह कहाँ जाय? और क्यों जाय?

महा प्रजावती (सास) उससे पूछती है—

बाधा कौन सी है तुझे आज वहाँ जाने में?

यशोधरा कहती है—

बाधा तो यही है मुझे बाधा नहीं कोई भी!

परस्पर आदान-प्रदान की भावना उसकी नस-नस में इतनी समाई है कि वह बुद्ध के आगमन पर सोचती है—

क्या देकर मैं तुमको लूँगी?
देते हो तुम मुक्ति जगत को,
प्रभो, तुम्हें मैं बन्धन दूँगी!

गोपा का मान रह गया—

मानिनि, मान तजो लो, रही तुम्हारी बान!
दानिनि आया स्वयं द्वार पर यह वह तत्र-भवान

खोज रहा उस सक्तु-यज्ञ का गन्ध नकुल रस लेकर।

होना भी यही चाहिए। जिन ऊल-जलूल कथाओं पर से हमारा विश्वास ही उठ चला है, उनकी लीक पीटने से क्या लाभ?

समाज जिन पौराणिक पात्रों को तुच्छ समझता या घृणा की दृष्टि से देखता है, उन्होंने कवि से सहानुभूति पाई है। कैकेयी इसी प्रकार के पात्रों का प्रतिनिधित्व करती है। रावण के प्रति भी कवि ने घृणा नहीं प्रकट की। कृतवर्मा के प्रति सुयोधन का यह वचन उसका चरित्र ऊँचा उठा देता है—

सेनानी तुम्हीं हो अवशेष हम सबके,
किन्तु गुरु-पुत्र! एक पिंडदाता छोड़ना।
जीवन का वैर रहे मृत्यु के भी साथ क्या?

महाकाव्य

'साकेत' और 'जय भारत' दोनों महाकाव्य माने जाते हैं। 'जय भारत' महाकाव्य की कसौटी पर खरा उतरता है। 'साकेत' में कवि ने अपनी भावनाओं की माला गूँथने का प्रयत्न किया है। किन्तु उन भावनाओं के वेग में वह इस प्रकार बह-सा गया है कि कौन फूल कहाँ रखना चाहिए, इसका ध्यान ही न रहा। महाकाव्य की माला के मोती अपने स्थान पर इतने 'फिट' बैठते हैं कि उन्हें वहाँ से हटाया-बढ़ाया नहीं जा सकता। पर 'साकेत' में हम ऐसा नहीं पाते। नवम सर्ग के पद बिना भावना और अर्थ को हानि पहुँचाये आगे-पीछे किये जा सकते हैं। साकेत का कथा-प्रवाह भी बहुत शिथिल चलता है। हनुमान जी भरत के बाण से साकेत में गिरकर पूरा रामायण (मानस के अरण्य-काण्ड से लंका-काण्ड तक) एक साँस में कह जाते हैं। 'साकेत' में कवि को ऊर्मिला का चरित्र ही अभीष्ट था; घटनाओं और पात्रों का योग कवि ने उसके चरित्र-विकास के लिए ही किया है। 'साकेत' भारतीय अर्थ में महाकाव्य नहीं है। हाँ, पश्चिम के चरित्र-प्रधान महाकाव्यों की परम्परा में उसे रखा जा सकता है।

अन्तर्कथा

'जय भारत' महाकाव्य है। महाकाव्य में 'क्या लिखा जाय' उतना महत्त्व नहीं रखता, जितना यह कि 'क्या न लिखा जाय'। 'जय भारत' में इस परम्परा का पूरा निर्वाह हुआ है। महाकाव्य में सब कुछ लिख देना कवि के लिए सम्भव नहीं होता; अतः अन्यान्य अंतर्कथाएँ पाठकों के विवेक पर ही छोड़कर उसे आगे बढ़ जाना पड़ता है। गुप्त जी नहुष से यह कहलाकर—

> असुर प्रलोम-पुत्री इन्द्राणी बने जहाँ,
> नर भी क्यों इन्द्र नहीं बन सकता वहाँ ?

आगे बढ़ गये हैं। असुर प्रलोम-पुत्री इन्द्राणी कैसे बनी, इसे बताने की उन्होंने आवश्यकता नहीं समझी।

महाकाव्यों में एक कथा विभिन्न पात्रों के मुँह से या विभिन्न परिस्थितियाँ दिखलाकर भी पूरी करने की प्रथा-सी है। नारद-मोह में 'दीन कुरूप न जाइ बखाना' की जिज्ञासा का समाधान तुलसी ने अरण्य-काण्ड में किया है। सत्यवती की कथा गुप्त जी ने तीन स्थानों पर अधूरी रखकर चौथे स्थान पर पूरी की है।

कथा-प्रवाह

'जय भारत' में पूरे महाभारत के कथानक को चार सौ बयालिस पृष्ठों में ला देना गुप्त जी की सफल लेखनी का ही काम है। 'जय भारत' का कथा-प्रवाह बहुत द्रुत गति से चलता है। दो पंक्तियों में ही युधिष्ठिर का जूआ कवि ने सफलतापूर्वक समाप्त कर दिया है—

> राज-पाट फिर अनुज और फिर अपने को भी हार गये,
> जान न पाये कृष्णा को भी कब वे पण पर वार गये।

किन्तु द्रौपदी-वस्त्र-हरण कवि ने पूरे विस्तार से लिखा है। जहाँ कवि को रुकना अभीष्ट जान पड़ा है, वहाँ रुका है; और बहुत प्रचलित कथाओं को शीघ्रता से कहकर वह आगे बढ़ गया है।

कथोपकथन

कथोपकथन बहुत छोटे-छोटे हैं और कथा-प्रवाह में उनसे बहुत योग मिलता है। शान्तनु और सत्यवती के कथोपकथन का एक उदाहरण पर्याप्त होगा--

"क्या वस्तुतः तुम्हारा राजा ऐसा धीर धुरन्धर है?"
"अधिक क्या कहूँ, भू पर वह है, ऊपर सुना पुरन्दर है।"
"पर कहते हैं, वह रानी के बिना रह गया आधा है।"
"मिले कहाँ गङ्गा-सी रानी, यह तो विधि की बाधा है।"
"चाहे तो कर सकती है अब यमुना ही गङ्गा की पूर्त्ति।"
"सुतनु दीख पड़ती है तुममें मुझे उसी की मञ्जुल मूर्त्ति।"

गुप्त जी के कथोपकथनों में यह विशेषता होती है कि वे कथा-विकास में सहायक ही होते हैं, बाधक नहीं।

वर्णन

उपमा और उत्प्रेक्षा की सहायता से गुप्त जी अपने वर्णनों में चित्र-सा खींच देते हैं। नींद की गोद में पड़े कृष्ण का चित्र देखिए--

ओढ़े मनोहर पीत पट वे दिव्य रूप-निधान थे।
प्रत्यूष-आतप-युक्त यमुना-ह्रद-सदृश सुविधान थे॥

यों लग रहे उनके निमीलित नेत्र युग्म ललाम थे।
भीतर मधुप मूँदे हुए ज्यों सुप्त सरसिज श्याम थे॥

इसी प्रकार सद्यःस्नाता शची का चित्रण भी बहुत सुन्दर हुआ है—

देह धुली उसकी वा गंगा-जल ही धुला,
चाँदी घुलती थी जहाँ सोना भी वहीं घुला।
मुक्ता तुल्य बूँदें टपकीं जो बड़े बालों से,
चू रहा था विष वा अमृत बड़े व्यालों से।

स्वयंवर में कृष्ण का रूप और द्रौपदी तथा सत्यभामावाले सर्ग में वर्षा-वर्णन भी बहुत सुन्दर है। युद्ध-वर्णन में युद्ध की अपेक्षा वीरों की गर्वोक्तियाँ ही अधिक हैं।

युग

युग के साथ-साथ समस्याएँ भी बदलती रहती हैं। ऐतिहासिक पात्रों को हम उस रूप में नहीं देखते, जैसे वे थे; वरन् उस रूप में देखते हैं, जैसा कि हम उन्हें समझते हैं। बीसवीं शती के पूँजीवादी युग की समस्याओं का समाधान कवि ने 'जय भारत' काव्य के पात्र कर्ण और युयुत्सु के प्रश्नोत्तर में किया है। कर्ण के यह कहने पर कि दुर्योधन तुम्हें अन्न देता है, युयुत्सु कहता है—

पाते हैं स्वयं कहाँ से वे[1]?
हम भी क्या नहीं जहाँ से वे?
धनियों के हाथ भले धन है,
पर जन के साथ स्व-जीवन है।

---

१ दुर्योधन।

पाता, जो स्वेद बहाता है,
धन तन की मैल कहाता है।

जान पड़ता है, जैसे कोई उग्र साम्यवादी नेता जनता को मार्क्स-दर्शन समझा रहा हो।

अवतार के कारण और उद्देश्य

राम तुम मानव हो, ईश्वर नहीं हो क्या?
विश्व में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या?
तब मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करे,
तुम न रमो तो मन तुममें रमा करे!

गुप्त जी सगुण उपासना और अवतारवाद के समर्थक हैं—

हो गया निर्गुण सगुण साकार है;
ले लिया अखिलेश ने अवतार है!
किस लिए यह खेल प्रभु ने है किया?
मनुज बनकर मानवी का पय पिया!

कवि का विश्वास है कि लीलाधाम लोकेश भक्त-वत्सलता से प्रेरित होकर ही अवतार लेते हैं। अवतार के अन्य कारणों पर भी उसने प्रकाश डाला है—

पथ दिखाने के लिए संसार को,
दूर करने के लिए भू-भार को;
सफल करने के लिए जन-दृष्टियाँ,
क्यों न करता वह स्वयं निज सृष्टियाँ?
पापियों का जान लो अब अन्त है,
भूमि पर प्रगटा अनादि अनन्त है।

राम और कृष्ण के सगुण रूप गुप्त जी को विशेष प्रिय हैं। 'साकेत' में

कवि ने राम का आदर्श रखा है और 'जयद्रथ-वध', 'द्वापर' तथा 'जय भारत' में कृष्ण का। सगुणोपासना का लोक-सेवक और लोक-रक्षक रूप कवि को प्रिय है। रण-निमंत्रण में कृष्ण के अर्जुन से यह पूछने पर कि 'स्वीकृत मुझे तुमने किया है त्याग कटक महान् क्यों ?' अर्जुन उत्तर देते हैं—

सेना रहे, मुझको जगत भी तुम बिना स्वीकृत नहीं।
श्रीकृष्ण रहते हैं जहाँ, सब सिद्धियाँ रहती वहीं॥

अनेक बार अर्जुन ने कहा है कि मेरी विजय तुम हो। इतना होते हुए भी गुप्त जी ने अपने सगुण अवतारों के अलौकिक कृत्यों का उल्लेख यथा-साध्य बहुत कम किया है। काव्य में चमत्कार भर लाने के लिए राम-चरित और कृष्ण-चरित को भानुमती का पिटारा बना देना कवि को न रुचा।

राम के अवतार के कारण और उद्देश्य भी वही हैं, जो कृष्ण के हैं—

निज रक्षा का अधिकार रहे जन जन को।
सबकी सुविधा का भार किन्तु शासन को॥
मैं आया उनके हेतु कि जो तापित हैं।
जो विवश, विकल, बल-हीन, दीन शापित हैं॥
मैं आया जिसमें बनी रहे मर्यादा।
बच जाय प्रलय से, मिटे न जीवन सादा॥
मैं यहाँ एक अवलम्ब छोड़ने आया।
गढ़ने आया हूँ, नहीं तोड़ने आया॥
सन्देश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया।
इस भू-तल को ही स्वर्ग बनाने आया॥

भाषा

विकट शब्द—गुप्त जी की प्रारम्भिक रचनाओं में माधुर्य का अभाव है

जब उन्होंने लिखना प्रारम्भ किया था, तब भाषा का स्वरूप स्थिर नहीं हो पाया था। तत्सम शब्दों के प्रति कवि का अनुराग इतना तीव्र हो गया कि वह काव्य की स्वाभाविक मधुरता खो बैठा—

तब वीर कर्ण समक्ष सत्वर उग्र साहस-युत हुआ।

× × ×

क्षुधार्थ रन्तिदेव ने दिया करस्थ थाल भी॥

× × ×

री लेखनी! हृत्पत्र पर लिखनी तुझे है यह कथा।
दृक्कालिमा में डूबकर तैयार होकर सर्वथा॥

× × ×

दुस्तर क्या है उसे विश्व में प्राप्त जिसे प्रभु का प्रणिधान।
पार किया मकरालय मैंने उसे एक गोष्पद सा मान॥

विकट शब्द रखना जैसे गुप्त जी की आदत-सी है। 'जय भारत' में आये हुए हम इस प्रकार के शब्दों की एक तालिका देखते हैं—

आस्फालन, भुक्तोज्झित, मतिमन्य, हृद्य, विपणि, क्लिन्न, मृगव्य, औद्धत्य, सौभ्रातृ, क्षत्रियत्व, दिग्विजय, ऐन्द्रजालिक, स्वीकार्य, वस्त्रावस्था, व्याल-विड़ाल, अभिषिक्त, अविविक्त, अर्द्ध-नग्न, हृत, धृत, कर्षण, घर्षण, अधिकृत, दीर्ण, क्रौर्य, दिक्काल आदि।

मुहावरे—अभिव्यक्ति को प्रभावशाली बनाने में मुहावरे बहुत सहायक होते हैं। इनकी सरसता मन मोह लेती है। दस-बारह पंक्तियों का वाक्य तीन चार शब्दों के मुहावरे में समा जाता है। गुप्त जी को भाषा का अपरिमार्जित स्वरूप ही मिला था; और पौराणिक आख्यानों को वर्ण्य विषय बनाने पर जन-समाज में प्रचलित मुहावरों से दूर हो जाना उनके लिए स्वाभाविक ही था।

यद्यपि मुहावरों का प्रयोग गुप्त जी के काव्य में बहुत कम है, पर जो मुहावरे आये हैं, वे बहुत सुन्दरता से आये हैं—

चन्द्रकान्त मणियाँ हटा पत्थर मुझे न मार।
यथेष्ट मैं रोदन के लिए हूँ, झड़ी लगा दूँ इतनी पिये हूँ।
और जमाना चाहा उसने उसके अधिकारों पर पाँव।
कन्धे से कन्धा जोड़ो।
पानी न लगा उनको श्रम से।
जताकर यही कि फूटा भाल।
उड़ाती है तू घर में कीच।
क्षोभ से जलने लगा शरीर।
दूध ऋषियों ने ही पिलाया काल नाग को।
एक रात बढ़ गया दीप जब झोंके खाता।

ग्रामीण मुहावरों का भी प्रयोग कहीं-कहीं आपने बहुत सुन्दर किया है—

कूड़े से भी आगे पहुँचा अपना अदृष्ट गिरते गिरते।
दिन बारह वर्षों में घूरे के भी सुने गये हैं फिरते॥

शादी के पहले 'भत्तवान' के दिन 'कोहबर' की पत्तल उतरती है, जिसमें स्त्रियाँ गीत गाती हुई दूल्हे या दुलहिन की आँखें बन्दकर उसे घूरे पर ले जाती हैं और पत्तल उनसे गड़वा देती हैं। इस मुहावरे में इसी घूरे की ओर संकेत है। राम को चौदह वर्षों का वनवास हुआ था। चौदह वर्षों की अवधि को कवि ने कितनी सुन्दरता से व्यक्त किया है!

बुन्देलखंडी प्रयोग—जिन शब्दों को कवि माँ की गोद से ही बोलता आया हो, वे उसे विशेष प्रिय होते हैं। साहित्य में अप्रचलित होने पर भी गुप्त जी ऐसे शब्दों के प्रयोग का लोभ संवरण नहीं कर सके हैं—

तोड़ मरोड़ उखाड़ पछाड़े
बड़े बड़े बहु अज्झड़ झाड़।
टुटपुँजिये हैं जो टौने की माया पर मरते हैं।

विदेशी शब्द

संस्कृतनिष्ठ परिमार्जित भाषा में रुचि होने के कारण जनता में प्रचलित विदेशी शब्दों का प्रयोग लगभग नहीं के बराबर है। उर्दू और फारसी के कठिन शब्दों का जहाँ-तहाँ इस स्वतन्त्रता से प्रयोग हुआ है कि पाठक बिना कोष की सहायता के उन्हें समझ ही नहीं सकता। यह अर्थ-दुरूहता प्रायः तत्सम शब्दों के प्रयोग के कारण आई है। यथा—

हुक्म हुआ फिर मगर कबूलत होगी फिर बेकार।
इन्दुल्‌तलब नाम का रुक्का लिखा गया लाचार॥

भाषा का प्रवाह

गुप्त जी की भाषा में बच्चन या महादेवी जी की भाँति प्रवाह नहीं है। प्रबंध-काव्यों में भाषा के बहुत अधिक प्रवाह की अपेक्षा भी नहीं होती। मुक्तक गीत-काव्यों में हम भाषा का जो प्रवाह पाते हैं, वह प्रबन्ध-काव्य में नहीं आ सकता।

यति-भंग गुप्त जी के काव्य में ढूँढ़े नहीं मिलता। 'जय भारत' में केवल एक उदाहरण कठिनता से ढूँढ़ा जा सका है—

उनकी अभेदता तो उसी में खुली खिली,
भाग्य से ही वे उसे मिले, वह उन्हें मिली।

मुक्तक गीतों में गुप्त जी की भाषा का प्रवाह देखने योग्य है—

जीर्ण तरी, भूरि भार, देख, अरी, एरी।
कठिन पंथ, दूर पार, और यह अँधेरी!

× × ×

कला-पक्ष

गुप्त जी हिन्दी की पुरानी धारा के कवि हैं। वर्त्तमान का आकर्षण उन्हें लुभा न सका। आज जब हिन्दी संसार में चतुष्पदी गीतों का बोल-बाला है, आपने महाकाव्यों की पुरानी परम्परा न छोड़ी। 'साकेत' के नवम सर्ग और 'यशोधरा' पर रीति-काव्य की पूरी छाप है।

गुप्त जी के उपमान परम्परागत हैं—

दीख पड़ा कर्ण मानो भानु निज यान में।

× × ×

ऊँचा गदा गेंद किये उद्धृत भू-गोल-सा।
निकला कुरुद्वह वराह-सा सलिल से॥

× × ×

उन सबके बीच विकास-युता,
शशि-कला सदृश थी द्रुपद-सुता।

× × ×

अति लिपटी भी शैवाल में कमल कली है सोहती।
घन सघन घटा में भी घिरी चन्द्र-कला मन मोहती॥

× × ×

होता अधीर ग्रीष्मार्त्त रज ज्यों पुष्करिणी देखकर।

आवश्यकतानुसार उपमाओं, उत्प्रेक्षाओं और रूपकों के चुनाव में गुप्त जी ने अपनी ही कल्पना से काम लिया है।

शर-शैय्या पर लेटे हुए भीष्म—

मानो निज रश्मि-जाल संवरण करके।
ओढ़ के बिछा के वही सान्ध्य रवि था पड़ा॥

× × ×

उसने बनाया मुँह मानों सना कीच में।

मानस में चाँद की कालिमा का कारण तुलसी ने अपने पात्रों के मुँह से जो कहलाया है, वह विशुद्ध पौराणिक है। जरा गुप्त जी की कल्पना देखिए—

माँ ने शशि-सुत को जो दिया दिठौना है।
उसको कलंक कहना मानो बहुत बड़ा टौना है॥

चाँद के कलंक के कारणों की कल्पना करते हुए कवियों ने आकाश-पाताल एक कर दिये; पर माँ की गोद की ओर किसी की दृष्टि न गई!

पूर्वा

दूर क्षितिज के पार
बसा सपनों का मेरा देश,
जहाँ विस्मृति का आँचल डाल
सुधा बरसा जाता राकेश!

और मेरे डगमग दो पाँव
पंथ कंटकाकीर्ण, मैं श्रान्त,
क्षितिज की दूरी मंजिल बनी
पहुँच पाऊँगा कैसे भ्रान्त।

'तुमुल कोलाहल कलह में' तुम 'हृदय की बात' साधक,
विश्व 'झरने' की 'लहर' में 'अश्रु' तुम अवदान साधक;
घाव मन के भर गये जग-वेदना से मेल खाकर
बादलों से घिरे नभ के तुम सजल मधु प्रात साधक।

जयशंकर 'प्रसाद'

जन्म—माघ शुक्ल १२ सं० १९४६ निधन—कार्त्तिक शुक्ल ११ सं० १९९४

जयशंकर प्रसाद जी का जन्म काशी के एक प्रतिष्ठित कान्यकुब्ज वैश्य कुल में हुआ था। आपके पितामह बाबू शिवरत्न साहु (सुँघनी साहु) और पिता बाबू देवीप्रसाद जी का बहुत सम्मान था। प्रसाद जी का बचपन बहुत लाड़-प्यार में बीता था। सातवीं कक्षा तक ही आप स्कूल की शिक्षा पा सके थे, संस्कृत और अंग्रेजी का आपने घर पर ही अध्ययन किया। नियति ने बारह वर्ष की अवस्था में पिता, पन्द्रह वर्ष की अवस्था में माता और सत्रह वर्ष की अवस्था में बड़े भाई को आपसे छीन लिया। उन्मन मन भाव-जगत् से रह-रहकर मोती चुराया करता था, जिसे आप दूकान की बही के सादे पन्ने या रद्दी कागज के बिना लिखे स्थानों में सँजो लिया करते थे। विधवा भाभी के स्नेहांचल में पला कवि यदि वेदना को प्यार करे तो आश्चर्य क्या!

दो पत्नियों की चिता कवि ने अपने हाथ से जलाई थीं। तीसरा ब्याह वे नहीं करना चाहते थे; किन्तु भाभी के स्नेहानुरोध के सामने आपको झुकना पड़ा। आपका जीवन बहुत सरल था। सभा-सम्मेलनों की भीड़-भाड़ आपको अच्छी न लगती थी। आप शिव के उपासक थे। शतरंज आपका प्रिय खेल था और पान प्रिय व्यसन।

रचनाएँ—झरना, प्रेम-पथिक, आँसू, लहर और कामायनी।

मानस जलधि रहे चिर चुम्बित, मेरे क्षितिज उदार बनो !

कवि ने अपने क्षितिज को इतना उदार बनाया कि सृष्टि ही उसके मानस-जलधि में समा गई। फिर भी सृष्टि उसके प्रति सदा अनुदार ही बनी रही ! नियति ने पिता का प्यार, माँ की स्नेहमयी गोद, भाई के शीतल तरु की छाँह, और दो दो पत्नियाँ छीन लीं; स्व-जनों ने सम्पत्ति के लोभ में कवि का तन समाप्त कर देना चाहा और पर-जनों (समीक्षकों) ने मन । 'कामायनी' के कवि को माँ भारती की गोद से छीन लेने का श्रेय राज-यक्ष्मा से अधिक हिन्दी साहित्य जगत् के दिग्गज आलोचकों को ही है !

प्रसाद जी का 'जयशंकर' नाम सार्थक है । स्वयं काल-कूट पान करके भी अमृत उन्होंने देवासुर-संग्राम के अधिनायकों के लिए सुरक्षित रख छोड़ा । काल-कूट के शमन के लिए 'इन्दु' निकला अवश्य, पर उसने आने में बहुत देर कर दी । अर्थाभाव के बादल रह रहकर उसे छिपा भी लेते थे । सरस्वती के इस वरद पुत्र का 'सरस्वती' विरोध कर रही थी । 'झरना' के लिए एक समीक्षक ने सलाह दी थी कि यदि कवि उसके पन्नों से सुँघनी की पुड़िया बाँधता तो अधिक उपयुक्त होता । पर जो होना था हो चुका । अब उस विडम्बना की गाथा गाने से कोई लाभ नहीं है ।

रूप

पी लो छबि-रस-माधुरी सींचो जीवन बेल ।
जी लो सुख से आयु भर यह माया का खेल ॥

प्रसाद के प्रारम्भिक रूप-चित्रों पर रीति-युग का प्रभाव है । 'इन्दु' सं० १९६६ में प्रकाशित 'प्रेम-पथिक' व्रज भाषा में है । प्रेम का रूप-चित्रण रीति-युग के रूप-चित्रों से मिलता-जुलता है—

भख्यो हलाहल कारो पुतरिन माँह।
गोली बन बेधत हिय, मिलत न छाँह।

इस रूप-चित्र पर रीति-युग के नख-शिख की अलंकृत शैली की छाप स्पष्ट है। आगे चलकर भाषा और भाव दोनों परिमार्जित हो गये हैं। इसी से मिलते-जुलते कुछ और रूप-चित्र देखिए—

काली आँखों में कितनी यौवन के मद की लाली।
माणिक मदिरा से भर दी, किसने नीलम की प्याली।—आँसू।

'उर्वशी चम्पू' के अधिकतर रूप-चित्र महाकवि देव के रूप-चित्रों से मेल खाते हैं—

सोंधे सरोज की माल सी चारु, अनंग भरे अँग हैं अरसौंहैं।
गोल कपोलन पै अरुनाई, अमंद छटा सुख की सरसौंहैं।
दीरघ कंज से लोचन माते, रसीले उनींदे कछूक लजौंहैं।
छूटत बान धरे खरसान, चढ़ी रहैं काम-कमान सी भौंहैं॥

रीति-युग का यह आकर्षण प्रसाद की रूप-कल्पना के पाँवों की बेड़ी न बन सका। 'झरना' की 'रूप' शीर्षक कविता वर्णनात्मक है और सूफी काव्य-धारा की रूप-वर्णन पद्धति पर चलती है—

ये बंकिम भ्रू, युगल कुटिल कुन्तल घने,
नील नलिन से नेत्र—चपल मद से भरे,
अरुण राग रंजित कोमल हिम-खण्ड से,
सुन्दर गोल कपोल सुढर नासा बने।

'आँसू' के रूप-चित्र रीति-युग की नख-शिख-वर्णन प्रणाली पर आधारित होते हुए भी कवि की कल्पना-तूलिका से निखर उठे हैं। इस प्रकार के रूप-चित्र कोरे परम्परागत ही नहीं हैं, उनमें कवि का अपना भी बहुत-कुछ है—

तिर रही अतृप्त जलधि में नीलम की नाव निराली,
काला-पानी बेला सी है अंजन रेखा काली।
चंचला स्नान कर आवे चन्द्रिका पर्व में जैसी,
उस पावन तन की शोभा आलोक मधुर थी ऐसी।
थी किस अनंग के धनु की वह शिथिल शिंजिनी दुहरी,
अलबेली बाहु-लता या तनु-छवि सर की नव लहरी?

'प्रलय की छाया' में कमला रूप-गर्विता नायिका के रूप में आई है। वैभव और विलास के सिन्धु में डूबी होने पर भी उसके रूप में अपवित्रता नहीं आने पाई है—

कमनीयता जो थी समस्त गुजरात की,
हुई एकत्र इस मेरी अंग - लतिका में।
पलकें मदिर भार से थीं झुकी पड़तीं।...
नूपुरों की झनकार घुली-मिली जाती थी।
चरण ' अलक्तक की लाली से॥

रूप की सृष्टि निर्माण के लिए हुई है, नाश उसके वश की बात नहीं है। मक्खन कितना ही कठोर बने, मक्खन ही रहेगा, बन्दूक की गोली वह कभी न बन पावेगा। कमला ने रूप के मिथ्या वीर दर्प से सृष्टि नापनी चाही थी, जो उसकी भूल थी। विकृत नारीत्व का चित्र होते हुए भी कमला भारतीय नारी के सम्मुख एक आदर्श उपस्थित करती है।

'कामायनी' में श्रद्धा का रूप-वर्णन अद्वितीय है। परम्परागत उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं को कवि ने नई दिशा दी है। श्रद्धा के 'नील परिधान बीच सुकुमार मृदुल गोरे अधखुले' अंग को देखकर मेघ-वन के बीच गुलाबी रंग के खिले हुए बिजली के फूल की कल्पना अद्भुत है। ऐसे ही कुछ अन्य उदाहरण देखिए—

आह ! वह मुख ! पश्चिम के व्योम बीच जब घिरते हों घन श्याम :
अरुण रवि-मंडल उनको भेद, दिखाई देता हो छवि-धाम।
और उस मुख पर मृदु मुसक्यान, रक्त किसलय पर ले विश्राम !
अरुण की एक किरण अम्लान, अधिक अलसाई हो अभिराम !

सौन्दर्य की भावना को साकार कर देनेवालों में प्रसाद का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनके रूप-चित्रों की सुषमा नयनों में समा जाती है—

कुसुम कानन-अंचल में मंद पवन प्रेरित सौरभ साकार,
रचित परमाणु पराग शरीर खड़ा हो ले मधु का आधार।
और पड़ती हो उस पर शुभ्र नवल मधु राका मन की साध;
हँसी का मद विह्वल प्रतिबिंब मधुरिमा खेला सदृश अबाध।

इड़ा का रूप-चित्र भावना-प्रधान न होकर तर्क-प्रधान है; किन्तु यहाँ भी कवि को सफलता मिली है—

बिखरी अलकें ज्यों तर्क-जाल।
वह विश्व मुकुट सा उज्ज्वलतम शशि-खण्ड सदृश था स्पष्ट भाल।
दो पद्म पलाश चषक से दृग देते अनुराग विराग ढाल।
गुंजरित मधुप-से मुकुल सदृश वह आनन जिसमें भरा गान।

नारी के सौन्दर्य-निरूपण में कवि ने नारी के तन और मन का सम्पूर्ण रूप-सिन्धु एकाबारगी ही पाठकों के सम्मुख रख दिया है। 'छुक-छिपकर चलनेवाले लाज भरे सौन्दर्य' का कोना-कोना झाँककर भी उससे मन नहीं भरता—और अधिक छककर पीने की प्यास बनी ही रहती है। प्रसाद के रूप-चित्रों पर कहीं वासना की छाया भी नहीं पड़ने पाई है। देव और बिहारी के रूप-वर्णन दम्पति तो एक साथ पढ़ सकते हैं, पर पिता-पुत्र नहीं। किन्तु प्रसाद जी के रूप-चित्रों में इस प्रकार की कोई बाधा नहीं है।

प्रेयसी से अधिक सौन्दर्य कवि को माँ में दिखाई पड़ा है। कालिदास के बाद काव्य में माँ के सौन्दर्य के दर्शन करानेवाले प्रसाद जी पहले कवि हैं—

केतकी गर्भ-सा पीला मुँह आँखों में आलस भरा स्नेह।
कुछ कृशता नई लजीली थी कंपित लतिका सी लिए देह!
मातृत्व-बोझ से झुके हुए बँध रहे पयोधर पीन आज;...
श्रम-बिंदु बना सा झलक रहा भावी जननी का सरस गर्व,
बन-कुसुम बिखरते थे भू पर आया समीप था महा पर्व।

मनु के रूप-चित्र में भारत का गरिमामय अतीत दिखाई देता है—

अवयव की दृढ़ मांस-पेशियाँ, ऊर्जस्वित था वीर्य्य अपार;
स्फीत शिराएँ, स्वस्थ रक्त का होता था जिनमें संचार।

अरूप भावनाओं के रूप

मन की भावनाओं की अभिव्यक्ति कवि ने बहुत सुन्दरता से की है। अरूप भावनाओं की इतनी सुन्दर अभिव्यक्ति अन्यत्र दुर्लभ है। 'चिन्ता' की अभिव्यक्ति के लिए कवि ने कुछ विशेषण पद दिये हैं—'विश्व-वन की व्याली', 'ज्वालामुखी स्फोट के भीषण, प्रथम कम्प सी मतवाली', 'अभाव की चपल बालिका', 'जल-माया की चल रेखा', 'ग्रह-कक्षा की हलचल', 'तरल गरल की लघु लहरी', 'व्याधि की सूत्र-धारिणी', 'मधुमय अभिशाप', 'हृदय-गगन में धूमकेतु', 'पुण्य-सृष्टि में सुंदर पाप आदि। इन विशेषण पदों में इतनी शक्ति है कि इनसे 'चिन्ता' के आन्तरिक और बाह्य स्वरूप स्पष्ट हो जाते हैं।

'आशा' की अभिव्यक्ति के लिए कवि ने वर्णनात्मक प्रणाली का आश्रय लिया है। वर्णनात्मक प्रणाली स्थूल के निरूपण में सफलता पाती है; किन्तु प्रसाद जी ने सूक्ष्म के निरूपण में भी सफलता प्राप्त की है—

यह क्या मधुर स्वप्न सी झिलमिल सदय हृदय में अधिक अधीर;
व्याकुलता सी व्यक्त हो रही आशा बनकर प्राण समीर!
यह कितनी स्पृहणीय बन गई मधुर जागरण सी छविमान,
स्मिति की लहरों सी उठती है नाच रही ज्यों मधुमय तान।

'लज्जा' की अभिव्यक्ति भी इसी प्रकार की है—

नयनों की नीलम की घाटी जिस रस-घन से छा जाती हो;
वह कौंध कि जिससे अन्तर की शीतलता ठंढक पाती हो।

'चेतना के उज्वल वर-दान' सौन्दर्य की अभिव्यक्ति कवि ने अपनी जिज्ञासा में ही बहुत सुन्दरता से कर दी है—

तुम कनक किरन के अन्तराल में लुक-छिपकर चलते हो क्यों?...
हे लाज भरे सौन्दर्य! बता दो मौन बने रहते हो क्यों?

प्रेम

प्रेम का कमल वेदना-रवि की रश्मियों का स्पर्श पाकर खिल उठता है। शरीर के कर्दम से उत्पन्न होकर भी वह शरीर से अछूता रहता है। पंकज इसी लिए पंकज है कि पंक से उत्पन्न होकर भी वह पंकिल नहीं होता—उसमें ज्योत्स्ना की स्निग्धता और रश्मियों का उल्लास रहता है।

अतृप्त प्रेम की प्यास रह रहकर पलकें भिंगो देती है; कवि फूट पड़ता है—

मुझको न मिला रे कभी प्यार।

किन्तु वह अकेला अपने को ही असहाय नहीं देखता। प्रेम के साम्राज्य में जहाँ तक दृष्टि जाती है, वह सबको अपने-सा ही पाता है—

सागर लहरों सा आलिंगन
निष्फल उठकर गिरता प्रति दिन......
पागल रे वह मिलता है कब
उसको तो देते ही हैं सब
आँसू के कन कन से गिनकर
यह विश्व लिए है ऋण उधार।

'आँसू' का कवि प्रेम की पीड़ा में तपकर निखर उठा है। जब उसे भान होता है कि मेरे आँसू बरसकर जन-जीवन के होंठों पर ऊषा की मुस्कान ला देंगे, तो वह वेदना को प्यार करने लगता है। उसे विश्वास है—

विस्मृति समाधि पर होगी वर्षा कल्याण जलद की।

और तब वह कामना करता है—

निर्मम जगती को तेरा मंगलमय मिले उजाला
इस जलते हुए हृदय की कल्याणी शीतल ज्वाला ॥...
मेरी आहों में जागो सुस्मिति में सोनेवाले।
अधरों से हँसते हँसते आँखों से रोनेवाले ॥

वेदना के प्रति कवि का अनुराग इतना अधिक बढ़ता है कि वह उसे अपनी जीवन-संगिनी बना लेता है—

तुम ! अरे, वही हाँ तुम हो मेरी चिर-जीवन-संगिनि।
दुखवाले दग्ध हृदय की वेदने ! अश्रुमयि रंगिनि !

वह अपनी उस जीवन-संगिनी (वेदना) से जानना चाहता है—

देखा बौने जल-निधि का शशि छूने को ललचाना।
वह हाहाकार मचाना, फिर उठ उठकर गिर जाना।......
फिर उन निराश नयनों की जिनके आँसू सूखे हैं,
उस प्रलय दशा को देखा जो चिर-वंचित, भूखे हैं।

यदि सचमुच वेदना रानी यह सब देख चुकी है तो कवि की कामना है-

सबका निचोड़ लेकर तुम सुख से सूखे जीवन में।
बरसो प्रभात हिम-कन सा आँसू इस विश्व-सदन में ॥

ये आँसू की अन्तिम पंक्तियाँ हैं। वैसे देखने में ये भरत-वाक्य सी लगती हैं; किन्तु वास्तविकता यह है कि इस वेदना के प्यार में विवशता है। भारतीय बाल-विवाहों की भाँति संसार ने कवि का उत्तरीय वेदना से बलात् बाँध दिया

है ; और उसके लिए वेदना को प्यार करने के सिवा दूसरा चारा ही नहीं है। इस 'जीवन-संगिनि' से कवि का मन बार बार विद्रोह कर उठता है। वेदना को प्यार करने का रहस्य कवि के ही मुख से सुनिए—

इस शिथिल आह से खिंचकर तुम आओगे, आओगे,
इस बढ़ी व्यथा को मेरी रो रोकर अपनाओगे॥

कवि अपने प्रेमास्पद से कहता है—

डरो नहीं जो तुमको मेरा उपालम्भ सुनना होगा।
केवल एक तुम्हारा चुम्बन इस मुख को चुप कर देगा॥

× × ×

मेरी आँखों की पुतली में तू बनकर प्रान समा जा रे!

एक भुक्त-भोगी की भाँति कवि सबको सलाह देता है—

जिसे चाह तू, उसे न कर आँखों से कुछ भी दूर।
मिला रहे मन मन से, छाती छाती से भर-पूर॥

'कामायनी' के प्रेम-सम्बन्धी विचार भी इसी से मिलते-जुलते हैं। 'आँसू' कवि की वैयक्तिक अनुभूति है। 'आँसू' का आदर्श बहुत ऊँचा है—उस तक पहुँच पाना हँसी-खेल नहीं है। देवसेना और मालविका के अतिरिक्त प्रसाद जी का कोई पात्र 'आँसू' के आदर्श तक नहीं पहुँच सका है। देवसेना और मालविका का कवि से पृथक् अस्तित्व नहीं जान पड़ता। नाटक की कथा-वस्तु में विशेष योग न देकर भी वे पाठकों के हृदय पर अधिकार कर लेती हैं।

'एक घूँट' की वनलता का यह कथन भी हमारे विचारों की पुष्टि करता है—"मैं जिसे प्यार करती हूँ वही—केवल वही व्यक्ति—मुझे प्यार करे, मेरे हृदय को प्यार करे, मेरे शरीर को—जो मेरे सुन्दर हृदय का आवरण है—सतृष्ण देखे। उस रूप की प्यास से तृप्त न हो, एक एक घूँट वह पीता चले;

मैं भी पिया करूँ ।" अपने अन्तिम नाटक 'ध्रुव-स्वामिनी' में कवि ने तन और मन के समन्वय पर बहुत अधिक जोर दिया है । किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि कवि उस प्रेम का समर्थक है, जिसकी सफलता दो-चार बच्चे पैदा करने में और विफलता दो-चार बूँद आँसू बहाने में निहित होती है । प्रेम जीवन-संघर्ष की प्रेरक शक्ति है ।

नाटकों के गीत

सूखे पत्तों के गिरने की ध्वनि और नवीन कोंपलों के स्पन्दन के सरगम पर जब वासन्ती कोकिला गाने लगती है, तब हमारा मन एक अनिवर्चनीय पुलक से भर जाता है। हृदय के कोने से कोई जैसे कह उठता है—"अभी थक गये ? संघर्ष ही तो जीवन है" । और हम नवीन प्रेरणा पाकर लक्ष्य की ओर चल पड़ते हैं । प्रसाद के नाटकों का प्रत्येक पात्र यदि गायक नहीं है तो गान-विद्या से अनुराग अवश्य रखता है । गीतों की अधिकता कभी-कभी समालोचकों को भ्रम में डाल देती है और वे उन्हें अनावश्यक समझने लगते हैं ।

प्रसाद जी के गीतों की बन्दिश इतनी ठोस है कि किसी गीत को उसके उपयुक्त स्थान से हटाकर अन्यत्र नहीं रखा जा सकता । प्रत्येक गीत का उद्देश्य वातावरण स्पष्ट करना है । एक उदाहरण से स्थिति स्पष्ट हो जायगी । 'चन्द्रगुप्त' के द्वितीय अंक के सातवें दृश्य में अलका का एक गीत है—'बिखरी किरन अलक व्याकुल हो' । अलका सिंहरण को प्यार करती थी; किन्तु राष्ट्र-प्रेम की वेदी पर उसने अपना वैयक्तिक प्रेम उत्सृष्ट कर पर्वतेश्वर की प्रणयिनी बनना स्वीकृत किया । पर्वतेश्वर ने सिंहरण को बन्दीगृह से मुक्त करने तथा सिकन्दर की सहायता न करने का वचन दिया । सिंहरण को तो उसने मुक्त कर दिया, किन्तु सिकन्दर के आतंक से सहमकर वह अपनी दूसरी प्रतिज्ञा पूर्ण करने में अपने को असमर्थ पाने लगा । इस दृश्य

में वह अलका से अपनी परिस्थिति स्पष्ट करने आता है और उससे पूछता है--बतलाओ, मैं क्या करूँ ? अलका गाने लगती है। गीत की अन्तिम पंक्तियाँ है—

मन्दाकिनी समीप भरी फिर प्यासी आँखें क्यों नादान।
रूप-निशा की ऊषा में फिर कौन सुनेगा तेरा गान॥

सरसरी निगाह से देखने पर अन्यमनस्क अलका का यह गीत बहुत विचित्र-सा लगता है। किन्तु ध्यान देने से जान पड़ता है कि यदि इसे हटा दिया जाय तो पूरे दृश्य का महत्त्व ही नष्ट हो जायगा। यह गीत जितना अलका और पर्वतेश्वर के लिए सत्य है, उतना ही सिंहरण के लिए भी। मन्दाकिनी पास ही भरी है, किन्तु आँखें प्यासी हैं। लक्ष्य पास ही खड़ा राह देख रहा है, किन्तु पाँव उस ओर बढ़ते ही नहीं। कितनी विवशता है ! ऐसे गीतों को अनावश्यक बतानेवाले उनकी भावात्मक गहराई तक नहीं पहुँच पाते।

भारतीय वाद्य-यन्त्रों पर इन गीतों का सौन्दर्य निखर उठता है। 'स्कन्दगुप्त' का एक गीत है—

न छेड़ना उस अतीत स्मृति से खिंचे हुए वीन तार कोकिल।
करुण रागिनी तड़प उठेगी, सुना न ऐसी पुकार कोकिल॥

विहाग राग में सितार और तबले के साथ इसका गायन सुन्दर होगा। स्वरों के आरोह-अवरोह पर तैरता हुआ पाठक उसकी रसात्मक गहराई तक सहज ही में पहुँच सकता है।

आँसू

पत्तियों की हरीतिमा में जब चम्पा का फूल विहँस उठता है, तब रजनी उसके रूप पर रीझकर उसे शबनम का मुकुट पहना जाती है। सुहाग भरी

ऊषा आती है और विश्व के कण-कण में अनुराग बिखेर जाती है ! मलय के शीतल झकोरे मानव का मन छूकर उसे एक अनिवर्चनीय पुलक से भर जाते हैं। नयनों में स्नेह का सागर भरे प्रिय की राह देखते देखते प्रिया रसोई-घर में ही सो जाती है ! इतना रूप हमारे सामने बिखरा पड़ा है, पर न जाने क्यों हमें इससे सन्तोष नहीं होता। हमने स्वर्ग के उपवन की कल्पना की, रति और रम्भा की कल्पना की—रूप की प्यास बुझाने को धरती-आकाश एक कर दिया; पर कभी अपने हृदय का नन्दन-कानन झाँककर न देखा। समझ में नहीं आता कि हमारे संसार में किस वस्तु की कमी है, जिसके लिए हम दूसरे संसार का मुँह देखते हैं।

आँसू का एक छन्द है—

> शशि-मुख पर घूँघट डाले अंचल में दीप छिपाये।
> जीवन की गोधूली में कौतूहल से तुम आये॥

'आये' पुल्लिंग है, अतः आप चाहें तो इसे कबीर की साधना-पद्धति तक घसीट ले जा सकते हैं। किन्तु सुनिए, श्रद्धा मनु से क्या कह रही है—

> तुम्हारा सहचर बनकर क्या न उऋण होऊँ मैं बिना विलम्ब ?

और मनु श्रद्धा से कहते हैं—

> कौन हो तुम बसन्त के दूत...
> कब आये थे तुम चुपके से...
> जब लिखते थे तुम सरस हँसी...

कवि से यह आशा करना व्यर्थ है कि वह व्याकरण की पुस्तक खोलकर कविता लिखेगा। उर्दू साहित्य में प्रिया के लिए सर्वदा पुंलिंग प्रयोग ही किया जाता है। अंग्रेजी में क्रिया-पद तो ज्यों के त्यों रहते हैं, पर संज्ञा और सर्वनाम लिंग-भेद के अनुसार बदलते हैं। बीसवीं सदी के कवि पर दूसरी संस्कृतियों का प्रभाव तो पड़ेगा ही। एक बात और है। प्रसाद जी के पुंलिंग

सम्बोधन रूपसी के प्रति न होकर रूप के प्रति हैं। रूप भावना है, अतः उसमें लिंग-भेद का प्रश्न ही नहीं उठता।

संक्षेप में 'आँसू' का कथानक इस प्रकार है—एक था रूप और एक थी रूपसी। रूप के पास एक प्यार भरा हृदय था, जिसने अपने ही समान रूपसी का हृदय समझकर अपने को उसमें खो देना चाहा था। रूपसी 'छलना' थी। उसने रूप के 'मानस का सब रस पीकर प्याली लुढ़का दी।' रूप पुराने वैभव की याद कर आँसू बहाने लगा। अन्त में उसने अपनी वेदना का विश्व-वेदना से तादात्म्य स्थापित करके सन्तोष किया।

कामायनी

स्थिर मुक्ति, प्रतिष्ठा मैं वैसी नहीं चाहता इस जीवन की।
मैं तो अबाध गति मरुत सदृश, हूँ चाह रहा अपने मन की॥

मन (मनु) पहले कूल-हीन सरिता था। जिधर ढाल पाता था, उधर वह निकलता था। पथ का कोई निश्चित उद्देश्य न था। एकाकी तथा निर्बाध जीवन की उसे 'चिन्ता' थी। धीरे-धीरे 'प्रलय निशा का प्रात होने लगा' और 'उषा सुनहले तीर बरसाती जय-लक्ष्मी-सी उदित हुई।' मन में 'आशा' का संचार हुआ और उसे 'श्रद्धा' मिली। श्रद्धा मन का एक कूल बनी। कूल-हीन सरिता में कुछ संयम आया। किन्तु 'आनन्द' अभी दूर था। श्रद्धा को पाकर मन में 'काम' के भाव जागे और वह 'वासना' की तरंगों पर हिलोरें लेने लगा। मन के नयनों में वासना देखकर श्रद्धा ने अपने को 'लज्जा' के क्रोड़ में छिपा लेना चाहा। मन 'कर्म' की ओर उन्मुख हुआ। 'श्रद्धा' मन का एक ही कूल थी; इसी से उसे संयमित न कर सकी। किन्तु उसे संयमित करने का उसका प्रयत्न बराबर चलता रहा; और यही मन में 'ईर्ष्या' आने का कारण बना। मन श्रद्धा से विमुख होकर 'इड़ा' (बुद्धि) की ओर भागा। इड़ा के

सम्पर्क में आकर मन की (और इड़ा के प्रदेश की भी) भौतिक उन्नति हुई। किन्तु इड़ा भी श्रद्धा की भाँति मन का एक ही कूल बन सकी। जो श्रद्धा में था, वह इड़ा में न था; और जो इड़ा में था, वह श्रद्धा में न था। श्रद्धा को पाकर मन को जिस अभाव का अनुभव होता था, वह इड़ा थी। एक बार श्रद्धा से मनु ने कहा भी था—'जीवन के दोनों कूलों में बहे वासना धारा।' किन्तु यह दूसरा कूल क्या था, मन समझ न सका। मन को इड़ा के रूप में दूसरा कूल मिला भी, किन्तु वह एक कूल छोड़ आया था। यही कारण है कि मन इड़ा को पाकर भी श्रद्धा को भूल न सका।

मन इड़ा पर अधिकार चाहता था, जो उसके बस की बात न थी। श्रद्धा ने 'स्वप्न' में मन का यह 'संघर्ष' जान लिया। मन को बचाने के लिए श्रद्धा अपने पुत्र मानव के साथ चल पड़ी; किन्तु तब तक मन का पतन हो चुका था। अपनी सृष्टि अपने ही हाथों नष्ट कर देने से मन को 'निर्वेद' हुआ। श्रद्धा ने मन की परिचर्या की। इड़ा को अपने किये पर ग्लानि हुई। मन को अब दोनों कूल मिल चुके थे; किन्तु स्नेह (श्रद्धा के प्रति), ग्लानि (अपने कार्यों के प्रति) और घृणा (इड़ा के प्रति) के ऊहापोह में निर्वेद इतना दृढ़ हुआ कि वह दोनों कूल छोड़कर भाग निकला। श्रद्धा इड़ा को अपना पुत्र (मानव) सौंपकर मन की खोज में चल पड़ी। श्रद्धा को मन के और मन को श्रद्धा के 'दर्शन' हुए। अब श्रद्धा ने मन को इच्छा, ज्ञान और क्रिया का 'रहस्य' समझाया। मन श्रद्धा के साथ जीवन के उच्चतम शिखर पर पहुँच चुका था। वहीं मानव के साथ इड़ा भी आ गई। मन को दोनों कूल मिले; और तब—

> सम-रस थे जड़ या चेतन
> सुन्दर साकार बना था;
> चेतनता एक विलसती
> आनन्द अखंड घना था।

कामायनी का दाम्पत्य जीवन

'हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर' शिला की शीतल छाँह में बैठा एक पुरुष भींगे नयनों से प्रलय-प्रवाह देख रहा है। वह तरुण तपस्वी-सा बैठा सुर-श्मशान का साधन कर रहा है। उसकी मर्म-वेदना करुणा विकल कहानी-सी निकल रही है। अतीत के सुख की वह जितनी ही अधिक चिन्ता करता है, अनन्त में दुःख की उतनी ही अधिक रेखाएँ बनती जा रही हैं। विकल वासना के प्रतिनिधि देव मुरझाकर चले गये और उनका उन्मत्त विलास मीठे स्वप्न-सा समाप्त हो गया। प्रकृति सदा, दुर्जेय रही है, किन्तु विलासिता के नद में तिरते देव मद में भूले थे।'

देवों की सृष्टि के विनाश का एक मात्र कारण मनु उनके विलास को ही मानते हैं। अपनी इस विचार-धारा में मनु ईसाई धर्म के उस सिद्धान्त के निकट जाते-से देख पड़ते हैं, जिसके अनुसार मनुष्य की उत्पत्ति पाप से मानी गई है। स्वस्थ प्रणय की प्यास कभी बुरी नहीं होती, पर मनु का अन्तर इसे स्वीकृत करने में झिझक-सा रहा है। 'आशा' की अन्तिम पंक्तियों तक आते आते वे जीवन के इस सत्य की ओर उन्मुख-से हैं—

> मैं भी भूल गया हूँ कुछ, हाँ स्मरण नहीं होता क्या था!
> प्रेम, वेदना, भ्रान्ति या कि क्या? मन जिसमें सुख सोता था!

मन प्रेम में ही सुख से सो पाता है। प्रेम से दूर हो जाने के कारण ही मनु के जीवन में भ्रान्ति और वेदना आई थी।

और इसी बीच उन्हें श्रद्धा 'घन तिमिर में बिजली की रेख' सी मिली। उसने मनु से पूछा—'संसृति जल-निधि तीर पर तरंगों से फेंकी मणि-से तुम कौन हो?' मनु ने बताया कि मैं हूँ 'वह पाखंड जो दौड़कर जलनिधि अंक में न मिल सका'। उनके दीन जीवन का संगीत तिमिर के गर्भ में नित्य बढ़ रहा है। उनका विश्वास है कि 'निरुपाय जीवन का परिणाम निराशा है।'

श्रद्धा ने कहा—'दुख के डर से भविष्य से अनजान बनकर, अज्ञात जटिलताओं का अनुमान कर तुम काम से झिझक रहे हो। जिसे तुम जगत की ज्वालाओं का मूल अभिशाप समझ बैठे हो, वही ईश का रहस्यमय वरदान है। अपनी इस मिथ्या कल्पना में तुम इतने अधीर हो गये हो कि जीवन का दाँव, जिसे वीर मरकर जीतते हैं, तुम हार बैठे हो। तुम्हारा यह करुण दीन अवसाद क्षणिक है। तपस्या नहीं, जीवन ही सत्य है। प्रकृति के यौवन का श्रृंगार बासी फूल कभी न कर सकेंगे।' श्रद्धा ने सोचा कि मनु 'अपने ही बोझ से दब रहे हैं; और कहीं अवलम्ब भी नहीं ढूँढ़ते'। उसने उनकी सहचरी बनने की ठान ली।

नर और नारी का यह आकर्षण शाश्वत है। मधु राका में नर के सामने नारी लाज और शील की साकार प्रतिमा-सी आती है। किन्तु जब दो प्राण मिलकर एक हो जाते हैं, तब उसकी लाज और शील नर में खो जाता है। नर की दशा उस समय उस अबोध बच्चे की सी हो जाती है, जो यह जान नहीं पाता कि जलधि-बेला पर बिखरे हुए रत्नों में से कितना मैं अपनी गुड़ियों की पिटारी में भर लूँ। प्रेम की माधुरी से नर का हृदय भींग जाता है। नारी के रूप का इतना समृद्ध कोष उसके सम्मुख एक-बारगी ही आ जाता है कि वह संकुचित हो जाता है; और तब नारी आगे बढ़कर उसे सहारा देती है। सीता और पार्वती को आप देवी कह लें, किन्तु दमयन्ती और सावित्री तो मानवी ही थीं!

मनु के नीलाकाश से 'वेदना' और 'भ्रान्ति' के बादल हटने लगे और उन्होंने 'प्रेम' की शुभ चन्द्रिका के दर्शन किये। वे इतना ही कह सके—

> आज ले लो चेतना का यह समर्पण दान।
> विश्व रानी सुन्दरी नारी जगत की मान॥

श्रद्धा का आकर्षण मनु के लिए इतना महान् है कि उसके लिए वे दम और संयम बनकर आनेवाली सभी बाधाओं को चुनौती दे डालते हैं।

यहाँ इस आकर्षण का रहस्य समझ लेना भी आवश्यक है। मनु श्रद्धा के बाह्य रूप पर ही आकर्षित होते हैं। उनकी प्यास रूप की प्यास है। यही कारण

है कि 'संघर्ष' तक वे श्रद्धा का प्यार भरा हृदय न समझ सके। बाह्य रूप पर रीझनेवाले लोग सरल नारी का हृदय कभी समझ नहीं सकते। उन्हें तो गुत्थियाँ ही प्रिय होती हैं। और जब नारी में उन्हें गुत्थियों का अभाव दिखाई पड़ता है, तब नारी को वे माया, छलना और न जाने क्या क्या कहना प्रारम्भ कर देते हैं।

नारी का प्रेम निःस्वार्थ होता है। पुरुष का अहं उसके प्रेम के पथ में काँटे का काम करता है। वह अपने को नारी में खो नहीं पाता; और न वह यही चाहता है कि नारी मुझ में अपने को खो दे। पुरुष 'समता के धरातल' का प्रेम चाहता है—चाहता है कि नारी उससे रूठे, और वह मनावे। इसी रूठने और मनाने की भित्ति पर सुखमय दाम्पत्य जीवन का प्रासाद खड़ा होता है।

जीवन-सहचरी के रूप में श्रद्धा को स्वीकृत करने की कामना भी मनु की अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की सिद्धि ही है। 'किलात' और 'आकुलि' द्वारा आयोजित यज्ञ में श्रद्धा का अभाव मनु को ईर्सा लिए अखरा—

जिसका था उल्लास निरखना, वही अलग जा बैठी...
श्रद्धा रूठ गई तो क्या फिर उसे मानाना होगा?
या वह स्वयं मान जायेगी किस पथ जाना होगा?

यहाँ भी अहं मनु का साथ नहीं छोड़ता। इसके विपरीत, श्रद्धा का मनु की ओर आकर्षण त्याग की पृष्ठ-भूमि पर है—

इस अर्पण में कुछ और नहीं, केवल उत्सर्ग छलकता है।
मैं दे दूँ और न फिर कुछ लूँ, इतना ही सरल झलकता है॥

नारी जीवन में एक बार—केवल एक बार समर्पण करती है; और चाहती है कि मेरा समर्पण शाश्वत रहे। श्रद्धा मनु को समर्पण कर पूछती है—

क्या समर्पण आज का हे देव?
बनेगा चिर बंध नारी-हृदय हेतु सदैव?

नर और नारी के स्वार्थ और त्याग का संघर्ष मनु और श्रद्धा के मधुर दाम्पत्य जीवन में विष बन जाता है। मनु चाहते हैं—

आकर्षण से भरा विश्व यह केवल भोग्य हमारा
जीवन के दोनों कूलों में बहे वासना धारा...
मादकता दोला पर प्रेयसि आओ मिलकर झूलो।

दो दिन के जीवन के अपने सुख को ही मनु सब कुछ मान लेते हैं; किन्तु श्रद्धा को चिन्ता है—

अपने में सब कुछ भर कैसे व्यक्ति विकास करेगा?

वह मनु को समझाती है—

औरों को हँसते देखो, मनु हँसो और सुख पाओ।

मनु को अपनी भूल ज्ञात हो गई। उन्होंने कहा—

वही करूँगा जो कहती हो, सत्य अकेला सुख क्या!

इसी पर उनका मधुर कलह समाप्त हो जाता है; और तब—

आँखें प्रिय आँखों में डूबे अरुण अधर थे रस में।
हृदय काल्पनिक विजय में सुखी चेतनता नस-नस में॥

इसी भाँति रूठते-मनाते श्रद्धा माँ बनती है। मनु श्रद्धा से फिर खिंचे-खिंचे-से रहने लगते हैं। उनका 'अधीर मन अपने प्रभुत्व की सुख-सीमा खोज रहा है।' मृगया के अतिरिक्त उन्हें और कोई काम नहीं है। श्रद्धा के मातृत्व से उन्हें शिकायत है—

आती है वाणी में न कभी वह चाव भरी लीला हिलोर।

मनु मृगया को चले जाते हैं। श्रद्धा उनकी राह देखती हुई तकली के सरगम पर गा रही है—

चल री तकली धीरे धीरे प्रिय गये खेलने को अहेर।

तकली से धीरे-धीरे चलने को वह इसलिए कहती है कि उसका मनु अहेर से न जाने कब तक लौटे। जब तक वह वापस लौट नहीं आता, उसे तकली कातनी ही है। मृगया से थककर मनु लौटते हैं। श्रद्धा पूछती है—

तुमको क्या ऐसी कमी रही जिसके हित जाते अन्य द्वार?

पत्नी नहीं चाहती कि मेरा पति जहाँ-तहाँ भटकता फिरे। जीवन के संघर्षों में उसका स्नेह अभेद्य कवच बनकर पति के साथ रहता है।

श्रद्धा को मनु की हिंसा-वृत्ति तनिक भी नहीं सुहाती। वह चाहती है—

चमड़े उनके आवरण रहें, ऊनों से मेरा चले काम।

हिंसा उसे अच्छी भी क्यों लगे? वह माँ बननेवाली जो है! भावी पुत्र की कल्पना से वह झूम उठती है—

वह आवेगा मृदु मलयज-सा लहराता अपने मसृण बाल,
उसके अधरों से फैलेगी नव मधुमय स्मिति-लतिका प्रवाल।

मनु श्रद्धा पर एकाधिकार चाहते हैं। श्रद्धा का सुख उनकी ईर्ष्या का कारण बन जाता है। वे स्पष्ट कह देते हैं—

तुम फूल उठोगी लतिका-सी कंपित कर सुख-सौरभ-तरंग
मैं सुरभि खोजता भटकूँगा वन-वन बन कस्तूरी-कुरंग।...
मायाविनि! मैं न उसे लूँगा वर-दान समझकर, जानु टेक!

श्रद्धा 'रुक जा, सुन ले ओ निर्मोही!' कहती ही रही, पर मनु चले गये। जलधि की उत्ताल तरंगें भी मनु की वासना की प्यास नहीं बुझा सकती थीं। श्रद्धा को प्यासी कामुक आँखों से देखनेवाले मनु उसके मातृत्व का सौन्दर्य न परख सके। श्रद्धा का सर्वस्व पाकर भी मनु इसलिए उसके न हो सके कि उन्होंने उसकी 'जड़ देह मात्र पाई'—उसके सौंदर्य-जलधि से उन्होंने केवल अपना 'गरल पात्र ही भरा।' डाली में काँटों के साथ फूल भी खिलते हैं। अपनी रुचि से जो जिसे चाहे, चुन ले।

श्रद्धा से निराश मनु इड़ा की 'तर्क-जाल सी बिखरी अलकों' में उलझ जाते और उससे अपने 'जीवन का सहज मोल' पूछने लगते हैं। प्रश्न उठता है कि श्रद्धा का सरल हृदय ठुकराने की मनु को क्या पड़ी थी? उत्तर स्पष्ट है। पुरुष नारी से केवल पाना ही नहीं चाहता, उसे देने को भी उसके पास बहुत-कुछ होता है। प्रेम की सफलता परस्पर आदान-प्रदान में ही है। बहुधा सुरूपा और पतिव्रता स्त्रियों के पतियों के भी अवैध सम्बन्ध पाये जाते हैं; क्योंकि उनकी पत्नियाँ दाम्पत्य जीवन की समता के प्रति उदासीन रहती हैं। श्रद्धा के प्रति मनु की उदासीनता का भी यही रहस्य है। श्रद्धा चाहती है-'मैं दे दूँ और न फिर कुछ लूँ'; किन्तु मनु 'जीवन के मधुर भार' सँभालने को तैयार न थे। श्रद्धा को उनके जीवन का 'मधुर भार' लेना चाहिए था, किन्तु उसने न लिया। उसके पास प्रदान था, आदान नहीं। यही श्रद्धा के प्रेम की विफलता का कारण है।

मनु ने इड़ा के साथ सारस्वत नगर बसाया। अज्ञात सुखों की मृग-मरीचिका में ज्ञात सुखों को ठुकराकर मनु ने इड़ा को अपना बनाना चाहा। पर वह श्रद्धा की भाँति मनु की वासना के दीपक पर शलभ बनने को तैयार न थी। इसी संघर्ष के फल-स्वरूप प्रजापति मनु का पतन हुआ।

श्रद्धा ने 'स्वप्न' में मनु का पतन जान लिया। विरह ने मनु के प्रति उसके अनुराग की वृद्धि ही की थी। आदर्श पत्नी की भाँति वह अपने पुत्र के साथ मनु को ढूँढ़ने चल पड़ी। मनु के व्यवहार का उसे तनिक भी खेद नहीं है। वह अपने को ही दोषी मानती है—

रूठ गया था अपनेपन से अपना सकी न उसको मैं,
वह तो मेरा अपना ही था, भला मनाती किसको मैं!

ढूँढ़ते ढूँढ़ते इड़ा से उसकी भेंट होती है; और उसके साथ वह यज्ञ की वेदी तक जाती है। वेदी की ज्वाला धधकने पर वह घायल मनु को देखती है। उसका देवता मिला भी तो इस दशा में! श्रद्धा ने मनु की परिचर्या की; किन्तु वे अपने को क्षमा न कर सके और फिर भाग गये।

इड़ा की ग्लानि दूर करने के लिए श्रद्धा ने अपना पुत्र उसे दे दिया—वही पुत्र, जिसके लिए उसने प्रियतम का वियोग भी सिर-माथे पर ले लिया था! अन्त में वह मनु को पा लेती है। 'आँसू से भींगे आँचल पर मन का सब कुछ रखकर, 'अपनी स्मित रेखा से संधि-पत्र लिखने' वाली श्रद्धा से मनु कभी दूर न जा सके। उनका अहं श्रद्धा के प्रति आत्म-समर्पण न करने देता था। जब वे अपना अहं भूलकर श्रद्धामय हो गये, तब—

सम-रस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था।
चेतनता एक विलसती
आनन्द अखंड घना था।

प्रकृति

प्रसाद का प्रकृति-वर्णन न तो आलम्बन है और न उद्दीपन। रूप की प्यास प्रकृति में घुल-मिलकर उसका एक अंग बन गई है। वैसे प्रकृति के आलम्बन और उद्दीपन चित्र भी प्रसाद-काव्य में ढूँढ़े जा सकते हैं; किन्तु प्रमुखता प्रकृति के नारी-रूप के चित्रों की ही है। कला की दृष्टि से भी ये चित्र बहुत उत्कृष्ट हैं।

संयोग के उद्दीपन चित्रण में कवि ने प्रकृति का माधुर्य देखा है। रीति-काल के चित्रों में नामों की सूची ही मिलती है; किन्तु प्रसाद जी के प्रकृति-वर्णन में कवि का मन उसकी माधुरी से भींग गया है—

देवदारु निकुंज गह्वर सब सुधा में स्नात;
सब मनाते एक उत्सव जागरण की रात।...
मधु बरसती विधु किरन है काँपती सुकुमार;
पवन में है पुलक मंथर, चल रहा मधु-भार।

'उर्वशी चम्पू' में वियोग के उद्दीपन रूप में प्रकृति के जो चित्र मिलते हैं, उनपर रीति-युग का पूरा प्रभाव है—

किंशुक औ कचनार की डार पै
फूल खिले ये अँगार बगारत।
कूकि के क्वैलिया कूर कुरूप री
हाय हिये को दु टूक कै डारत।

किन्तु 'कामायनी' का कवि हमें करुणा की रसात्मक गहराई तक ले जाता है। एक उदास संध्या का चित्र देखिए—

क्षितिज भाल का कुंकुम मिटता मलिन कामना के कर से;
कोकिल की काकली वृथा ही अब कलियों पर मँडराती।

प्रसाद का कवि और प्रकृति दोनों मिलकर एक हो गये हैं। 'खोलो द्वार' शीर्षक कविता की प्रारम्भिक पंक्तियाँ प्रकृति के आलम्बन चित्र-सी जान पड़ती हैं; किन्तु अन्तिम पंक्तियों तक पहुँचते-पहुँचते लगता है कि मानों शिशिर कणों से कमली के तार ही नहीं भींगे हैं, कवि का मन भी भींग गया है।

सौंदर्य-निरूपण के लिए कवि ने कहीं-कहीं प्रकृति से भी सहायता ली है—

चाँदनी के अंचल में
हरा भरा पुलिन अलस नींद ले रहा।
सृष्टि के रहस्य सी देखने को मुझको
तारिकायें झाँकती थीं।...
खिली स्वर्ण-मल्लिका की सुरभित वल्लरी-सी
गुर्जर के थाले में मरन्द वर्षा करती मैं।

विरहिणी की मनोदशा दिखाने के लिए भी प्रकृति की सहायता ली गई है—

कामायनी कुसुम वसुधा पर पड़ी न वह मकरंद रहा;
एक चित्र बस रेखाओं का, अब उसमें है रंग कहाँ!

यह प्रभात का हीन-कला शशि, किरन कहाँ चाँदनी रही,
वह संध्या थी, रवि शशि तारा ये सब कोई नहीं जहाँ।

× × ×

हरित कुंज की छाया भर थी वसुधा आलिंगन करती,
वह छोटी-सी विरह नदी थी जिसका है अब पार नहीं।

वातावरण स्पष्ट करने के लिए भी बीच-बीच में प्रकृति-चित्र आये हैं—

एक छलना-सी सजने लगी थी सन्ध्या में।
कृष्णा वह आई फिर रजनी भी
खोलकर ताराओं की विरल दशन-पंक्ति
अट्टहास करती थी दूर मानो व्योम में।
जो सुन न पड़ा अपने ही कोलाहल में।

प्रकृति का नारी-रूप में चित्रण

मानवी का रूप पाकर प्रकृति का सौन्दर्य निखर उठा है। विभावरी बीती और—

अम्बर पनघट में डुबो रही
तारा घट ऊषा नागरी।
खग-कुल कुल-कुल सा बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा,
लो यह लतिका भी भर लाई—
मधु मुकुल नवल रस गागरी।

ऊषा की आँखों में 'मादकता भरी ललाई' का रहस्य भी सुन लीजिए—

कहता दिगन्त से मलय पवन,
प्राची की लाज भरी चितवन—

है रात घूम आई मधुबन,
यह आलस की अँगड़ाई है।

जल-प्लावन के बाद सिन्धु की लहरें चीरकर भूमि के निकलने की प्रक्रिया को कवि ने नव-वधू का रूपक दिया है—

सिंधु-सेज पर धरा-वधू अब तनिक संकुचित बैठी सी;
प्रलय निशा की हलचल स्मृति में मान किये सी, ऐंठी-सी।

'आशा' सर्ग में रजनी का नवोढ़ा नायिका के रूप में बहुत सुन्दर चित्रण हुआ है—

विकल खिलखिलाती है क्यों तू? इतनी हँसी न व्यर्थ बिखेर;
तुहिन कणों, फेनिल लहरों में मच जावेगा फिर अंधेर।...
पगली हाँ सम्हाल ले कैसे छूट पड़ा तेरा अंचल;...
फटा हुआ था नील वसन क्या ओ यौवन की मतवाली!
देख अकिंचन जगत लूटता तेरी छवि भोली-भाली।

इन पंक्तियों में रजनी के सौन्दर्य के साथ-साथ मनु की ऐन्द्रिक भूख भी साकार हो उठी है। क्या अच्छा होता यदि प्रकृति के आलम्बन-चित्रण पर जोर देनेवाले उसका यह उद्दीपन सौन्दर्य देख पाते!

प्रसाद का आनन्दवाद

आनन्द वह केन्द्र है जिसकी परिधि पर सारा ब्रह्माण्ड घूमता है। इन्हीं साढ़े तीन अक्षरों में सब-कुछ है। यदि यह 'साढ़े तीन हाथ का घर' मिल जाय तो फिर हमें 'पौने चार' की भी आवश्यकता न हो। प्रश्न यह है कि आनन्द इसी संसार की वस्तु है या किसी दूसरे संसार की? दूसरे शब्दों में, हम उसे इस संसार के लिए चाहते हैं या किसी दूसरे संसार के लिए? संसार के वैभव

और विलास से मुँह मोड़कर भाग जाना शोभा नहीं देता। हमारा यह पलायन तब और भी अशोभन हो जाता है, जब उसका कारण किसी दूसरे लोक में वैभव और विलास की प्राप्ति होती है। अज्ञात सुखों की मृग-मरीचिका में ज्ञात सुखों की उपेक्षा करने का रहस्य समझ में नहीं आता। माना कि ब्रह्मानन्द आनन्द का उच्चतम उत्कर्ष विन्दु है; किन्तु हम यह कैसे भूल जायँ कि आनन्द ब्रह्मानन्द की पहली सीढ़ी है? ब्रह्मानन्द है या नहीं, यह भी हम नहीं जानते। उसका अनुमान तो हमें आनन्द से ही होता है।

प्रसाद का आनन्दवाद किसी दूसरी दुनियाँ की वस्तु न होकर इसी दुनियाँ (जिसमें हम खेलते, खाते हैं, जिससे हम बने हैं और जिसमें हम मिट जाते हैं) की वस्तु है। जब कवि अपने नाविक से भुलावा देकर वहाँ ले चलने को कहता है 'जहाँ सागर-लहरी कोलाहल की अवनी तजकर अम्बर के कानों में निश्छल प्रेम-कथा' कहती है; और—

> जहाँ साँझ-सी जीवन-छाया, ढीले अपनी कोमल काया।
> नील नयन से ढुलकाती है, ताराओं की पाँति घनी रे।

तो उसका आशय संसार से पलायन करने का नहीं होता। वह तो अपने अहं को संसार की संकीर्ण परिधि से ऊँचा उठाकर उसके लिए पथ-निर्देश करना चाहता है। रोटी जीवन के लिए बहुत-कुछ हो सकती है, पर सब-कुछ नहीं। प्रसाद के आनन्दवाद में रोटी की समस्या का निदान न मिले, यह दूसरी बात है; किन्तु जहाँ तक जीवन की सार्वभौम और शाश्वत समस्याओं का प्रश्न है, कवि ने उनका सुन्दर समाधान प्रस्तुत किया है। कामायनी का आदर्श हम देख चुके हैं। 'एक घूँट' का अन्तिम गीत है—

> तरु लतिका मिलते गले, सकते कभी न छूट।
> उसी स्निग्ध छाया तले, पी लो न एक घूँट॥

वह एक घूँट 'प्रेम' का है, चाहे उसे वैयक्तिक प्रेम कहिए, चाहे राष्ट्र-प्रेम और चाहे मानवता का प्रेम। प्रेम प्रत्येक दशा में प्रेम ही रहेगा। कितनी

विडम्बना है कि हम संज्ञा का महत्त्व भूलकर अपने रचे हुए विशेषण ही संज्ञा से पहले रखते हैं !

'कामना' भौतिकता के पीछे दौड़नेवाले विश्व के मुँह पर एक करारा थप्पड़ है । इस भाव-नाट्य का कथानक संक्षेप में इस प्रकार है—सच-झूठ और पाप-पुण्य से अनभिज्ञ 'तारों की सन्तानें' विलास के बहकाने से सुरा और स्वर्ण के माया-जाल में पड़कर पथ-भ्रष्ट होती हैं । 'कामना' रानी बनती है और 'विलास' मंत्री । देखते देखते लूट और हत्या का बाजार गर्म हो जाता है। स्थिति यहाँ तक बिगड़ती है कि पुत्र पिता से मदिरा माँगने लगता है और माँ से गाने का आग्रह करने लगता है । अन्त में 'विवेक' और 'सन्तोष' के नेतृत्व में सफल विद्रोह होता है और 'विलास' तथा 'लालसा' अनन्त समुद्र में – काल के काले पर्दे में—कहीं स्थान खोजने चले जाते हैं ।

'कामना' में 'विवेक' कहता है । अपराध और अच्छे कर्म क्या हैं, यह हम नहीं जानते । हम खेलते हैं और खेल में एक दूसरे के सहायक होते हैं । इसमें न्याय का कोई कार्य नहीं । पिता अपने बच्चों का खेल देखते होते हैं; फिर कोप क्यों ? मनुष्य की उत्पत्ति कैसे हुई, यह भी 'कामना' के कवि के मुख से सुन लीजिए—"जिस समय विलोड़ित जल-राशि स्थिर होने पर यह द्वीप ऊपर आया, उसी समय हम लोग शीतल तारिकाओं की किरणों की डोरी से नीचे उतारे गये ।···पिता ने खेल के लिए यहाँ भेज दिया ।···अपने शीतल पथ से तारों की सन्तान अपने खेल समाप्त कर उसी में चली जाती है ।"

इतनी सरल भाषा में जीवन-दर्शन समझानेवाले कवि को यदि हम पलायनवादी कहें, या उसके काव्य में प्रसाद गुण का अभाव कहें तो हमारा मुँह कौन बन्द कर सकता है ? प्रसाद की इन कटु आलोचनाओं में सत्यांश कितना है, यह तो पाठक ही बता सकेंगे ।

आनन्द की उपलब्धि प्राकृतिक जीवन में होती है । दूसरे शब्दों में, प्रकृति से हमें जो विभूतियाँ मिली हैं, उन्हीं से हम सन्तोष करें । जीवन-

सरिता जिस निश्चित दिशा की ओर बह रही है, उधर बहने दें—बाँध बाँधकर उसका जल गन्दा न करें, बस यही आनन्द है।

सुख-दुःख

सुख और दुःख की आँख-मिचौनी का ही नाम जीवन है। सुख में हमें दुःख का आभास भी नहीं होता। दीपक के तले का अँधेरा हम देख नहीं पाते। उसका प्रकाश हमारी आँखों में इस तरह भर जाता है कि हम जान ही नहीं पाते कि यह कल्याणी ज्योति बुझ भी सकती है—प्रकाश हमसे छिन भी सकता है। जिसे सच्चे अर्थों में जीवन कहा जा सकता है, वह न तो सुख है और न दुःख; वह तो सुख और दुःख का समन्वय है। तभी तो प्रसाद कहते हैं—

> मानव जीवन वेदी पर परिणय हो विरह मिलन का।
> सुख दुख दोनों नाचेंगे है खेल आँख का, मन का॥

सुख और दुःख के सम्बन्ध का ही दूसरा नाम सम-रसता है। शिवजी की भाँति अमृत और विष दोनों समान भाव से ग्रहण करने चाहिएँ। जब ज्ञान, कर्म और इच्छा तीनों एक बिन्दु पर मिल जाते हैं, तभी आनन्द की प्राप्ति होती है।

नियति

साधारण बोल-चाल में नियति से हमारा तात्पर्य भाग्य या दुर्दैव से होता है। किन्तु प्रसाद जी ने 'नियति' शब्द का प्रयोग विशिष्ट अर्थ में किया है। उनकी नियति न तो भाग्य का पर्याय है और न दुर्दैव का। उनकी नियति में विश्व के सृजन और संहार की शक्ति है। नियति कार्य और कारण का नियमन करती है। सृष्टि के प्रत्येक कार्य-व्यापार के मूल में उसी की प्रेरणा है।

नियति को सर्व-शक्तिमान् मान लेने से यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक

ही है कि प्रसाद के नियतिवाद में मानव का क्या स्थान है ? इसे शतरंज के खेल के उदाहरण से सरलता से समझा जा सकता है । शतरंज के खेल में दो खेलाड़ी होते हैं; और उनमें का प्रत्येक खेलाड़ी अपनी 'चालों' के लिए दूसरे खेलाड़ी पर आश्रित रहता है । सृष्टि नियति और मानव के शतरंज का खेल है । नियति इस खेल में मानव से अधिक पटु है सही, किन्तु मानव अपने विवेक से उसे जीत भी सकता है ।

प्रसाद का नियतिवाद मानव को अकर्मण्य नहीं बनाता । 'जीवन पतंग' का जलना देखकर ही तो अशोक 'संसृति के क्षत-विक्षत' पगों में 'अनुलेप सदृश' लगा था; और नियति से बार-बार जय-पराजय पाकर ही मनु को आनन्द की उपलब्धि हुई थी ।

पूर्वा

आँसुओं के साज पर
यदि थिरकती मुस्कान को तुम जान लो
तो जान सकते हो 'निराला' को
कि जिसके गान फूटे
सरित की आकुल लहर से
आई जो 'अंध पथ पार कर'
'प्रात' सिन्धु 'द्वार पर'।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

जन्म—माघ शुक्ल ५ (वसन्त पंचमी) सं० १९५३

श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' (वास्तविक नाम सूर्यप्रसाद त्रिपाठी) का जन्म महिषादल (मेदिनीपुर, बंगाल) में एक मध्यम वर्गीय कान्यकुब्ज ब्राह्मण परिवार में हुआ था। आपके पूर्वज उन्नाव के मढ़को नामक गाँव के निवासी थे, किन्तु आपके पिता पं० रामसहाय त्रिपाठी महिषादल स्टेट में नौकरी करते थे। दाएँ पैर का मुड़ा हुआ अँगूठा आपके बचपन के फुटबाल-प्रेम का साक्षी है। कुश्ती, घुड़-सवारी और संगीत का आपको बचपन से शौक था। हिन्दी की प्रारम्भिक शिक्षा आपने अपनी पत्नी स्वर्गीया मनोहरा देवी से पाई थी। संस्कृत, बँगला और अंग्रेजी साहित्य पर आपका समान अधिकार है।

कवि निराला के निर्माण में सुश्री मनोहरा देवी और मतवाला-सम्पादक स्वर्गीय बाबू महादेवप्रसाद सेठ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अपने जीवन में कवि को जितनी करुण परिस्थितियों से होकर गुजरना पड़ा है, उतनी करुण परिस्थितियों में संसार का कदाचित् ही कोई कवि पला हो। बाइस वर्ष की अवस्था में ही नियति ने माता, पिता, पत्नी, भाई, भाभी आदि सगे-सम्बन्धियों को छीनकर आपको जीवन्मुक्त बना दिया था। पैतृक सम्पत्ति के नाम पर आपको लेखनी मिली; और सम्पादकों से मिला 'सधन्यवाद वापस' का प्रमाणपत्र !

कवि के जीवन का संवल सरस्वती की अर्चना मात्र है। यों यदि कोई चाहे तो उसे जीविका का माध्यम भी कह सकता है। आपको विधाता से करोड़पति का हृदय और कंगाल का 'पर्स' मिला है। 'गीतिका' के कवि को अपने गीतों की स्वर-लिपि तैयार करने के लिए हारमोनियम भी नहीं मिलता।

रचनाएँ—परिमल, गीतिका, अनामिका, तुलसीदास, कुकुरमुत्ता, अणिमा, बेला, नये पत्ते, अर्चना आदि।

बिजली के पंखे के नीचे बैठकर श्रमिक वर्ग की निरीहता का वर्णन करना और बात है; और स्वतः उसकी अनुभूति कर उसकी आत्मा की गहराइयों में पैठना कुछ और बात। 'निराला' का जीवन ही काव्य है। उनके शैशव ने राष्ट्रोत्थान का स्वप्न लिये, देश के नौनिहालों को स्वतन्त्रता की वेदी पर मिटते हुए देखा; और उनका वृद्ध शरीर भविष्य का कोहरा फाड़कर भारत को शान्ति के प्रतीक और जगत्‌गुरु के रूप में देख रहा है। वेदना उनके जीवन में कूट-कूटकर भरी है। धन के अभाव में, पथ्य और उपचार के बिना प्रियतमा और नयन-तारिका कन्या सरोज को अन्तिम साँसें लेते हुए उन्होंने देखा है। जो पूँजीवाद तपेदिक के कीटाणुओं की भाँति भारत के हृदय में घुसा है, वह निराला के सिर पड़ चुका है। 'सरोज-स्मृति' में उनकी मूक वेदना मुखर उठी है—

लखकर अनर्थ आर्थिक पथ पर
हारता रहा मैं स्वार्थ-समर।
शुचिते, पहनाकर चीनांशुक
रख सका न तुझे अतः दधि-मुख।

लक्ष्मी और सरस्वती के संघर्ष में निराला जी ने प्रथम स्थान सरस्वती को ही दिया है। उन्हें मिला हुआ दरिद्रता का अभिशाप हिन्दी साहित्य के लिए वर-दान सिद्ध हुआ। उन्हें अपनी गरीबी पर गर्व है—

क्षीण का छीना कभी न अन्न
मैं लख न सका वे दृग विपन्न।
अपने आँसुओं अतः बिम्बित
देखे हैं अपने ही मुख-चित।
सोचा है नत हो बार बार—
"यह हिन्दी का स्नेहोपहार।
यह नहीं हार मेरी, भास्वर,
यह रत्न-हार—लोकोत्तर वर!"

निराला जी के घर का चित्र महादेवी जी के शब्दों में देखिए—

"आले पर कपड़े की आधी जली बत्ती से भरा, पर तेल से खाली मिट्टी का दिया मानो अपने नाम की सार्थकता के लिए ही जल उठने का प्रयास कर रहा था। यदि उसके प्रयास को स्वर मिल सकता तो वह निश्चय ही हमें मिट्टी के तेल की दूकान में लगी भीड़ में सबसे पीछे खड़े, पर सबसे बालिश्त भर ऊँचे, गृह-स्वामी की दीर्घ, पर निष्फल प्रतीक्षा की कहानी सुना सकता। रसोई घर में दो तीन अध-जली लड़कियाँ, औंधी पड़ी बटलोई और खूँटी से लटकती हुई आटे की छोटी सी गठरी आदि मानो उपवास-चिकित्सा के लाभों की व्याख्या कर रहे थे।···जिसकी निधियों से साहित्य-कोष समृद्ध है, उसने मधुकरी माँगकर जीवन निर्वाह किया है, इस कटु सत्य पर आनेवाले युग विश्वास कर सकेंगे, कहना कठिन है।"

प्रेम

मेरे कवि ने देखे तेरे स्वप्न सदा अविकार,
नहीं जानती क्यों तू मुझको करती इतना प्यार !
तेरे सहज रूप से रँग कर
झरे गान से मेरे निर्झर
स्वर से मेरे सिक्त हुआ संसार !

अन्य कवियों की प्रेम-भावना का जो उत्कर्ष-बिन्दु है, वहीं से निराला जी की प्रेम-भावना का प्रारम्भ होता है। दो अबोध हृदयों का सहज आकर्षण, आकर्षण के फल-स्वरूप मिलन की प्यास, मानस का अन्तर्द्वन्द्व, तथा लाज और आनन्द के संकल्प-विकल्प आदि के प्राथमिक क्रिया-कलापों का निराला-काव्य में सर्वथा अभाव देख पड़ता है। जहाँ 'मैं' और 'तुम' अपना अस्तित्व एक

दूसरे में खोकर 'हम' बन जाते हैं, वहीं से कवि की प्रेम-भावना का प्रारम्भ होता है। साध्य की उपलब्धि के पश्चात् पथ और पाथेय की आवश्यकता नहीं रहती—मिलन के स्वाभाविक आह्लाद में शान्ति और पिपासा खो जाती है। कवि ने अपनी प्रिया को किस रूप में देखा है, यह उसी से सुनिए—

मेरे इस जीवन की है तू सरस साधना कविता,
मेरे तरु की है तू कुसुमित प्रिये कल्पना-लतिका;
मधुमय मेरे जीवन की प्रिय है तू कमल-कामिनी,
मेरे कुंज-कुटीर-द्वार की कोमल चरण-गामिनी;

साधक को साध्य से साधना अधिक प्यारी होती है। कवि की प्रिया का स्वरूप देखने को पाठक उत्सुक होंगे। कविता की अगली पंक्तियाँ हैं—

नूपुर मधुर बज रहे तेरे,
सब शृंगार सज रहे तेरे,
अलक-सुगन्ध मन्द मलयानिल धीरे-धीरे ढोती,
पथ-श्रांत तू सुप्त कान्त की स्मृति में चलकर सोती।

दो जीवन-धाराओं के संगम के पश्चात् उनकी गति में मन्थरता आ जाती है। सरस्वती उसके हृदय के अन्तराल में बहने लगती है—

विवश नयनोन्माद वश हँस कर तकी,
देखती ही देखती री मैं थकी,
अलस पग मग में ठगी सी रह गई,
मुकुल व्याकुल श्री-सुरभि वह कह गई—
"सुमन भर न लिये, सखि वसन्त गया।"

वसन्त के आगमन की अनुभूति तो होती है, किन्तु उसके जाने की नहीं। एक-बारगी ही जब सुरभि प्राणों में समा जाती है, तब सुमन से

अपनी झोली भरने का ध्यान नहीं रहता; मन को विश्वास नहीं होता कि वसन्त जा भी सकता है।

प्रथम दर्शन का एक और चित्र देखिए—

नूपुर के सुर मन्द रहे,
चरण न जब स्वच्छन्द रहे।
उतरी नभ से निर्मल राका,
तुमने जब पहले हँस ताका,
बहु विधि प्राणों को झंकृत कर बजे छन्द जो बन्द रहे।

नायिका के धीरे चलने का कारण बताते हुए द्विजदेव ने लिखा है—

वह मन्द चलै किमि भोरी भटू पग लाखन की अँखियाँ अटकी।

'चरण न जब स्वच्छन्द रहे' भी 'नूपुर के सुर मन्द रहे' (धीरे चलने से) का कारण है; किन्तु इसकी भावात्मक पवित्रता तक पहुँच पाना हँसी-खेल नहीं है। चरणों के स्वच्छन्द न रहने में स्नेह और समाज का पुनीत बन्धन है, जिसका ध्यान आते ही पाठक की हृद्तंत्री के तार झंकृत हो उठते हैं। 'पग लाखन की अँखियाँ अटकी' के कवि ने रूप की चकाचौंध से पाठकों को चमत्कृत करना चाहा है; किन्तु 'निर्मल राका' की स्निग्ध ज्योत्स्ना का उसमें सर्वथा अभाव है।

इन दो अल्हड़ खेलाड़ियों को देखिए। एक पराजित होकर भी विजयी है और दूसरा विजयी होकर भी अपना सब कुछ हार बैठा है—

नयनों के ही साथ फिरे वे
मेरे घेरे नहीं घिरे वे
तुमसे चल तुम में ही पहुँचे
जितने रस आनन्द रहे।

आनन्द का वृत्त अन्तिम दो पंक्तियों में पूर्णता पा गया है।

यौवन का स्वाभाविक उन्माद इन पंक्तियों में देखिए—

बहने दो,
रोक-टोक से कभी नहीं रुकती है,
यौवन-मद की बाढ़ नदी की
किसे देख झुकती है ?

यदि कोई चंचल लहरों से उसके उन्माद का कारण पूछे तो वह बतावेगी—

नव जीवन की प्रबल उमंग,
जा रही मैं मिलने के लिए, पार कर सीमा,
प्रियतम असीम के संग।

और फिर महामिलन के पश्चात्—

आज हो गये ढीले सारे बन्धन,
मुक्त हो गये प्राण,

जीवन के वसन्त में जब शैशव की स्निग्ध ज्योत्स्ना से सिक्त मन को यौवन की रश्मियाँ हौले से छू जाती हैं, तो प्रेम मुस्करा उठता है; प्राण किसी पर सर्वस्व उत्सर्ग कर देने को आकुल हो जाते हैं; सफल प्रेम दाम्पत्य जीवन का स्वरूप धारण कर जीवन में मधु बरसा जाता है; और विफल प्रेम खारे पानी का झरना बनकर नयनों से फूट पड़ता है। विफल प्रेम की विवशता सामाजिक मर्यादाओं के बन्धन में और भी करुण हो जाती है। कवि के उद्-गार की स्वाभाविकता देखिए—

बाँधो न नाव इस ठाँव, बन्धु !
पूछेगा सारा गाँव, बन्धु !
यह घाट वही जिस पर हँसकर,
वह कभी नहाती थी धँसकर,
आँखें रह जाती थीं फँसकर,
कँपते थे दोनों पाँव बन्धु !

वह हँसी बहुत कुछ कहती थी,
फिर भी अपने में रहती थी,
सबकी सुनती थी, सहती थी,
देती थी सबके दाँव बन्धु !

यहाँ हमें न तो सामाजिक मर्यादाओं के प्रति विद्रोह की भावना मिलती है और न निराशोन्मुख वेदना ही। प्रिया एक मीठी कसक बनकर प्रियतम के हृदय में समाई हुई है। समय के प्रवाह से बचाकर इतनी निधि उसने अपने पास रख छोड़ी है, यही क्या कम है ! अब दूसरों को जताकर वह प्रिया को समाज की आँखों की किरकिरी नहीं बनाना चाहता।

मिलन और विरह के धूप-छाँही अवगुंठन में कवि वर्त्तमान में ही भविष्य की कल्पना कर लेता है—

एक दिन थम जायगा रोदन तुम्हारे प्रेम अंचल में,
लिपट स्मृति बन जायँगे कुछ कन-कनक सींचे नयन-जल में।

मिलन की पुनीत घड़ियों में विरह की कल्पना साधारण दृष्टि से देखने पर हास्यास्पद लग सकती है; पर कहने का ढंग तो देखिए—

फिर किधर को हम बहेंगे, तुम किधर होगे,
कौन जाने फिर सहारा तुम किसे दोगे ?

नायिका परकीया है। नायक अपने प्रति उसके प्रेम की सार्थकता स्वीकृत करता है। किन्तु फूल के काँटे-सी यह बात खटकती है कि एक और व्यक्ति (नायिका का पति) है जिसके प्रति उसका समान व्यवहार है। नारी के जीवन में केवल एक व्यक्ति के लिए स्थान है; इस कारण दो में से एक अवश्य धोखे में है। और फिर क्या प्रमाण है कि वे दो ही हैं ? इतना मानसिक अन्तर्द्वन्द्व कुछ शब्दों में ही कवि ने सहज भाव से व्यक्त कर दिया है। फिर भी विशेषता यह है कि तनिक भी अश्लीलता नहीं आने पाई। पर-

कीया-प्रेम का यह उत्कृष्टतम उदाहरण है। कविता की अन्तिम पंक्तियों की जिज्ञासा तो मन मोह लेती है—

हम अगर बहते मिले,
क्या कहोगे भी कि हाँ, पहचानते ?
या अपरिचित खोल प्रिय चितवन,
मगन बह जावगे पल में
परम प्रिय सँग अतल जल में ?

प्रथम दर्शन के प्रेम का आकर्षण, अतृप्त पिपासा और मिलन की मधुर कल्पना के रंगीन ताने-बाने हमें भाव-विभोर कर देते हैं। साहचर्य-जन्य प्रेम में कुछ समझने के लिए अवकाश ही नहीं रहता। हृदय अपनी सुकोमल भावनाओं का कब और कैसे आदान-प्रदान कर लेते हैं, इसका हमें पता ही नहीं चलता। साहचर्य-जनित प्रेम की मधुरिमा में चन्द्रिका की स्निग्धता रहती है; और प्रथम दर्शन के प्रेम में रश्मियों का प्रखर उल्लास। एक में नदी के संगम की गति की मन्थरता रहती है, दूसरे में वासना के झरने का उद्दाम विलास। प्रथम दर्शन का प्रेम बहुधा विफल हुआ करता है। शकुन्तला और दुष्यन्त की कहानी पाठक भूले न होंगे। साहचर्य-जन्य प्रेम नब्बे प्रतिशत सफल और स्थायी होता है। दाम्पत्य जीवन साहचर्य-जन्य प्रेम का प्रतीक है। भारतीय पत्नी का एक चित्र देखिए—

मनोमोहिनी है वह मनोरमा है,
जलती अन्धकारमय जीवन की वह एक शमा है।
वह है सुहाग की रानी,
भाव-मग्न कवि की वह एक मुखरिता-वर्जित वाणी।
सरलता ही से उसकी होती मनोरंजना,
नीरवता ही करती उसकी पूरी भाव-व्यंजना।

अधरों के क्षितिज पर लिप-स्टिक के लाल बादलों की कल्पना[१] जिनके मन में घर कर चुकी है, उन्हें शायद कवि का यह भावपूर्ण चित्र अच्छा न लगे। किन्तु नारी का सौन्दर्य तभी खिलता है, जब धूल भरा बालक उसकी लाल चूँदरी में मुँह छिपाकर अपने डिठौने से उसे गन्दा कर देता है। पति और पत्नी का सम्बन्ध इन पंक्तियों में देखिए—

> **यौवन-उपवन का पति-वसन्त,**
> **है वही प्रेम उसका अनन्त,**
> **है वही प्रेम का एक अन्त।**
> **खुलकर अति प्रिय नीरव भाषा ठण्ढी उस चितवन से**
> **क्या जाने क्या कह जाती अपने जीवन-धन से!**

संयोग शृंगार

निराला जी के शृंगार में ऐन्द्रिकता नाम मात्र को भी नहीं है। केवल तुलसी-काव्य में ही हमें इनके-से पवित्र शृंगार के दर्शन होते हैं। सूर और मीराँ का शृंगार भौतिक जगत में अपना अस्तित्व नहीं रखता; उनके मिलन-विरह किसी दूसरे ही जीवन का संकेत करते हैं। मिलन के रोमांच और विरह के आँसुओं में एक प्यास छिपी रहती है, जिसकी तृप्ति इस लोक में नहीं, पर-लोक में होती है। घनानन्द का शृंगार आध्यात्मिक से अधिक भौतिक है; किन्तु उसकी अतृप्त पिपासा हमारी पलकों पर ओस बनकर ढुल भले ही जाय, अधरों पर ऊषा का अमृत छिड़क सकने में सर्वथा असमर्थ है। बिहारी और देव के शृंगार में आँसू और मुस्कान दोनों समान अनुपात में हैं; किन्तु निराला की-सी पवित्रता का उनमें भी सर्वथा अभाव है। भक्ति-काल के कवि ने देवी (सीता और राधा) के चरणों पर पूजा के फूल चढ़ाये; और रीति-काल के कवि ने मानवी पर। निराला की मानवी का आसन देवी से भी ऊँचा है।

१—माघ में बादल लाल धरे। तो जानो सच पाथर परे॥ —घाघ।

अपनी देवी में प्राण-प्रतिष्ठा करने का श्रेय कवि की वाणी को है। वह स्वतः इतनी पवित्र है कि किसी प्रकार की परम्परागत भावना की उसे अपेक्षा ही नहीं। राम और सीता के मिलन के प्रसंग में तुलसी को बार-बार राम के मर्यादा-पुरुषोत्तमत्व और 'प्रीति पुरातन' की दुहाई देनी पड़ी है; किन्तु आध्यात्मिक संकेतों के अभाव में भी निराला जी के शृंगार में पवित्रता सहज-सुलभ है। निराला ने देवी और मानवी दोनों रूपों के दर्शन नारी में ही किये हैं। उनके मत से नारी में ही दोनों गुण वर्तमान रहते हैं, दृष्टि-भेद के कारण ही हम नारी का कभी मानवी रूप देखते हैं और कभी देवी रूप—

गहरे गया तुम्हें तब पाया, रही अन्यथा कायिक छाया।
सत्य भास की केवल माया, मेरे श्रवण वचन की हो तुम॥

निराला का शृंगार पढ़ने से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि उनका आलम्बन (नारी) कमल की भाँति धरती के कीचड़ से उत्पन्न होकर भी उससे सर्वथा अछूता है। निराला का शृंगार उस साधक की कृति है जो सुमन का नहीं, सौरभ का लोभी है। सौरभ को बाँह में भरने की लालसा सुमन को बाँह में भरने की लालसा से सर्वथा भिन्न होती है। मलय के पावन स्पर्श से नरसल के सपने जब मधुर संगीत में बदल जाते हैं, तब वह सारंगी और वीणा के संगीत से सर्वथा भिन्न होता है। निराला का शृंगार मलय के संस्पर्श से उत्पन्न नरसल का संगीत है, जिसके स्वरों के आरोह-अवरोह पर चन्द्रिका का उन्मुक्त हास और मधुप की आकुल प्यास है।

मिलन का एक शब्द-चित्र देखिए; मधु राका इस में साकार हो गई है—

(प्रिय) यामिनी जागी।
अलस पंकज दृग अरुण-मुख-तरुण-अनुरागी।
खुले केश अशेष शोभा भर रहे,
पृष्ठ-ग्रीवा-बाहु-उर पर तर रहे,
बादलों में घिर अपर दिन कर रहे,

ज्योति की तन्वी, तड़ित-द्युति ने क्षमा माँगी।

रात्रि-जागरण से प्रिया के पंकज-दृग अलसाये हुए हैं, किन्तु अरुण मुख (सूरज) पास ही है; अतः पंकज-दृगों में अनुराग है। अनुराग क्रमशः बढ़ता है और पंकज-नयनी सूरज (प्रिय) के गुण ग्रहण कर लेती है (ग्रीवा, बाहु और उर पर तिरते बिखरे केश-बादलों से घिरे सूरज जैसे लगते हैं)। सुहाग की अरुणिमा बढ़ते-बढ़ते ज्योति बन जाती है जो कविता की अन्तिम पंक्तियों तक पहुँचकर अपना चरम उत्कर्ष पा लेती है; और 'ज्योति की तन्वी, तड़ित्-द्युति' (बिजली) को उससे क्षमा माँगनी पड़ती है। बिजली केवल सत्य और शिव है, किन्तु सुहाग की ज्योति सत्य, शिव और सुन्दर तीनों है। फिर बिजली यदि सुहाग की ज्योति से क्षमा माँग ले (इसलिए कि वह उसके समान रूपवती नहीं है) तो आश्चर्य क्या है? इसी कविता की अगली पंक्तियाँ हैं—

हेर उर पट फेर मुख के बाल,
लख चतुर्दिक् चली मन्द मराल,
गेह में प्रिय-स्नेह की जय-माल,
वासना की मुक्ति, मुक्ता त्याग में तागी।

मिलन में सृष्टि के दो मधुर तत्त्व मिलकर एक हो गये थे; अतः लज्जा का वहाँ अस्तित्व न था (लज्जा के अस्तित्व के लिए दो की आवश्यकता होती है)। किन्तु प्रिय के शयन-गृह से जाते ही प्रिया को दूसरों की उपस्थिति की आशंका हुई। इन पंक्तियों में लज्जा का स्वाभाविक रूप मुखर उठा है—

स्पर्श से लाज लगी;
अलक-पलक में छिपी छलक उर में नव-राग जगी।

किन्तु जब—

मधुर स्नेह के मेंह प्रखरतर
बरस गये रस-निर्झर झर-झर,
उगा अमर-अंकुर उर-भीतर,

तब—

संसृति भीति भागी।

मुस्कान का स्वाभाविक रूप देखिए—

सुर तरुवर शाखा खिली पुष्प-भाषा।
भावों के दल, ध्वनि, रस भरे अधर-अधर सुवश,
उधरे, उर-मधुर परस, हँसी केश-पाश।

होली के रूपक में मिलन का एक दृश्य देखिए—

नयनों के डोरे लाल गुलाल-भरे, खेली होली
जागी रात सेज पति-संग रति सनेह-रँग घोली,
दीपित दीप-प्रकाश, कंज-छवि मंजु मंजु हँस खोली—
मली मुख चुम्बन-रोली।
प्रिय-कर-कठिन-उरोज-परस-कस कसक-मसक गई चोली
एक-वसन रह गई मन्द हँस अधर-दशन अनबोली—
कली-सी काँटे की तोली।

यह कविता लोक-मर्यादा की शिष्टता से कुछ अलग देख पड़ती है। पर यहीं यह भी कह देना उचित होगा कि श्लीलता या अश्लीलता अपनी-अपनी भावना पर निर्भर है। कवि इस सामाजिक शिष्टता से सर्वदा परे रहता है। विद्यापति के जो पद हिन्दी के स्वनाम-धन्य आलोचकों को अश्लील लगते हैं, वही पद गाकर चैतन्य महाप्रभु आत्म-विभोर होकर बेहोश हो जाया करते थे।

कवि ने अपनी पुत्री सरोज के तारुण्य का जो चित्रण किया है, वह कवि का नाम सार्थक करनेवाला और साहित्य में सचमुच निराला है—

धीरे धीरे फिर बढ़ा चरण,
बाल्य की केलियों का प्रांगण
कर पार, कुंज तारुण्य सुघर
आई, लावण्य-भार थर थर
काँपा कोमलता पर स-स्वर

ज्यों मालकोश नव वीणा पर;
नैश स्वप्न ज्यों तू मन्द मन्द
फूटी ऊषा जागरण छन्द,
काँपी भर निज आलोक-भार,
काँपा वन, काँपा दिक् प्रसार।

× × ×

नत नयनों से आलोक उतर
काँपा अधरों पर थर-थर-थर।
देखा मैंने, वह मूर्त्ति-धीति
मेरे वसन्त की प्रथम गीति—
श्रृंगार रहा जो निराकार,
रस कविता में उच्छ्वसित-धार
गाया स्वर्गीया प्रिया संग—
भरता प्राणों में राग-रंग,
रति-रूप प्राप्त कर रहा वही,
आकाश बदलकर बना मही।

हिन्दी साहित्य में कल्पना की उड़ान और उक्ति-वैचित्र्य के अगणित रूप-चित्र हैं। उनके रूप आलोचकों के नयनों में एक-बारगी इस प्रकार भर जाते हैं कि वह अपना विवेक खो बैठता है; किन्तु रूप की यह भव्यता कहीं नहीं है। अठारह वर्ष की अवस्था में हिन्दी साहित्य की वेदी पर अपना जीवन उत्सृष्ट करनेवाली इस गरिमामयी नारी में सीता और राधा के दर्शन होते हैं।

बिहारी और देव की सद्यःस्नाता नायिका को लेकर हमारे आलोचक गाली-गलौज तक पर उतर आये थे[१]। निराला जी की एक सद्यःस्नाता देखिए—

१—"देव ने बिहारी के मुँह पर क्या लात मारी है!"
"और लात भी तो शायद गधा ही मारता है।"
—हिन्दी के दो सम्मानित आलोचक।

आँख पड़ी, युवती पर
आई थी जो नहाकर,
गीली धोती सटी हुई भरी देह में, सुघर
उठे पुष्ट स्तन, दुष्ट मन को मरोड़कर,
आयत दृगों का मुख खुला हुआ, लेता हर
जो कुछ अपना-पर।
कहीं से नहीं वदन काँपता,
कुछ भी, संकोच नहीं ढाँपता।
वर्त्तुल उठे हुए स्तनों पर अड़ी थी निगाह
चोंच-सी जयन्त की, नहीं है जैसे कोई चाह
देखने की मुझे और,
कितने वे दिव्य स्तन, होंगे कितने कठोर!
काँप उठा मेरा मन,
याद आई जानकी;
कहा, तुम राम को,—
कैसे दिये दर्शन!

अन्तिम पंक्तियों पर ध्यान दीजिए। हमारा अभिप्राय तुलना करने का नहीं है। फिर भी नग्न रूप में इसके समान पवित्रता कहीं ढूँढ़े नहीं मिलती।

एक नहाती हुई नायिका भी देखिए, पर हँसने की आपको कसम है—

पैठी बुआ ताल में जैसे हथनी,
मारे डर के काँपने लगा पानी।
लहरें भगीं बढ़ने को किनारे पर,
रेला पानी बुआ ने बाँहों में भर।
नींव के खम्भों से पैर कीच में थे,
जाँघ से छाती तक अंग बीच में थे।

वियोग श्रृंगार

अलि घिर आये घन पावस के!
लख, ये काले-काले बादल
नील सिन्धु में खुले कमल-दल
हरित ज्योति चपला अति चंचल,
सौरभ के, रस के।

कजरारे बादल आदि काल से ही प्रेमी-प्रेमिकाओं का अश्रु-भार वहन करते आ रहे हैं। वैज्ञानिक लोग बादलों के घिरने का चाहे जो कारण बतावें, पर बादलों में ऐसी कोई बात अवश्य है जो हमारे अचेतन मन से अपना सीधा सम्बन्ध स्थापित कर लेती है। मानव और बादल का सम्बन्ध चाहे तर्क-वितर्क की कसौटी पर खरा न उतरे, किन्तु हमारे हृदय की भावनाओं की कसौटी पर बावन तोले पाव रत्ती ठीक बैठता है। जब अपने कहे जानेवाले लोग हमें ठुकराकर मुँह फेर लेते हैं, तब ये पराये बादल अपने बन जाते हैं। जब मानव बादलों से तादात्म्य स्थापित कर लेता है, तब बादल मानव की आँखों से बरसने लगता है; और मानव की सुधि, बादल के उर में चपला बनकर कौंधने लगती है। कविता की अन्तिम पंक्तियों की करुणा देखिए—

छोड़ गये गृह जब से प्रियतम,
बीते कितने दृश्य मनोरम,
क्या मैं ऐसी ही हूँ अक्षम,
जो न रहे बस के?

कवि ने जीवन से समझौता करना नहीं सीखा है। जीवन के प्रति विद्रोह की भावना जितनी कवि के जीवन में है, उससे अधिक उसकी कविता में। जीवन-वसन्त के प्रथम चरण में ही अपनी सहधर्मिणी को खो देने पर भी कवि ने जागरण-गीतों के अनुपात में वेदना के गीत कम गाये हैं। औषध के

अभाव में, मरणासन्न पत्नी के उद्देश्य से 'मरण-दृश्य' में कवि ने जो कुछ कहा है, उसमें करुणा साकार हो उठी है—

> दिये थे जो स्नेह-चुम्बन,
> आज प्याले के गरल घन;
> कह रही हो हँस—'पियो, प्रिय,
> पियो, प्रिय, निरुपाय।
> मुक्ति हूँ मैं, मृत्यु में
> आई हुई, न डरो!'

'अकेला' कवि जब अपने 'दिवस की सान्ध्य वेला' आती हुई देखता है, तब पीड़ा से कराह उठता है—

> स्नेह निर्झर बह गया है।
> रेत ज्यों तन रह गया है।
> अब नहीं आती पुलिन पर प्रियतमा,
> श्याम तृण पर बैठने को निरुपमा।
> बह रही है हृदय पर केवल अमा;
> मैं अलक्षित हूँ, यही कवि कह गया है।

लोक-जीवन

हमारे तथा-कथित प्रगतिशील कवि पाश्चात्य विचार-धारा में इतनी बुरी तरह से निमग्न हैं कि वे कहीं से भारतीय लगते ही नहीं। उनकी कविता हालीवुड की फिल्म अभिनेत्री-सी लगती है, जो भारतीय ग्रामीण नारी की भूमिका दिखाने के लिए आँखों में रंग भरकर लज्जा का थोथा नाट्य करती है। निराला जी की कविता में न तो मात्र बौद्धिक सहानुभूति है और न किसी

पाश्चात्य दर्शन की छाया। उन्होंने जो कुछ कहा है, वह सब उनकी विशुद्ध आत्मिक अनुभूति है। एक भिखारी का चित्र देखिए—

वह आता—
दो टूक कलेजे को करता पछताता पथ पर आता।
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को
मुँह फटी-पुरानी झोली का फैलाता।

करुणा तब और अधिक बढ़ जाती है, जब कवि अपनों को ही अपनों से ठुकराते देखता है—

विप्रवर स्नान कर चढ़ा सलिल
शिव पर दूर्वादल, तण्डुल तिल...
झोली से पुए निकाल लिए,
बढ़ते कपियों के हाथ दिये;
देखा भी नहीं उधर फिरकर
जिस ओर रहा वह भिक्षु इतर।
चिल्लाया किया—दूर, दानव,
बोला मैं—"धन्य, श्रेष्ठ मानव!"

मजदूरों की बस्ती का चित्र देखिए—

बाग के बाहर पड़े थे झोंपड़े,
दूर से जो दिख रहे थे अध-गड़े;
जगह गन्दी, रुका सड़ता हुआ पानी
मोरियों में; जिन्दगी की लन्तरानी—
बिलबिलाते कीड़े; बिखरी हड्डियाँ;
सेल्हरों की, परों की, थीं गड्डियाँ;

कहीं मुर्गी, कहीं अंडे,
धूप खाते हुए कंडे
हवा बदबू से मिली,
हर तरह की बसीलीद है पड़ रही।

महाकवि चंडीदास ने एक स्थान पर लिखा है कि मिसरी मिले हुए शुद्ध दूध में यदि नीम की पत्ती का रस निचोड़ा जाय तो उसका स्वाद बहुत-कुछ प्रेम के स्वाद के समान होगा। निराला जी के व्यंग्य का स्वाद भी कुछ ऐसा ही होता है। समाज का निराला जी के प्रति चाहे जैसा व्यवहार रहा हो, पर निराला जी समाज से प्यार करते हैं। बड़ी से बड़ी बात साधारण ढंग से कहकर कवि तो आगे बढ़ जाता है; किन्तु पाठक के मन में व्यंग्य का स्वाद बहुत देर तक बना रहता है। दो पंक्तियों में ही समाज में नारी का स्थान देखिए—

सावन में भतीजा होने को हुआ,
बुला लाई गई कुछ पहले से बुआ।

'भतीजा' की जगह 'भतीजी' भी हो सकती है; किन्तु बड़े-बूढ़ों का विश्वास है कि कन्या उत्पन्न होने पर धरती चार हाथ नीचे धँस जाती है। फिर 'भतीजी' की कल्पना क्यों की जाय? आज के सड़े-गले समाज में लड़कियाँ पिता के लिए एक अभिशाप होती हैं। अपना वह अभिशाप दूसरे के सिर मढ़ देने के उपरान्त ही पिता निश्चिन्त होता है। विश्वास मानिए, यदि सावन में 'भतीजा' न होने को होता तो बूआ कभी पूछी न जातीं। बूआ को बुलाने में खर्च 'धाय' से कम पड़ता है, इसलिए घरवालों ने बूआ को बुला लिया!

'कुकुरमुत्ता' सर्वहारा वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। गुलाब (पूँजीपति) उसे देखकर मुँह भले ही फेर ले, किन्तु कुकुरमुत्ते को अपने पर गर्व है; क्योंकि

और अपने से उगा मैं, बिना दाने का चुगा मैं;
कलम नहीं मेरा लगता, मेरा जीवन आप जगता;

गुलाब और कुकुरमुत्ते में वंश-परम्परागत ये भेद तो हैं ही, इनके अतिरिक्त उनके कार्य-कलाप में भी भेद है—

तूने दुनिया को बिगाड़ा,
मैंने गिरते को उभाड़ा;
तूने रोटी छीन ली, जनखा बना,
एक की हैं तीन दी मैंने, सुना ?...
मुझी में गोते लगाये वाल्मीकि व्यास ने,
मुझी से पोथे निकाले भास कालीदास ने;
टुकुर टुकुर देखा किये मेरे ही किनारे खड़े,
हाफिज, रवीन्द्र जैसे विश्व-कवि बड़े-बड़े।

गुलाब को मेहरुन्निसा चाहिए जो उससे इत्र निकाला करे। इत्र निकालने का पुराना भारतीय तरीका सभी जानते होंगे; अतः वह कहानी दुहराने से कोई लाभ नहीं। बात समझ में न आई हो तो देखिए, जेठ की दोपहरी में वह लड़का कौन-सा 'खेल' खेल रहा है—

शाख पर चढ़ता हुआ ऊपर गया,
नाक बैठाकर निकाला स्वर नया
भूत का "जमदूत हूँ मैं समझ लो,
जो बिना घर का, उसे गर घर न दो।"

'विधवा' शीर्षक कविता में भारतीय विधवा का भावात्मक चित्र अंकित किया गया है। कविता की प्रारम्भिक पंक्तियों में करुणा साकार हो उठी है—

वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा-सी
वह दीप-शिखा-सी शान्त, भाव में लीन,
वह क्रूर-काल ताण्डव की स्मृति-रेखा-सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन
दलित भारत की ही विधवा है।

कवि भावोद्रेक में बह-सा गया है। यह कविता उस समय लिखी गई थी, जब आर्य समाज के प्रभाव के कारण कवि और लेखक विधवा-विवाह का समर्थन करना अपना धर्म समझते थे। किन्तु कवि को विधवा का आँसुओं से धुला हुआ चित्र इतना पवित्र लगा है कि समस्या की ओर ध्यान देने का उसे अवकाश ही न मिला। इस कविता की कुछ और पंक्तियाँ देखिए—

हैं करुण रस से पुलकित इसकी आँखें,
देखा तो भींगीं मन मधुकर की पाँखें;
मृदु रसावेश में निकला जो गुंजार
वह और न था, कुछ था बस हा-हाकार !...
रोती है अस्फुट स्वर में,
दुख सुनता है आकाश धीर,—
निश्चल समीर,
सरिता की वे लहरें भी ठहर-ठहरकर।
कौन उसको धीरज दे सके ?
दुःख-भार कौन ले सके ?

'दुःख-भार कौन ले सके' लिखकर एक प्रश्नवाचक चिह्न के साथ कवि आगे बढ़ जाता है। कविता की अन्तिम पंक्तियाँ हैं—

ओस कण-सा पल्लवों से झर गया।
जो अश्रु भारत का उसी के सर गया॥

पिछले चालीस वर्षों से हिन्दी कवि विधवा पर लिखते आये हैं। पर अन्य कवियों की भाँति निराला जी ने किसी निश्चित समाधान पर पहुँचने का प्रयत्न नहीं किया है। समाधान पर पहुँचने का अर्थ भौतिक सुखों की वेदी पर पवित्रता की बलि देना है, जो कवि को किसी दशा में अभीष्ट नहीं है।

अतीत की गरिमामयी स्मृतियाँ कवि के मन में जलधि की प्यास ३ जाती हैं। वह यमुना से जानना चाहता है—

बता कहाँ अब वह वंशी-वट? कहाँ गये नटनागर श्याम?
चल-चरणों का व्याकुल पनघट कहाँ आज वह वृन्दाधाम?
रंजित सहज सरल चितवन में उत्कण्ठित सखियों का प्यार?
क्या आँसू सा ढुलक गया वह विरह-विधुर उर का उद्गार?
कह सोया किस खंजन-वन में उन नयनों का अंजन राग?
बिखर गये अब किन पातों में वे कदम्ब-मुख-स्वर्ण-पराग?

कवि को लगता है, जैसे यमुना अब भी उसी अतीत में विचर रही है—

अलस प्रेयसी सी स्वप्नों में प्रिय की शिथिल सेज के पास।
लघु लहरों के मृदुल स्वरों में किस अतीत का गूढ़ विलास?
उर-उर में नूपुर की ध्वनि-सी मादकता की तरल तरंग।
विचर रही हैं मौन पवन में यमुने, किस अतीत के संग?

उस पावन अतीत को आज तिमिर ने अपने गर्भ में छिपा लिया है। महायुद्ध की तोपों के धूएँ से आक्रान्त कवि यमुना के कछारों में पुनः रास की प्राण-प्रतिष्ठा देखना चाहता है—

विस्मृत-पथ परिचायक स्वर से छिन्न हुए सीमा-दृढ़ पास,
ज्योत्स्ना के मंडप में निर्भय कहाँ हो रहा है वह रास।
वह कटाक्ष-चंचल यौवन-मन वन-वन प्रिय-अनुसरण प्रयास,
वह निष्पलक सहज चितवन पर प्रिय का अचल अटल विश्वास;
कहाँ छलकते अब वैसे ही व्रज-नागरियों के गागर?
कहाँ भींगते अब वैसे ही बाहु, उरोज, अधर, अम्बर?

क्या अच्छा होता, यदि कवि की कामना साकार हो पाती! पतनोन्मुख विश्व को पुनः गीता का ज्ञान मिल पाता!

लोक-कल्याण

फिर सँवार सितार लो !
बाँधकर फिर ठाठ, अपने अंक पर झंकार दो ।

अपने पतन के लिए हम स्वयं उत्तरदायी हैं; इस कारण हमारा उत्थान भी हन्हीं से होगा। हमारे मन के देवासुर-संग्राम में असुर ने देवता को हरा दिया है। किन्तु यदि हम देवता को सबल बना लें तो असुर पुनः पराजित होगा। कालकूट का शमन करने के लिए शिव तत्त्व हमारे मन में ही है।

वर्त्तमान के प्रति विद्रोह से अधिक निराला जी ने करुणा व्यक्त की है। किन्तु कवि की करुणा में कहीं निराशा के दर्शन नहीं होते; जीवन-संघर्ष में निरन्तर हारते रहकर भी लक्ष्य तक पहुँचने की सतत प्रेरणा मिलती है। 'नव प्रभात' का आह्वान सुनिए—

जीवन प्रसून वह वृन्त-हीन
खुल गया उषा नभ में नवीन,
धाराएँ ज्योति सुरभि उर भर
वह चलीं चतुर्दिक कर्म-लीन,
तुम भी निज तरुण तरंग खोल
नव अरुण संग हो लो !
प्रिय मुद्रित दृग खोलो !
गत स्वप्न निशा का तिमिर जाल
नव किरणों से धो लो !

कवि को आर्थिक विषमता के विष की चिन्ता नहीं है, क्योंकि उसे अपने अमृत पर पूरा विश्वास है। भिखारी के बच्चों से वह कहता है—

ठहरो, अहो मेरे हृदय में है अमृत; मैं सींच दूँगा
अभिमन्यु जैसे हो सकोगे तुम

तुम्हारे दुःख मैं अपने हृदय में खींच लूँगा।

'बादल' में कवि ने राष्ट्र-नायक के दर्शन किये हैं। माँ की दशा देख जब राष्ट्र-नायक ने विदेश प्रस्थान किया, तब वहाँ उसे बहकाने के लिए उपकरण एकत्र किये गये—

'द्' जोड़ ग्रेड बढ़ाया, तुम पर जाल फूट का फैलाया,
'जल' से 'जलद' कहा, समझाया भेद तुझे ऊँचे बैठाल,
दाएँ-बाएँ लगे रहे जिससे तुम भूलो जाती खयाल।

किन्तु जब इतने पर भी शत्रुओं ने अपनी दाल गलती न देखी, तब—

पवन शत्रु ने तुम्हें उतरते देख उड़ाया पथ-अम्बर,
पर तुम कूद पड़े, पहनाया माँ को हरा वसन सुन्दर;

'विप्लव का वीर' (बादल) ही कवि की आशाओं का केन्द्र है, जिसकी "रण-तरी आकांक्षाओं से भरी' है; और जिसके—

आतंक अंक पर काँप रहे हैं,
धनी, वज्र-गर्जन से, बादल,
त्रस्त-नयन मुख ढाँप रहे हैं।
जीर्ण बाहु, है शीर्ण शरीर,
तुझे बुलाता कृषक अधीर,
ऐ विप्लव के वीर!

'विप्लव के वीर' की यह कल्पना कवि ने महात्मा गांधी द्वारा चलाये हुए 'किसान आन्दोलन' से बहुत पहले की थी। वह क्रान्ति का 'आवाहन' करता है—

भैरवी तेरी झंझा
तभी बजेगी मृत्यु लड़ायेगी जब तुझ से पंजा;
लेगी खड्ग और तू खप्पर,

उसमें रुधिर भरूँगा माँ
मैं अपनी अंजलि भर भर;
उँगली के पोरों पर दिन गिनता ही जाऊँ क्या माँ—
एक बार बस और नाच तू श्यामा !

विज्ञान की छाती चीरकर मानव ने अपने लिए विष ही निकाला है। भौतिकवाद की मृग-मरीचिका में मानसिक शान्ति भूलकर हम दौड़े जा रहे हैं। निर्माण की उपेक्षा कर नाश के तत्त्वों की ओर मानव की इतनी अनुरक्ति क्यों होती है, यह कवि के लिए एक समस्या है—

आज सभ्यता के वैज्ञानिक जड़ विकास पर
गर्वित विश्व नष्ट होने की ओर अग्रसर
स्पष्ट दिख रहा, सुख के लिए खिलौने जैसे
बने हुए वैज्ञानिक साधन, केवल पैसे
आज लक्ष्य में है मानव के स्थल-जल-अम्बर
रेल-तार-बिजली-जहाज नभ-यानों से भर
दर्प कर रहे हैं मानव; वर्ग से वर्ग गण,
भिड़े राष्ट्र से राष्ट्र, स्वार्थ से स्वार्थ विचक्षण !

यदि मानवता कवि की छवि अपने हृदय में ला सके तो उसका कल्याण हो सकता है। कवि की कामना है—

जिस गति से नयन नयन मिलते,
खिलते हैं हृदय, कमल के दल के दल खिलते
जिस दल की सहज सुमति
जगा जन्म मृत्यु विरति,
लाती है जीवन से जीवन की परमा रति
चरण-नयन-हृदय-वचन
को तुम सिखला दो !

मेरी छवि उर-उर में ला दो !

पूँजीपतियों के लिए भी कवि के पास कुछ कम सन्देश नहीं है—

भेद कुल खुल जाय वह सूरत हमारे दिल में है।
देश को मिल जाय जो पूँजी तुम्हारी मिल में है॥

बात कुछ अटपटी-सी है। शायद पूँजीपति इसे न मानें; पर आज नहीं तो कल और कल नहीं तो परसों उन्हें कवि की बात माननी ही पड़ेगी।

आज निराला का कवि मौन है—अपनी सरकार जो ठहरी ! ब्रिटिश राज्य में जागरण के गीत राष्ट्रीय थे; और वही आज देश-द्रोह हैं !

दार्शनिक चिन्तन

डोलती नाव, प्रखर है धार, सँभालो जीवन खेवनहार !

जब जीने का आधार छिन जाता है, तब सब-कुछ सूना सूना-सा लगने लगता है। सपनों का ताना-वाना बुनते-बुनते मन स्वयं एक सपना बन जाता है; और साथ ही सृष्टि भी सपनों-सी दिखाई देने लगती है। वास्तविकता की निर्झरिणी सपनों की रेत के कगारों को ठोकर मारकर अपने अंक में भर लेती और कहती है—तुम सत्य नहीं हो, सत्य तो मैं हूँ। ऐसी दशा में सपनों की सृष्टि के नियन्ता पर से भी विश्वास उठ जाता है। तुलसी जैसे भक्त कवि के जीवन की सांध्य वेला में निकले हुए उद्गार इसके साक्षी हैं। बिहारी और घनानन्द के काव्य में यही भाव झुँझलाहट के रूप में व्यक्त हुआ है।

निराला जी के सपने रेत के ढूह नहीं है, जिन्हें वास्तविकता की निर्झरिणी बहा ले जाय। वे तो वज्र की ऐसी चट्टानें हैं जिनसे टकराकर निर्झरिणी ही दो टूकों में बँट जाती है। जीवन की शत-शत हारें भी उस महामहिम के लिए जय-हार बन गईं ! वेदना कवि के कण्ठ के गान न छीन सकी—

गीत गाने दो मुझे तो, वेदना को रोकने को
चोट खाकर राह चलते होश के भी होश छूटे,
हाथ जो पाथेय थे ठग-ठाकुरों ने रात लूटे,
कण्ठ रुकता जा रहा है, आ रहा है काल, देखो।

एक असीम व्यापक दिव्यता में निराला जी का विश्वास है। सृष्टि का कर्त्ता, कर्म और कारण कवि उसी दिव्य ज्योति को मानता है—

रमण मन के मान के तन! तुम्हीं जग के जीव जीवन!
तुम्हीं में है महामाया, जुड़ी छुटकर विश्व काया;
कल्प-तरु की कनक-छाया, तुम्हारे आनन्द-कानन।

कवि की दिव्य ज्योति और निर्गुण तथा सगुण उपासना के ब्रह्म में कोई मौलिक भेद नहीं है। ब्रह्म से माया के अलग होने पर सृष्टि का निर्माण होता है। दूसरे शब्दों में माया जब माया-पति में निहित रहती है, तब शून्य रहता है; और जब माया-पति अपनी क्रीड़नेच्छा से माया को अपने से पृथक् कर देता है, तब ब्रह्म का प्रतिबिम्ब सर्वत्र प्रतिभासित होने लगता है। भ्रम-वश हमें ये प्रतिबिम्ब सत्य जान पड़ते हैं। सृष्टि की उत्पत्ति का यही रहस्य है। सत्य का साक्षात्कार होने पर सृष्टि का रूप ही बदल जाता है—

नयन नहाये
जब से उसकी छवि में रूप बहाये।
बदल गई आँख, विश्व-रूप वह धुला!
मिथ्या के भास सभी, कहाँ समाये!

ब्रह्म के साक्षात्कार से पूर्व साधना-पथ की कठिनाइयाँ देखिए—

बिछे हुए थे काँटे उन गलियों में
जिनसे चलकर मैं आई—
पैरों में छिद जाते जब

आह मार मैं तुम्हें याद करती तब
राह प्रीति की अपनी—वही कण्टकाकीर्ण,
अब मैंने तै कर पाई।

साध्य पा चुकने पर साधक की अवस्था देखिए—

प्रात तव द्वार पर,
आया, जननि, नैश अन्ध पथ पारकर।
लगे जो उपल पद हुए उत्पल ज्ञात
कण्टक चुभे जागरण बने अवदात,
स्मृति में रहा पार करता हुआ रात
अवसन्न भी हूँ प्रसन्न मैं प्राप्त-वर—
प्रात तव द्वार पर।

साधना-पथ की कठिनाइयाँ (कण्टक) ही साधक के लिए प्रेरणा (जागरण) बनती हैं। पथ की श्रान्ति महामिलन के आनन्द में तिरोहित हो जाती है, मन दिव्य ज्योति का संस्पर्श पाकर कमल-सा खिल पड़ता है।

मानव के मन में सर्वदा देवासुर संग्राम होता रहता है। कभी सद्-वृत्तियाँ असद् वृत्तियों पर जय पाती हैं,तो कभी असद् वृत्तियाँ सद् वृत्तियों को दबा देती हैं। जब असद् वृत्तियों की विजय होती है, तब मानव अपने जीवन का ऋजु मार्ग छोड़कर बहक जाता है। सद् वृत्तियों को संबल बनाकर इस संघर्ष में मानव को पुनः उसके ऋजु मार्ग पर लाया जा सकता है। किन्तु इसके लिए दिव्य ज्योति की प्रेरणा की आवश्यकता है। कवि प्रार्थना करता है—

मानव का मन शान्त करो हे!
काम, क्रोध, मद, लोभ, दम्भ से
जीवन को एकान्त करो हे!

जब तक काम, क्रोध, मद, लोभ और दम्भ से मानव का पीछा नहीं

छूटता, तब तक उसे शान्ति नहीं मिलती। पहले कहा जा चुका है कि माया की उत्पत्ति ब्रह्म से हुई है; अतः इन असद् वृत्तियों से वही हमारा पीछा छुड़ा सकता है। प्रतिबिम्ब के धूमिल होने का उत्तरदायित्व दर्पण के स्वामी पर है। यदि वह दर्पण स्वच्छ रक्खे तो प्रतिबिम्ब भी स्वच्छ रहेगा—

दुरति दूर करो नाथ अशरण हूँ, गहो हाथ।
हार गया जीवन-रण, छोड़ गये साथी जन
एकाकी, नैश क्षण, कण्टक पथ, विगत पाथ।
जब तब शत मोह-जाल घेर रहे हैं कराल—
जीवन के विपुल व्याल, मुक्त करो, विश्वनाथ !

जब एक पथ के पथिक स्वार्थ-वश एक दूसरे के पथ में बाधक होते हैं, तब जीवन अभिशाप बन जाता है। स्वार्थ-मय जगत में कहीं रहने की जगह नहीं रहती। मानव-जीवन में यह विष माया के ही कारण आता है। अतः कवि माया-पति से प्रार्थना करता है—

भव-सागर से पार करो हे ! गह्वर से उद्धार करो हे !
विपुल काम के जाल बिछाकर, जीते हैं जन जन को खाकर
रहूँ कहाँ मैं ठौर न पाकर, माया का संहार करो हे !

इस प्रार्थना में कवि का केवल अपना स्वार्थ नहीं है। माया का नाश होने पर सबको सत्य के दर्शन होंगे। कवि तो इतने से ही संतोष कर सकता है—

कुछ न हुआ, न हो
मुझे विश्व का सुख, श्री, यदि केवल पास तुम रहो !
मेरे नभ के बादल यदि न कटे—चन्द्र रह गया ढका,
तिमिर-रात को तिरकर यदि न अटे लेश गगन-भास का,
रहेंगे अधर हँसते, पथ पर, तुम हाथ यदि गहो।

दुष्टों की संगति से भगवान् कवि का पीछा छुड़ावें, यही कामना है—

दो सदा सत्संग मुझको।
अनृत से पीछा छुटे, तन हो अमृत का रंग, मुझको···
लगे तुमसे तन-वचन-मन, दूर रहे अनंग;
बाढ़ के जल बढ़ूँ, निर्मल-मिलूँ एक उमंग, मुझको···
शान्त हो कुल धातुएँ ये, बहे एक तरंग,
रूप के गुण गगन चढ़कर, मिलूँ तुमसे, ब्रह्म, मुझको···

कवि यह भी चाहता है—

मानव का मन शान्त करो हे
काम, क्रोध, मद लोभ दम्भ से
जीवन को एकान्त करो हे।

अपनी अतृप्त पिपासा का कवि क्या करे ? उसका तो एक मात्र आधार दीनबन्धु ही है। जिसने इसे प्यास दी है, वही उसे बुझावेगा भी—

प्यास लगी है, बुझाओ, अमृत के घूँट पिलाओ।
छूते कनक-किरन फूटेगी, कड़ी अँधेरे की टूटेगी,
उर से कठिन भीति छूटेगी, मूँदा कमल खिलाओ—
अमृत के घूँट पिलाओ।

सृष्टि एक रहस्य बनकर कवि के सम्मुख आती है—

मृत्यु निर्माण प्राण-नश्वर
कौन देता प्याला भर भर ?...
नाचते ग्रह, तारा-मण्डल,
पलक में उठ गिरते प्रतिपल,
धरा घिर घूम रही चंचल,
काल-गुणत्रय-भय-रहित समर।

सृष्टि के कण-कण में एक आकर्षण व्याप्त है जो बिखरे हुए परमाणुओं को एक सूत्र में पिरोये है—

लहर रही शशि-किरण चूम निर्मल यमुना-जल,
चूम सरित की सलिल राशि खिल रहे कुमुद-दल,
कुमुदों के स्मित-मन्द खुले वे अधर चूमकर
बही वायु स्वच्छन्द, सकल पथ घूम घूमकर,
है चूम रही इस रात को वही तुम्हारे मधु अधर
जिनमें हैं भाव भरे हुए सकल-शोक-सन्तापहर !

निराला जी की भक्ति-भावना सगुण उपासना के भक्त कवियों की-सी है। कवि की आराध्य देवी सरस्वती हैं। कवि ने राम और कृष्ण की भी आराधना की है। सूर और मीराँवाला अतृप्त प्रेम निराला की निम्न पंक्तियों में है—

दे न गये बचने की साँस आस ले न गये।
× × ×
खेलूँगी कभी न होली
उससे जो नहीं हम-जोली।

कवि का आत्माभिमान इतना ऊँचा है कि उसे विश्वास है कि मेरे अभाव में वह निष्ठुर भी कभी तड़पेगा—

मैं न रहूँगी जब सूना होगा जग,
समझोगे तब यह मंगल-कलरव सब,
था मेरे ही स्वर से सुन्दर, जगमग;
चला गया सब साथ।

अपनी भक्ति-भावना पर कवि को अखण्ड विश्वास है। वह दूसरों को भी यही सलाह देता है—

हरि का मन से गुण-गान करो,
तुम और गुमान करो, न करो।
स्वर-गंगा का जल पान करो,
तुम अन्य विधान करो, न करो।

प्रकृति

भक्ति-काल के कवि ने प्रकृति को कहीं तो आराध्य के प्रतिबिम्ब के रूप में देखा है और कहीं शिक्षिका के रूप में; किन्तु दोनों अवस्थाओं में प्रकृति मानव के लिए नन्दन-कुसुम ही बनी रही। प्रबन्ध-काव्यों में वातावरण स्पष्ट करने के लिए यत्र-तत्र प्रकृति की सुषमा का स्वतंत्र वर्णन भी मिलता है; किन्तु परम्परा का आवश्यकता से अधिक पालन करने के कारण कवि-कल्पना एक निश्चित घेरे में ही चक्कर काटकर रह जाती है। रीति-काल ने प्रकृति-चित्रण को नई दिशा दी। अब वह मानव के सुख-दुःख की सहचरी भी बनने लगी। किन्तु कवि की दृष्टि नायक-नायिकाओं की भावनाओं के आरोह-अवरोह पर अधिक रहने के कारण प्रकृति स्वतंत्र व्यक्तित्व न पा सकी। प्रथम विश्व महायुद्ध के समय राष्ट्रीय भावनाओं के विकास ने प्रकृति को प्रेरक शक्ति के रूप में ग्रहण किया—गुलाब और पलाश के अरुण फूलों में कवि को शहीदों का रक्त दिखाई पड़ने लगा। छायावाद और रहस्यवाद ने प्रकृति में प्राण-प्रतिष्ठा करके उसे स्वतंत्र व्यक्तित्व प्रदान किया। मानव और प्रकृति में सम-भाव की प्रतिष्ठा हुई; क्योंकि दोनों एक ही असीम के प्रतिबिम्ब मात्र हैं। 'संध्या परी' का स्वतंत्र व्यक्तित्व देखिए—

दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह संध्या सुन्दरी परी-सी

धीरे धीरे
तिमिरांचल में चंचलता का नहीं कहीं आभास,
मधुर मधुर हैं दोनों उसके अधर—
किन्तु जरा गम्भीर,—नहीं है उनमें हास-विलास।
हँसता है तो केवल तारा एक
गुथा हुआ उन घुँघराले काले बालों से
हृदय-राज्य की रानी का वह करता है अभिषेक।

परिचारिकाओं से घिरा बाल-अरुण देखिए—

वासन्ती की गोद में तरुण
सोहता स्वस्थ मुख बालारुण;
चुम्बित, सस्मित, कुंचित कोमल
तरुणियों सदृश किरणें चंचल;
किसलयों के अधर यौवन-मद...

'दीरघ दाघ निदाघ'[1] की कहानी आपने कविवर बिहारी के मुख से सुनी होगी। तनिक जेठ की यह दोपहरी भी देखिए—

उठी झुलसाती हुई लू,
रुई ज्यों जलती हुई भू,
गर्द चिनगी छा गई,
प्रायः हुई दुपहर।

कवि की कल्पना-तूलिका ने सद्यःस्नाता नायिका की भाँति प्रकृति का चित्र निखार दिया है। वर्णनों में चित्र खींच देना कवि की अपनी विशेषता है। प्रकृति का नारी-रूप में चित्रण देखिए—

१—कहलाने एकत बसत अहि, मयूर, मृग, बाघ।
जगतु तपोबन सौं कियौ दीरघ-दाघ निदाघ॥

यह श्री पावन, गृहिणी उदार;
गिरि-वर उरोज, सरि पयोधार;
कर वन-तरु; फैला फल निहारती देती;
सब जीवों पर है एक दृष्टि,
तृण तृण पर उसकी सुधा-वृष्टि,
प्रेयसी, बदलती वसन सृष्टि नव लेती।

भाषा-शैली

निराला की शैलियों में जितनी विभिन्नता है, चन्द, तुलसी और केशव के अतिरिक्त उतनी हिन्दी के अन्य किसी कवि में नहीं है। 'राम की शक्ति-पूजा' महाकाव्य की कसौटी पर खरी उतरती है (यदि आकार पर ध्यान न दें तो)। भाषा भावानुकूल बदलती जाती है—

रवि हुआ अस्त, ज्योति के पत्र में लिखा अमर
रह गया राम रावण का अपराजेय समर
आज का, तीक्ष्ण-शर-विधृत-क्षिप्र-कर, वेग-प्रखर,
शतशेलसम्वरणशील, नील नभ गर्जित स्वर
प्रति पल-परिवर्त्तित व्यूह, भेद कौशल समूह—
राक्षस-विरुद्ध प्रत्यूह,—क्रुद्ध-कपि-विषम-हूह,
विच्छुरितवह्नि-राजीव-नयन-हत-लक्ष्य वाण
लोहित लोचन-रावण-मदमोचन-महीमान...

कविता की इन प्रारम्भिक पंक्तियों में वीर-गाथा-कालीन शैली की तलवारों की चमक है। किन्तु आगे चलकर प्रथम-मिलन का दृश्य आने पर भाषा और शैली भी तदनुकूल मधुरिमा से सिक्त हो जाती है—

........याद आया उपवन
विदेह का,—प्रथम स्नेह का लतान्तराल मिलन

नयनों का नयनों से गोपन—प्रिय सम्भाषण,—
पलकों का पलकों पर प्रथमोत्थान-पतन,—
काँपते हुए किसलय,—झरते पराग-समुदय,—
गाते खग नव-जीवन-परिचय,—तरु मलय-वलय,—
ज्योतिः प्रपात स्वर्गीय,—ज्ञात छवि प्रथम स्वीय,—
जानकी-नयन-कमनीय प्रथम कम्पन तुरीय।

भाव में इतनी पवित्रता है कि कवि को 'प्रीति पुरातन' की दुहाई देने की आवश्यकता नहीं पड़ी है। प्रथम मिलन का इससे सुन्दर चित्र साहित्य में मिलना कठिन है।

'तुलसीदास' के अतिरिक्त अन्य काव्य-कृतियों की भाषा बोल-चाल की ही है। मुहावरों का प्रयोग व्यंग्य काव्यों में अधिकता से हुआ है। दूसरी भाषाओं के शब्द कवि ने उनके तत्सम रूप में ही ग्रहण किये हैं, अपनी ओर से उनमें संशोधन-परिवर्त्तन की आवश्यकता नहीं समझी है। 'कुकुरमुत्ता' की भाषा को हम हिन्दुस्तानी कह सकते हैं।

छन्द

सच्चे अर्थों में मुक्त छन्द का प्रयोग हिन्दी साहित्य में सबसे पहले निराला जी ने ही किया। मुक्त छन्द का आदि स्रोत वेद है। निराला जी के मुक्त छन्द से शेक्सपियर के नाटकों के ब्लैंक वर्स का तुलनात्मक अध्ययन कर सहज ही में उनकी विभिन्नता जानी जा सकती है। छन्द भावनाओं का वाहक होता है। यदि वह सफलता-पूर्वक भाव-वहन कर सकता है, तो उसे स्वीकृत करने में कोई हिचक न होनी चाहिए।

निराला जी के भावों की सरिता ने छन्दों का बाँध तोड़ डाला है; किन्तु उनका प्रवाह मन मोह लेता है—

चुम्बन-चकित चतुर्दिक चंचल
हेर, फेर मुख, कर बहु सुख-छल

कभी हास, फिर त्रास, साँस-बल
　　　　　　उर-सरिता उमगी।
प्रेम-चयन के उठा नयन नव
विधु-चितवन, मन में मधु कलरव,
मौन पान करती अधरासव
　　　　　　कंठ लगी उरगी।

कवि के अतुकान्त छन्दों में भी लय का प्राधान्य है; और उन्हें निरा अतुकान्त नहीं कहा जा सकता—

आई याद बिछुड़न से मिलन की वह मधुर बात,
आई याद चाँदनी की धुली हुई आधी रात,
आई याद कान्ता की कम्पित कमनीय गात
फिर क्या? पवन
उपवन-सर-सरित् गहन-गिरि-कानन
कुंज-लता-पुंजों को पार कर
पहुँचा जहाँ उसने की केलि
　　　　　　कली खिली साथ!

×　　　　×　　　　×

काव्य के गुण

ओज

निराला जी की कविता काव्य के तीनों गुणों—ओज, प्रसाद और माधुर्य से विभूषित है। चन्द, तुलसी और भूषण ने कविता में ओज लाने के लिए समस्त पदावली, रेफ और ट वर्ग का सहारा लिया है। किन्तु बोल-चाल की भाषा में भी ओज ला देना निरालाजी की अपनी विशेषता है—

बाहुओं में बहता है
क्षत्रियों का खून यदि,
हृदय में जागती है, वीर, यदि
माता क्षत्राणी की दिव्य मूर्त्ति
स्फूर्त्ति यदि अंग अंग को उकसा रही है,
आ रही है याद यदि अपनी मरजाद की,
चाहते हो यदि कुछ प्रतिकार
तुम रहते तलवार के म्यान में
आओ वीर स्वागत है;
सादर बुलाता हूँ।

प्रसाद

निराला जी की भाषा पर क्लिष्टता का आरोप लगानेवालों को जानना चाहिए कि 'राम की शक्ति-पूजा' के कवि ने 'खुला आसमान' और 'कुकुरमुत्ता' भी लिखा है। काव्य में दुरूहता भाषा के कारण नहीं, भावों के कारण आती है। भाषा की दृष्टि से 'कादम्बरी' सबसे कठिन है और 'गीता' सरल। किन्तु क्या केवल भाषा की सरलता के कारण लोग 'कादम्बरी' से गीता जल्दी समझ लेते हैं ? 'कादम्बरी' की भाषा-सम्बन्धी कठिनाई शब्द-कोश की सहायता से दूर हो सकती है; किन्तु गीता समझने के लिए साधना की आवश्यकता है।

निराला के काव्य में भाषा-सम्बन्धी क्लिष्टता गीतिका और तुलसीदास तक ही सीमित है, अधिकतर कविताओं में बोलचाल की भाषा का ही प्रयोग हुआ है—

बहुत दिनों बाद खुला आसमान।
निकली है धूप, खुश हुआ जहान।
···पनघट में बड़ी भीड़ हो रही,
नहीं ख्याल आज कि भींगेगी चूनरी,

बातें करती हैं वे सब खड़ी,
चलते हैं नयनों के सधे बान।

'बेला' और 'नये पत्ते' की कजलियों और गजलों की भाषा सरल तथ मुहावरेदार है। फारसी के छन्द-शास्त्र का निर्वाह कवि ने बहुत सुन्दरता से किया है। छन्दों की बन्दिश और भाषा का प्रवाह देखते ही बनता है—

हँसी के तार के होते हैं ये बहार के दिन

× × ×

बदली जो उनकी आँखें इरादा बदल गया।
गुल जैसे चमचमाया कि बुलबुल मचल गया॥
ये टहनी से हवा की छेड़-छाड़ थी, मगर।
खिलकर सुगन्ध से किसी का दिल दहल गया॥
खामोश फतह पाने को रोका नहीं रुका।
मुश्किल मुकाम जिन्दगी का जब सँभल गया॥

× × ×

माधुर्य

निराला जी की कविताओं का पद-लालित्य बहुत मोहक है—

वर दे वीणा-वादिनि, वर दे।
नव गति, नव लय, ताल छन्द नव,
नवल कंठ, नव जलद मन्द्र रव
नव नभ को, नव विहग वृन्द को
नव पर, नव स्वर दे।

निम्न पंक्तियों में ओज, प्रसाद और माधुर्य तीनों साकार हो गये हैं—

कला

निराला की कला दिन-पर-दिन निखरती जा रही है। कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक भाव भर देना आपकी विशेषता है। अपनी इस कला में कहीं-कहीं आप बिहारी से भी आगे बढ़ गये हैं—

> एक गऊ कुछ दूर रँभाई,
> पनिहारी पनघट से आई।

यह कविता १९५२ के 'आज' के होली विशेपांक में छपी थी। इन्हीं दो छोटी पंक्तियों में कवि ने गृह-स्वामिनी की आकुल प्रतीक्षा, प्रियतम के प्रति स्नेह, गृह-स्वामी के प्रति गाय की ममता, गृह-स्वामी का गाय और प्रियतमा के प्रति प्रेम, विरह, मिलन और न जाने क्या क्या भाव साकार कर दिये हैं। भावों की गहराई में पैठते चले जाइए; कुछ देर बाद जान पड़ेगा कि मानो कवि के मधु ने कामना के पंख भिगो दिये हैं—इन्हें छोड़कर कहीं और जाने को जी नहीं चाहता।

पूर्वा

कामना तुम उस हृदय की
युगों से जिसने सँजोये स्वप्न के संसार केवल
सुर-रूख के नव पल्लवों की छाँह में
करते जहाँ गुंजन मधुप
बीन की शुचि रागिनी पर
गाये प्रणय की ग्रन्थि के मधु गीत मनहर।
तुम न केवल स्वप्न के संसार के वासी महाकवि,
लोक-जीवन के बने तुम शेष संबल
युग को मिली वाणी तुम्हीं से
और तुमसे ही सुहासिनि ग्राम्या का रूप निखरा,
फिर मिला अध्यात्म दर्शन भारती को
रजत शिखरों पर बसेरा स्वर्ण किरणों ने लिया जब!

सुमित्रानन्दन पन्त

जन्म—सं० १९५७

श्री सुमित्रानन्दन पन्त (वास्तविक नाम गोसाईंदत्त पन्त) का जन्म अल्मोड़े जिले के कौसानी नामक ग्राम में एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण परिवार में हुआ था। सत्याग्रह आन्दोलन से प्रभावित होकर आपने स्कूल की शिक्षा से मुँह मोड़ लिया और घर पर ही अँग्रेजी तथा संस्कृत साहित्य का अध्ययन किया। आप अब तक अविवाहित हैं। आपकी ऊँचाई सवा पाँच फुट है। आपके हृदय के सौन्दर्य की छाप आपकी बाह्य रूप-रेखा पर भी स्पष्ट दिखाई देती है। सौन्दर्य और कोमलता के विचार से आप अब तक के सुन्दरतम कवियों में हैं। आपकी रहन-सहन का दरजा बहुत ऊँचा है। आप विशेष प्रकार के सिले हुए कपड़े पहनते हैं। मंत्र-तंत्र पर आपका विश्वास है। घरेलू दवाइयों और हस्त-रेखा विज्ञान का भी आपको ज्ञान है। अरविन्द दर्शन से आप बहुत अधिक प्रभावित हुए हैं। आज-कल आप इलाहाबाद रेडियो स्टेशन में हैं।

रूप और कल्पना

सुन्दर सुकुमार गौर वर्ण, शरद के वारिदों-से लम्बे घुँघराले सुनहले केश, कल्पना और सौन्दर्य मानों अंग-अंग से फूट रहा है। 'बाल्य-काल में ही विधाता ने कवि से मातृ-अंचल की अभय छाया छीन ली थी। प्रणय की पतली उँगलियों ने, जिन्हें विधि ने किसी के गान से गढ़ा था, कवि के हृदय को भुलाकर मुग्ध-कर विकल संगीत में बदल दिया; और सब भाँति कंगाल-हृदय कवि निर्जन विपिन में बैठकर अश्रुओं की बाढ़ में अपनी 'बिकी भग्न-भावी' को डुबाने लगा'। उसके अधरों पर मुस्कान खेल रही थी; किन्तु उस मुस्कान में आँसुओं से भी अधिक करुणा थी। वह पुकार उठा—

> व्यर्थ मेरा धन न छीनो यों,—सजल
> वेदना यह प्रणय की ही वेदना;
> मूक तम, वाचाल नग्न-शिशिर, दर्वी
> शून्य गर्जन, आह, मादक सुधि, अटल,
> और भी, हाँ प्रियतमा के रूप का
> भार ध्रुव से, अश्रु आँखों में, चुभे
> कण्टकों का हार, कुछ उद्गार जो
> बादलों-से उमड़ते हैं हृदय में!

कवि ने यह समझने का यत्न किया कि—

> कौन-सी ऐसी परम वह वस्तु है
> भटकते हैं मनुज-गण जिसके लिए
> कौन-सा ऐसा चरम सौन्दर्य है
> खींचता है जो जगत के हृदय को?

रूप मानवीय क्रियाओं का केन्द्र-विन्दु है। 'गुञ्जन' के कवि ने 'दूज की नव-जात कला सदृश' और 'लाज में लिपटी उषा समान' भावी पत्नी की

कल्पना की है। जब उसका ध्यान आता है, तब 'दृगों में व्योम बाला क. शरदाकाश' सोल्लास छा जाता है; और उसकी छवि का अनुमान कर हृदय में अधखिले अंगों का मधुमास तत्काल खिल उठता है। कवि सोचता है कि मेरी प्रिया (भावी पत्नी)—

खेल सस्मित सखियों के साथ सरल शैशव-सी तुम साकार,
लोल कोमल लहरों में लीन लहर ही सी कोमल लघु भार,
सहज करती होगी सुकुमारि मनोभावों से बाल-विहार
खोल सौरभ का मृदु कच-जाल सूँघता होगा अनिल समोद
सीखते होंगे उड़ु खग बाल तुम्हीं से कलरव केलि विनोद।

प्रथम मिलन की कल्पना से कवि का हृदय पुलक उठता है। कल्पना के तार टूटते नहीं, बढ़ते ही जाते हैं—

सशंकित ज्योत्स्ना-सी चुपचाप, जड़ित पद नमित पलक दृग-पात
पास जब आ न सकोगी प्राण···लाज की छुई-मुई-सी म्लान
सुमुखि वह मधु क्षण वह मधु वार धरोगी कर में कर सुकुमार
निखिल जब नर नारी संसार मिलेगा नव सुख से नव वार;
अधर उर से, उर अधर समान, पुलक से पुलक, प्राण से प्राण,
कहेंगे नीरव प्रणयाख्यान।

किन्तु कल्पना के तार यहाँ भी नहीं टूटते। कवि उसके मरण की भी कल्पना कर डालता है—

अरे चिर गूढ़ प्रणय आख्यान ! जब कि रुक जावेगा अनजान
अवनि पर झुक आवेगा प्राण ! व्योम चिर विस्मृति से म्रियमाण
नील सरसिज-सा हो हो म्लान।

'युगान्त' में भी 'मंजरित आम्र की छाया' के प्रथम मिलन की सुधि कवि को पुलकित कर गई। मुग्धा नायिका के प्रथम मिलन का यह बे-जोड़ चित्र है—

तुम मुग्धा थीं अति भाव-प्रवण उकसे थे अँबियों-से उरोज
चंचल प्रगल्भ, हँस-मुख, उदार मैं सलज—तुम्हें था रहा खोज
छनती थी ज्योत्स्ना शशि-मुख पर मैं करता था मुख-सुधा पान,
कूकी थी कोकिल हिले मुकुल भर गये गन्ध से मुग्ध प्राण।

विश्व के अणु-अणु में कवि को प्रिया की रूप-राशि के दर्शन होते हैं। लगता है, जैसे सर्वत्र उसी का रूप बिखरा पड़ा हो—

देख वसुधा का यौवन-भार गूँज उठता है जब मधुमास
विधुर उर के-से मृदु उद्गार कुसुम जब खुल पड़ते सोच्छ्‌वास
न जाने सौरभ के मिस कौन सँदेशा मुझे भेजता मौन।

दार्शनिक गम्भीरता

जीवन की नश्वरता—सौन्दर्य-युगीन पन्त में रूप के प्रति बहुत अधिक आकर्षण की भावना के कारण उन्हें परम उच्छृंखल न समझ लेना चाहिए। जहाँ एक ओर कवि की कल्पना सुकोमल रूप-चित्रों में विहार करती है, वहीं दूसरी ओर उसमें हम एक अनिवर्चनीय दार्शनिक गम्भीरता भी पाते हैं। 'नील कमल-सी' आँखों में खो जानेवाले कवि को झड़ती हुई कली भी देख पड़ती है। जीवन की नश्वरता उसे अखरती है। उसे ज्ञात है कि जीवन का हास-विलास दो दिन का ही है—

झर गई कली, झर गई कली!
चल सरित पुलिन पर वह विकसी,
उर के सौरभ से सहज बसी,
सरला प्रातः ही तो विहँसी,
रे कूद सलिल में गई चली!

आई लहरी चुम्बन करने,
अधरों पर मधुर अधर धरने
फेनिल मोती से मुँह भरने
वह चंचल सुख से गई छली !
निज वृन्त पर उसे खिलना था,
नव नव लहरों से मिलना था,
निज सुख-दुख उसे बदलना था,
रे गेह छोड़ वह बह निकली !

कविता की अन्तिम पंक्तियों में कवि कली के करुण अवसान के कारण गम्भीर हो जाता है। कली को वह जग-जीवन के प्रतीक के रूप में देखता है–

है लेन-देन ही जग-जीवन,
अपना पर सबका अपनापन,
खो निज आत्मा का अक्षय धन
लहरों में भ्रमित, गई निगली !

जीवन बीत रहा है। प्रति क्षण हम मृत्यु के मुख के निकट जा रहे हैं। कवि सोचता है कि हमारी इस यात्रा का अन्त क्या होगा ! हम जा किधर रहे हैं ! इन समस्याओं का समाधान नहीं है। समस्याएँ अपने में स्वयं समाधान हैं। हम इनपर पहले विचार तो करें।

सुख-दुःख

'गुंजन' का कवि सबके उर की डाली देखता है और पाता है––

सब में कुछ सुख के तरुण फूल,
सब में कुछ दुख के करुण शूल,
सुख-दुःख न कोई सका भूल !

प्रकृति से मानव बहुत पीछे है। तरु की सूखी डाली पर भी कली मुस्करा लेती है; लेकिन मनुष्य अब तक दुःख को सुख समझकर अपना न सका। यही तो मानव के दुःख का रहस्य है। कवि का विश्वास है—

सुन्दर विश्वासों से ही बनता रे सुखमय जीवन!

पान, चूने और कत्थे के सहयोग से बीड़ा बनता है। इन सब का समुचित अनुपात अनिवार्य है। यदि कत्था अधिक होगा तो पान तीता लगेगा; और यदि चूना अधिक होगा तो मुँह फट जायगा। इसका आनन्द समुचित अनुपात बने रहने पर ही निर्भर है। सुख और दुःख भी चूने और कत्थे की भाँति ही मानव जीवन के पान में आते हैं। कवि चाहता है—

सुख दुख के मधुर मिलन से,
यह जीवन हो परिपूरन!

क्योंकि उसे ज्ञात है कि—

जग पीड़ित है अति दुख से।
जग पीड़ित रे अति सुख से।

कवि का विश्वास है—

जग-जीवन में है सुख दुख, सुख दुख में है जग जीवन;
हैं बँधे विछोह मिलन दो, देकर चिर स्नेहालिंगन!

१९२८ ई० की अस्वस्थता ने कवि की भावुकता में चिन्तन का समावेश कर दिया। जीवन को निकट से देखने की जिज्ञासा के परिणाम-स्वरूप इस काल में जीवन के सम्बन्ध में उसके विचार बहुत सुलझे हुए हैं।

हँसने ही में तो है सुख यदि हँसने को होवे मन,
भाते हैं सुख में आते मोती से आँसू के कन।…
अणु से विकसित जग-जीवन लघु अणु का गुरुतम साधन…

जीवन के नियम सरल हैं, पर है चिर गूढ़ सरलपन ;
है सहज बुद्धि का मधु क्षण, पर कठिन मुक्ति का बन्धन ।

प्रेम

'युगान्त' तक पंत जी मूलतः यौवन और प्रेम के कवि रहे हैं । 'युगवाणी' में कल्पना के कवि ने जमीन पर पाँव रक्खे; किन्तु रूप, यौवन और प्रेम के सम्बन्ध में उसके विचार वही रहे ।

पंत जी अ-रूप के आराधक हैं । 'ग्रन्थि' में उन्होंने 'प्रथम पुरुष' में एक विफल प्रणय-कथा कही है—

एक पल, मेरे प्रिया के दृग पलक
थे उठे ऊपर, सहज नीचे गिरे
चपलता ने इस विकम्पित पुलक से
दृढ़ किया मानों प्रणय-सम्बन्ध था ।

इस प्रणय-सम्बन्ध में कितना सत्य है, यह नहीं कहा जा सकता; किन्तु कवि का यह प्रणय हमें मानसिक ही लगता है । 'भावी पत्नी' की कल्पना में भावनाएँ इस प्रकार मचली हैं कि भूमि पर उसका अस्तित्व ही नहीं जान पड़ता ।

'अप्सरा' का रूप देखिए—

नील रेशमी तम-सा कोमल खोल लोल कच-भार,
ताल तरल लहरांचल स्वप्न विकच स्तन हार,
शशि-कर-सी लघु पद सरसी में करतीं तुम अभिसार,
दुग्ध फेन शरद ज्योत्स्ना में ज्योत्स्ना-सी सुकुमार

जगती के अनिमिष पलकों पर स्वर्णिम स्वप्न समान
उदित हुई थीं तुम अनन्त यौवन में चिर अम्लान।

रूप इतना मादक है कि बरबस ही हमें अपने उन्माद से सिक्त कर देता है। किन्तु यह अप्सरा कवि की कल्पना-वीथियों में ही विहार करती है। यदि हम इसकी रूप-सुरा का पान करना चाहें तो अपने हृदय को कवि-सा बनाना होगा। कवि की ये पंक्तियाँ हमारी आँखें खोल देती हैं—

जग के सुख दुख पाप ताप तृष्णा ज्वाला से हीन,
जरा-जन्म-भय-मरण-शून्य यौवनमयि नित्य नवीन;
अतल विश्व-शोभा-वारिधि में, मज्जित जीवन-मीन,
तुम अदृश्य, अस्पृश्य अप्सरी, निज सुख में तल्लीन।

प्रेम के सम्बन्ध में कवि की विचार-धारा बहुत विचित्र है—

और भोले प्रेम क्या तुम हो बने
वेदना के विकल हाथों से? जहाँ
झूमते गज से विचरते हो, वहीं
आह है, उन्माद है, उत्ताप है!
पर नहीं, तुम चपल हो, अज्ञान हो,
हृदय है, मस्तिष्क रखते हो नहीं,
बस बिना सोचे हृदय को छीनकर
सौंप देते हो अपरिचित हाथ में!

'ग्रन्थि' में कवि ने यौवन और प्रेम से सम्बद्ध वस्तुओं की परिभाषा भी दी है जो उसे समझने में सहायक सिद्ध होंगी—

हृदय—तुमसे जहाँ वज्र भी भयभीत होता है वहीं।
देख तेरी मृदुलता तिल-सुमन भी संकुचित हो सहम जाता है अहा!
सरल सौन्दर्य—तुम सचमुच बड़े निठुर औ' नादान हो।

स्मृति—यदपि तुम प्रणय की पद-चिह्न हो, पर निरी हो बालिका।
अश्रु—हे अनमोल मोती सृष्टि के! नयन के नादान शिशु।
वेदना—तुम महा संगीत नीरव हास हो, है तुम्हारा हृदय माखः
का बना

आँसुओं का खेल भाता है तुम्हें!
उन्माद—तुम स्वर्गीय हो कुमुद कर से जन्म पा
तुम मधुप के गीत पीकर मत्त रहते हो सदा।
आह—सूखे आँसुओं की कल्पना।
विरह—कुलिश की तीक्ष्ण, चुभती नोक से
निठुर विधि ने अश्रुओं से है लिखा।
विश्व—मनोहर भूल।
सौख्य—साधना का शत्रु।
ज्ञान—इन्द्रियों की भ्रान्ति।

इन सगे-सम्बन्धियों के बीच पला हुआ प्रेम कितना सुकुमार और मादक होगा, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है।

यहीं यह भी बता दें कि प्रेम और वासना दो विभिन्न वस्तुएँ हैं। प्रेम का सम्बन्ध हृदय से है और वासना का शरीर से। प्रेम अमर है और वासना नश्वर। यदि आपकी प्रेमिका आपके सामने ही पर-पुरुष को प्यार करे और आपके मन में उसके प्रति प्रतिहिंसा की भावना न जगे—आप उसे वैसे ही चाहते रहें जैसे पहले चाहते थे—तो समझिए कि आप सच्चे प्रेमी हैं। किन्तु इस कसौटी पर कितने लोग खरे उतरेंगे, यह कहना कठिन है। शिव ने सती को त्याग दिया; मिथ्या लोकापवाद के भय से मर्यादा पुरुषोत्तम राम भी अछूते न रहे! फिर हम आप तो मनुष्य हैं। यद्यपि पंत जी का विचार है-

मन से होते मनुज कलंकित,
रज की देह सदा से कलुषित।

प्रेम पतित - पावन है तुमको,
रहने दूँगा मैं न कलंकित ॥

उनका रावण भी सीता का तन नहीं, हृदय चाहता है—

रावण को प्रिय नहीं नारि-तन,
माया से भी कर सकता वह,
पल में शत सीता - तन निर्मित।
मुझे चाहिए देवि, वह हृदय,
जिसमें अखिल सृष्टि का आश्रय।

जरा उनके प्रणय की भी झाँकी लीजिए—

'क्या है प्रणय?' एक दिन बोली, 'उसका वास कहाँ है?
इस समाज में? देह मोह का, देह द्रोह का त्रास जहाँ है?
देह नहीं है परिधि-प्रणय की, प्रणय दिव्य है मुक्ति हृदय की;
नारी का तन माँ का तन है जाति-वृद्धि के लिए विनिर्मित,
पुरुष-प्रणय अधिकार-प्रणय है सुख-विलास के हित उत्कण्ठित!
तुम हो स्वप्न-लोक के वासी तुमको केवल प्रेम चाहिए,
प्रेम तुम्हें देती मैं अबला मुझको घर की क्षेम चाहिए!
हृदय तुम्हें देती हूँ, प्रियतम, देह नहीं दे सकती
जिसे देह दूँगी अब निश्चित स्नेह नहीं दे सकती।

इसी से तो यह अलौकिक प्रेम का पुजारी कहता है—

तुम्हारे छूने में था प्राण, संग में पावन गंगा-स्नान।

पाप वह मानवीय कृत्य है जो दूसरों की दृष्टि से छिपाकर किया जाता है। प्रणय पुण्य है; अतः कवि उसे समाज की आँखों से छिपाना नहीं चाहता—

धिक रे मनुष्य तुम स्वच्छ, स्वस्थ, निश्छल चुम्बन
अंकित कर सकते नहीं प्रिया के अधरों पर?

मन में लज्जित, जन से शंकित, चुपके गोपन
तुम प्रेम प्रगट करते हो नारी से कायर !
क्या मिल न सकेंगे प्राणों से प्रेमार्त्त प्राण
ज्यों मिलते सुरभि समीर, कुसुम अलि, लहर किरन ?
क्या क्षुधा तृष्णा-सा स्वप्न जागरण-सा सुन्दर
है नहीं काम भी नैसर्गिक, जीवन द्योतक ?
पशु पक्षी से सीखो प्रणय-कला मानव
है पुण्य तीर्थ नर नारी जन का हृदय-मिलन ।

यह तो रही आदर्श की बात। न तो किसी ने इसे व्यावहारिक रूप दिया है और न हम किसी से ऐसी आशा ही करते हैं। सार्वजनिक स्थानों पर कामोत्तेजना फैलाना विधान की दृष्टि में भी अपराध है। महर्षि वात्स्यायन ने भी अपने काम-सूत्र में प्रणय के लिए एकान्त, अँधेरे और वस्त्र का विधान किया है। यह आदर्शवादी प्रणय केवल काव्य में रसिक जनों के आनन्द की वस्तु है। इसका व्यावहारिक मूल्य कुछ भी नहीं है।

नारी

नारी की सुन्दरता पर मैं होता नहीं विमोहित,
शोभा का सौंदर्य मुझे करता अवश्य आनन्दित।
विशद स्त्रीत्व का ही मैं मन में करता हूँ नित पूजन,
जब आभा देही नारी आह्लाद प्रेम कर वर्षण
मधुर मानवी की महिमा से भू को करती पावन।

सामाजिक मर्यादा के अनुसार पंत जी ने नारी के चार भेद किये हैं—

'देवि, माँ, सहचरि, प्राण'

'माँ' और 'सहचरी' तक तो ठीक है; पर यदि 'प्राण' को प्रेमिका मान लें तो 'सहचरि' का अस्तित्व खतरे में पड़ जाता है। किन्तु पंत जी प्रेम का सम्बन्ध हृदय से मानते हैं। वह उनके लिए अ-शरीरी है, अतः प्राण भी ठीक है। 'देवी' नारीत्व का चरम उत्कर्ष है। बहन को न जाने क्यों पन्त जी भूल गये।

दरिद्रता की गोद में पली ग्राम-नारी का चित्र कवि से बहुत सुन्दर बन पड़ा है—

कृत्रिम रति की नहीं हृदय में आकुलता
उद्दीप्त न करता उसे भाव-कल्पित मनोज

मजदूरनी का चित्र भी बहुत आकर्षक है। निम्न वर्ग के प्रति बौद्धिक सहानुभूति होने से कवि उनकी विवशता-जन्य मर्यादाओं से अपरिचित नहीं है—

सर से आँचल खिसका है धूल भरा जूड़ा
अध-खुला वक्ष,—ढोतीं तुम सिर पर धर कूड़ा
हँसती बतलाती सहोदरा-सी जन जन से
यौवन का स्वास्थ्य झलकता आतप सा तन से
तुमने निज तनु की तुच्छ कंचुकी को उतार
जग के हित खोल दिये नारी के हृदय-द्वार

ग्राम-नारी की इस चन्द्रिका का एक अँधेरा पक्ष भी है। ग्रामीण नारी का चित्रण वास्तविकता से दूर है—

उन्माद यौवन से उभर
घटा सी नव असाढ़ की सुन्दर,
सरकाती पट
खिसकाती लट
शरमाती झट
वह नमित दृष्टि से देख उरोजों के युग-घट

हँसती खल खल

... ...

आ ग्राम युवक
प्रेमी याचक
जब उसे ताकता है इक टक
खींचती उनहनी वह, बरबस
चोली से उभर उभर कसमस
खिंचते सँग युग रस भरे कलस।

'तन पर यौवन सुषमाशाली, मुख पर श्रम-कण रवि की लाली, सिर पर स्वर्ण शस्य डाली, मेड़ों पर उरु मटकाती, कटि लचकाती' यह ग्राम युवती छिछली मनोवृत्ति के किसी निर्देशक की साढ़े पाँच आनेवाली एक्स्ट्रा ती है। मैं भी देहात का ही हूँ, पर आज तक ऐसी किसी ग्राम युवती के न मुझे न हुए।

'ग्राम-वधू' की विदा की वेला के रोने-कलपने को कवि 'चलन भर' ही ता है। गाड़ी खुलते ही—

बतलाती धनि पति से हँसकर
रोना गाना यहाँ चलन भर।

हात के रहनेवाले जानते होंगे कि विदा होने पर लड़कियाँ रास्ते भर में रोती जाती हैं; और पति-गृह में महीनों उनका खाना-पीना हराम है। एक जगह से दूसरी जगह लगाई हुई जड़ कलम भी दो-चार दिन रहती है। फिर ग्राम-वधू के रुदन को 'चलन भर' कह देना कहाँ तक

रीत्व का आदर्श पन्त जी ने कुल-वधू को माना है। 'स्वीट पी' से उन्हें लिए है कि वह 'कुल-वधुओं-सी सलज्ज सुकुमार' है। नव-वधू का रूप देखिए—

दुग्ध पीत अधखिली कली-सी मधुर सुरभि का अंतस्तल,
दीप-शिखा सी, स्वर्ण करों के इन्द्र - चाप का मुख-मंडल !
शरद व्योम-सी, शशि मुख का शोभित लेखा लावण्य नवल,
शिखर स्रोत-सी, स्वच्छ, सरल, जो जीवन में बहता कल-कल !

कवि नव-वधू का स्वागत करता हुआ कहता है—

आती हो तुम, सौ सौ स्वागत, दीपक बन घर की आओ,
श्री शोभा सुख स्नेह शांति की मंगल किरणें बरसाओ !
प्रभु का आशीर्वाद तुम्हें, सेंदुर सुहाग शाश्वत पाओ,
संगच्छध्वं के पुनीत स्वर जीवन में प्रति पग गाओ !

आधुनिका के प्रति कवि ने घृणा व्यक्त की है—

लहरी-सी तुम चपल लालसा स्वाँस वायु से नर्मित,
तितली-सी तुम फूल फूल पर मँडराती मधु क्षण हित
मार्जारी तुम, नहीं प्रेम को करती आत्म-समर्पण,
तुम्हें सुहाता रंग प्रणय, धन, पद, मद, आत्म-प्रदर्शन ।
तुम सब कुछ हो फूल, लहर, तितली, विहगी, मार्जारी,
आधुनिके, तुम नहीं अगर कुछ, नहीं सिर्फ तुम नारी ।

हृदय-हीन मधुराकृति आधुनिका पन्त का स्नेह नहीं पा सकी है । पाश्चात्य शिक्षा भारतीय संस्कृति बेचकर नहीं ली जा सकती । एक ग्रैजुएट बाला को दर्शन कीजिए—

भाल पर न बेंदि सुघर
माँग में न सेंदुर वर
रँगती हम मधुर अधर
भ्रू-धनु में कज्जल भर ।

कवि ने नारी में स्वर्ग, मादकता और नरक तीनों देखे हैं ।

कवि नारी को पुरुष के सम-धरातल पर प्रतिष्ठित करना चाहता है, रूढ़िगत सामाजिक संकीर्णता की परिधि से उसे जीवन-क्षेत्र में लाना चाहता है—

मुक्त करो नारी को मानव ! चिर-वन्दिनि नारी को,
युग युग की बर्बर कारा से, जननि, सखी, प्यारी को।...

नारी की निरीहता से उसका मन आर्द्र हो जाता है—

सदाचार की सीमा उसके तन से है निर्धारित,
पूत-योनि वह, मूल्य चर्म पर केवल उसका अंकित
वह समाज की नहीं इकाई शून्य समान अनिश्चित,
उसका जीवन-मान मान पर नर के है अवलम्बित।
मुक्त-हृदय वह स्नेह प्रणय कर सकती नहीं प्रदर्शित
दृष्टि, स्पर्श, संज्ञा से वह हो जाती सहज कलंकित।

किन्तु नारी की करुणा पर आँसू बहाकर ही कवि मौन नहीं हो जाता; वह उसे आगे बढ़कर अपना अधिकार लेने के लिए उत्साहित भी करता है—

तुममें सब गुण हैं तोड़ो अपने भय-कल्पित वन्धन
जड़ समाज के कर्दम से उठकर सरोज-सी ऊपर
अपने अन्तर के विकास से जीवन के दल दो भर
सत्य नहीं बाहर, नारी का सत्य तुम्हारे भीतर
भीतर से ही करो नियंत्रित जीवन को, छोड़ो डर।

नारी का भावात्मक सौन्दर्य उसके भौतिक सौन्दर्य की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। नारी के 'अस्थि-चर्ममय देह' के रूप से उसके हृदय का रूप अधिक आकर्षक होता है। कवियों की नारी के प्रति अनुरक्ति का मूल कारण नारी का हृदयगत सौन्दर्य ही है। कहा जा सकता है कि पुरुष कवियों ने (जो अनुपात में नारी कवयित्रियों की अपेक्षा बहुत अधिक हैं) विपरीत 'सेक्स' के कारण नारी को महत्त्व प्रदान किया है; किन्तु हमारे उपर्युक्त कथन

की पुष्टि इस बात से होती है कि नारी कवयित्रियों ने भी नारी का ही रूप-चित्रण अधिक किया है। राम और कृष्ण के रूप-चित्रों में भी हम स्त्रियोचित गुणों (माधुर्य, शील और प्रेम) की ही प्रधानता पाते हैं। प्रथम उत्थान के नारी-चित्रों में नारी के भावात्मक सौन्दर्य में निहित होने के कारण कवि को सफलता मिली है। द्वितीय उत्थान में कवि ने नारी को बुद्धि की कसौटी पर कसने का यत्न किया है। इसी कारण इस काल के नारी-चित्र वास्तविकता से दूर हैं। तृतीय उत्थान में कवि पुनः अपने पुराने मार्ग की ओर लौट गया है। आशा है, भविष्य में उससे हमें बहुत-कुछ मिलेगा।

प्रकृति

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया
तोड़ प्रकृति से भी माया
बाले तेरे बाल-जाल में
कैसे उलझा दूँ लोचन ?

'वीणा' के कवि के सामने प्रकृति रहस्य के रूप में आती है—

उस फैली हरियाली में कौन अकेली खेल रही माँ?

और अबोध बालिका-सा वह उससे साहचर्य स्थापित कर लेता है—

कौन कौन तुम परहित-वसना, म्लानमना भू-पतिता-सी ?
धूलि-धूसरित, मुक्त-कुन्तला किसके चरणों की दासी ?
अहा ! अभागिनि हो सखि मुझ-सी, सजनि ! ध्यान में अब आया,
तुम इस तरुवर की छाया हो मैं उनके पद की छाया !

कवि वह अरूप सौन्दर्य बाँहों में भर लेना चाहता है—

जिसकी सुन्दर छबि ऊषा है, नव वसन्त जिसका शृंगार,

तारे हार किरीट सूर्य शशि, मेघ कोश, स्नेहाश्रु तुषार;
मलयानिल मुख-वास, जलधि मन, लीला लहरों का संसार,
उस स्वरूप को तू भी अपनी
मृदु बाँहों में लिपटा ले,--
रमा अंग में प्रेम-पराग !

'वीणा' का कवि नदी, झरने, बादल, इन्द्र-धनुष, ऊषा और गोधूलि के सौन्दर्य में अपने को खो-सा देता है। जहाँ तक दृष्टि जाती है, उसे सब सुन्दर ही सुन्दर दिखाई पड़ता है। अबोध बालिका-सा कवि का चंचल मन प्रकृति के साथ खेलता रहता है—

मृदु-मृदु स्वप्नों से भर अंचल
नव नील नील, कोमल कोमल,
छाया तरु वन में तम श्यामल।

कवि ने स्वयं स्वीकृत किया है कि 'पल्लव-काल में मुझसे प्रकृति की गोद छिन जाती है।' यह सत्य है। प्रकृति के मनोहर चित्रों को कवि ने एक नई दिशा दी, किन्तु प्रकृति की गोद कवि से कभी नहीं छिनी।

'पल्लव' में पंत ने प्रकृति से तादात्म्य स्थापित कर लिया है। कवि और प्रकृति के बीच का व्यवधान हट-सा जाता है–दोनों मिलकर एक हो जाते हैं—

मेरा पावस ऋतु-सा जीवन
मानस-सा उमड़ा अपार मन;
गहरे, धुँधले, धुले, साँवले,
मेघों से मेरे भरे नयन।
इन्द्र-धनु-सा आशा का छोर
अनिल में अटका कभी अछोर
कभी कुहरे-सी धूमिल घोर
दीखती भावी चारों ओर।

तड़ित सा सुमुखि तुम्हारा ध्यान···
जुगनुओं-से मेरे उड़ प्रान
खोजते हैं जब तुम्हें निदान !

प्रकृति यहाँ मानवीय व्यापारों की सहायिका के रूप में आई है।

कवि प्रकृति के रूप पर विमोहित ही नहीं हुआ है, उसे उसने शिक्षिका के रूप में भी देखा है। प्रकृति के नग्न सौन्दर्य में मन मोहने की शक्ति के साथ उपदेश भी कुछ कम नहीं है—

तरु की सूखी डाली पर सीखा कलि ने मुस्काना
मैं सीख न पाया अब तक दुख को सुख कर अपनाना !

'नौका विहार' में गंगा का सौन्दर्य अद्वितीय है। कवियों ने अब तक गंगा का पौराणिक स्वरूप ही देखा था। गंगा की लहरों के भौतिक सौन्दर्य की ओर हमारे कवियों की दृष्टि न जा सकी थी। यदि हम पुरातन कवियों की गंगा-सम्बन्धी कविताओं में से धार्मिक भावनाएँ निकाल दें तो सौन्दर्य के नाम पर कुछ न बचेगा। पन्त जी ने 'नौका विहार' में एक नई दिशा दी है—

शान्त, स्निग्ध, ज्योत्स्ना उज्वल !
अपलक, अनन्त, नीरव भूतल !
सैकत शैय्या पर दुग्ध धवल तन्वंगी गंगा ग्रीष्म विरल
लेटी है श्रान्त, क्लान्त, निश्चल !
तापस बाला सी गंगा कल शशिमुख से दीपित मृदु कर-तल
लहरें उर पर कोमल कुन्तल !
गोरे अंगों पर सिहर-सिहर लहराता ताल तरल सुन्दर
चंचल अंचल-सा नीलाम्बर !
साड़ी की सिकुड़न सी जिस पर शशि की रेशमी विभा से भर
सिमटी है वर्तुल मृदुल लहर !

गंगा का यह शब्द-चित्र अपने में पूर्ण है। इसकी भावनाओं में गंगा को साकार कर देने की शक्ति है और ध्वनि में गंगा की लहरों का कलकल नाद।

× × ×

'युग वाणी' में एक स्थान पर कवि ने कहा है—

कहाँ मनुज को अवसर, देखे मधुर प्रकृति-मुख?
भव अभाव से जर्जर प्रकृति उसे देगी सुख?

द्वितीय उत्थान में कवि को प्रकृति वहीं आकर्षक लगी है, जहाँ वह आर्थिक विषमता के कोहरे से आच्छादित मानवता को रश्मि के दर्शन कराती है।

'पलाश' से कवि ने जीवन-संघर्ष की प्रेरणा ली है—

मरकत वन में आज तुम्हारी नव प्रवाल की डाल
जगा रही उर में आकुल आकांक्षाओं की ज्वाल।

'निर्जन टीले पर' के 'दोनों चिलबिल' कवि को मित्रों-से खड़े लगते हैं। इसी प्रकार 'लंबे, पतले, चंचल, घने नीम-दल' में भी कवि ने सर्व-हारा वर्ग के दर्शन किये हैं। कविता की अन्तिम पंक्तियाँ 'झंझा में नीम' से अधिक सर्व-हारा वर्ग का ही चित्रण करती हैं—

खिसक, सिसक, साँसें भर,
भीत, पीत, कृश, निर्बल,
नीम दल सकल
झर झर पड़ते पल पल!

'स्वर्ण-धूलि' का कवि 'ताल-कुल' को सम्बोधित कर कहता है—

पास खड़े तुम लगते सुन्दर
नारिकेल के हे पादप वर!...
देवों की-सी रखते काया,
देते नहीं पथिक को छाया!

अगर न ऊँचे होते दादा,
कब का ऊँट तुम्हें खा जाता !
—एक बात, पर लगता प्यारा
दूर, तरंगित क्षितिज तुम्हारा ।

इस कविता में नारिकेल पूँजीपतियों का प्रतिनिधित्व कर रहा है और ऊँट सर्वहारा वर्ग का । यह रूपक बहुत सुन्दर बन पड़ा है । ऊँट स्वयं अपनी शक्ति नहीं जानता, उसका स्वामी (जो उसे खरीद लेता है) उसकी शक्ति जानता है । बोझ लादते चले जाइए, ऊँट उफ तक न करेगा । उसे सिर्फ चारा चाहिए । यों हफ्तों वह बिना खाये-पीये भी रह सकता है ।

और नारिकेल ! उसकी ऊँचाई देखते ही बनती है । उसकी पत्तियों का लघु अंश ऊँट का पेट भर सकता है । उसके फलों में पानी भी है । बेचारा ऊँट उसे देखकर तरसता रह जाता है । और नारिकेल है कि गर्व से सिर उठाये खड़ा है ।...एक दिन वह भी आवेगा, जब सब ऊँट मिलकर नारिकेल को गिरा देंगे, नारिकेल की पत्तियाँ चारा बनेंगी, उनके फल से 'पानी' मिलेगा । धरती पर हरी घासें उगेंगी । छायादार वृक्ष निकलेंगे । उनपर विहग नीड़ बनावेंगे । कितना मनोहर होगा वह प्रभात ! उसके आने में अभी देर है; किन्तु एक न एक दिन वह अपनी मधुरिमा से हमारा मन भर देगा ।

'ग्राम्या' के कुछ प्रकृति-चित्र परम मनोरम हैं—

उड़ती भीनी तैलाक्त गंध, फूली सरसों पीली पीली,
लो हरित धरा से झाँक रही, नीलम की कलि तीसी नीली ।
अब रजत वर्ण मंजरियों से लद गई आम्र-तरु की डाली ।
झर रहे ढाक, पीपल के दल, हो उठी कोकिला मतवाली ।

नामों की सूची देने में कवि कहीं-कहीं वास्तविकता से दूर रहा है—

हँसमुख कैन्डीटफ्ट, रेशमी चटकीले नैशटरशम,
खिली स्वीट पी,—एवंडंस, फिल वास्केट औ' ब्लू बैटम ।

जोसेफ हिल, सनबर्स्ट पीत, स्वर्णिम लेडी हेलिंडन,
ग्रेंड मुगल, रिचमंड, विकच ब्लैक प्रिंस नील लोहित तन।

ये फूल शायद हमारे देहातों में नहीं होते; यदि होते भी हों तो इनके कुछ न कुछ देहाती नाम अवश्य होंगे। इन पंक्तियों का पाठक अधिक से अधिक इतना ही समझ पाता है कि हम फूलों के नाम पढ़ रहे हैं।

द्वितीय उत्थान में कवि ने सुन्दरम् से अधिक सत्यम् को महत्त्व दिया है; इसी कारण द्वितीय उत्थान के प्रकृति-चित्रों में प्रथम उत्थान की सौन्दर्यानुभूति का अभाव है।

× × ×

'स्वर्ण किरण' में संकलित 'चंद्रोदय' शीर्षक कविता की दो पंक्तियाँ हैं—

दीपित उससे अंतरिक्ष पर मेघों का घर,
वह प्रकाश था कब से भीतर नयन-अगोचर।

और सचमुच कवि एक युग के बाद चाँद का रूप निहार पाया है। 'चंद्रोदय' की प्रारम्भिक पंक्तियाँ देखिए—

वह सोने का चाँद उगा ज्योतिर्मय मन-सा,
सुरँग मेघ अवगुण्ठन से आभा आनन-सा!
उज्वल गलित हिरण्य बरसता उससे झर झर,
भावी के स्वप्नों से धरती को विजड़ित कर!

'प्रभात का चाँद' कवि का मन अनिर्वचनीय पुलक से भर देता है—

नभोनीलिमा में प्रभात का चाँद उनींदा हरता लोचन!...
तिरते उजले बादल नभ में बेला कलियों से कुम्हलाए,
उड़ता सँग सँग नाग-दंत-सा चाँद सीप के पर फैलाए!

इस सुन्दरता में कवि ने श्रमिक की सुन्दरता भी देखी है—

ऐसे ही परिणत आनन-सा यह विनम्र विधु हरता लोचन,
भू के श्रम से सिक्त, नम्र मानव के शारद मुख-सा शोभन।

प्रकृति के आलम्बन चित्रण को 'स्वर्ण किरण' में नई दिशा मिली है। द्वितीय उत्थान के कवि ने हमें भ्रम में डाल दिया था। भय था कि कहीं हँसिये और हथौड़े की चोट से राजरानी प्रकृति के आभूषण टूट न जायँ। पर हर्ष की बात है कि 'स्वर्ण किरण' ने हमारी सुकुमार कल्पनाओंवाले कवि को हमें वापस लौटा दिया।

कवि ने 'हिमाद्रि' में अपना गरिमामय अतीत भी देखा है—

मदन-दहन की भस्म अनिल में उड़, अब तक तन करती पुलकित,
सती अपर्णा के तप से वन-श्री अवाक् सी लगती विस्मित।

प्रकृति की सुषमा में कितना आह्लाद है, यह 'स्वर्ण निर्झर' से पूछिए—

ऊषा की लाली से कल्पित नव वसन्त के कोंपल,
सौरभ वाष्पों पर पुष्पों के शत रँग खिलते प्रति पल!
शशि-किरणों के नभ के नीचे, उर के सुख से चंचल,
तुहिनों का छाया बन नित कँपता रहता तारोज्वल!

सुहाग भरी 'ऊषा' का रूप देखकर कोष्ठक के भीतर लिखा 'मनः स्वर्ग' सार्थक जान पड़ता है—

ज्योति नीड़ के विहग जगे, गाते नव जीवन मंगल,
रजत घंटियाँ बजीं अनिल में, ताली देते तरु-दल!...
वसुधा के उरोज-शिखरों से खिसका चल मलयांचल,
सरिता की जाँघों से सरका लहरा रेशम-सा जल!

प्रणय की साकार प्रतिमा बनकर ऊषा आई है। उसका रूप, यौवन और उन्माद सीमित घेरे में समा नहीं पा रहा है, बाहर छलका पड़ता है—

व्रीड़ा दौड़ी भू पर आ ऊषा के मुख पर
प्रणय-रुधिर से हृदय-शिराएँ काँपीं थर-थर !
अधर पल्लवों में जागा मधु स्वर्णिम मर्मर,
मौन मुकुल मुख खिला लालिमा से रँग सुन्दर !...
पुष्प पुलिन जघनों पर चिर लालसा तरंगित;

पन्त जी के प्रकृति-चित्रों में आलम्बन रूप की प्रधानता होने के कारण लोग उन्हें हिन्दी का 'वर्डस्वर्थ' कहने लगे हैं। दासता ने हमारा मस्तिष्क इस प्रकार विकृत कर दिया है कि जब हम किसी का सम्मान करना चाहते हैं, तब भी पश्चिम में ही उसका उपमान ढूँढ़ते हैं। 'वीणा' और 'गुंजन' के कवि को कोई हिन्दी का वर्डस्वर्थ कहे तो हमें आपत्ति नहीं है; किन्तु इसके बाद कवि वर्डस्वर्थ को बहुत पीछे छोड़ आता है। वर्डस्वर्थ ने प्रकृति का मानवीकरण कर अपने को उसमें खो देने की कामना ही की है, वह प्रकृति में अपने को खो नहीं सका है। दूसरे शब्दों में, वह साध्य पा जाने के सौन्दर्य और शान्ति का अनुभव नहीं कर सका है। किन्तु पन्त के कवि ने अपने को प्रकृति की बाँहों में खो दिया है—कवि और प्रकृति का द्वैत मिट गया है। 'स्वर्ण-धूलि' में संकलित 'सावन' शीर्षक कविता की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

नाच रहे पागल हो ताली देते चल-दल,
झूम झूम सिर नीम हिलाती सुख से विह्वल !
हर-सिंगार झरते, बेला कलि बढ़ती पल-पल,
हँस-मुख हरियाली में खग-कुल गाते मंगल !...
पकड़ वारि की धार झूलता है मेरा मन,
आओ रे सब मुझे घेरकर गाओ सावन !
इन्द्र-धनुष के झूले में झूलें मिल सब जन,
फिर-फिर आये जीवन में सावन मन-भावन !

सामाजिक विचार

पंत जी के काव्य को हिन्दी-समीक्षकों ने तीन भागों में बाँटा है—

१. सौन्दर्य-युग—वीणा, ग्रंथि, गुंजन और पल्लव।

२. प्रगति-युग—युगान्त, युग-वाणी और ग्राम्या।

३. अध्यात्म-युग—स्वर्ण-किरण, स्वर्ण-धूलि, उत्तरा, युगान्तर और रजत-शिखर।

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी ने कुछ हेर-फेर[१] के साथ इस काल-विभाजन को सुन्दरम् (छायावाद युग), शिवम् (प्रगतिशील युग) और सत्यम् (सांस्कृतिक युग) कहा है; और इस प्रकार आपने पन्त जी के काव्य में काव्य के तीनों गुण सत्यम् (ट्रूथ), शिवम् (गुड) और सुन्दरम् (ब्यूटी) का समन्वय किया है।

पन्त जी के काव्य-जीवन का निरन्तर विकास होता रहा है; किन्तु विकास-क्रम की रेखाएँ इतनी अस्पष्ट हैं कि उनके आधार पर हम पन्त जी के काव्य को तीन विभागों में नहीं बाँट सकते। अधिक से अधिक हम इतना ही कह सकते हैं कि कवि के किशोर ने जीवन का सौन्दर्य देखा है; और उसके प्रौढ़ ने जीवन का सत्य। आगे चलकर विचारों में चिन्तन तत्त्व की प्रधानता आने पर कवि ने जीवन के लिए कल्याण (शिव) मार्ग प्रशस्त किया है। इस प्रकार कवि का विकास-क्रम वस्तुतः सुन्दरम्, सत्यम् और शिवम् है। संस्कृति 'सत्यम्' से अधिक 'शिवम्' ही होती है।

पन्त जी और चाहे जो हों, प्रगतिवादी तो कदापि नहीं हैं। 'ग्राम्या' में एक स्थान पर उन्होंने लिखा है—

१—छायावाद सुन्दरम् को लेकर चला था, प्रगतिवाद शिवम् को, रहस्यवाद सत्यम् को। सुन्दरम् भाव-प्रधान है, शिवम् और सत्यम् ज्ञान-प्रधान।

—ज्योति-विहग।

राजनीति का प्रश्न नहीं रे आज जगत के सम्मुख,
अर्थ-साम्य भी मिटा न सकता मानव जीवन के दुख।

प्रगतिवाद का नन्दन-कानन उत्पत्ति के साधनों पर सर्वहारा वर्ग के अधिकार और अर्थ-साम्य की नींव पर खड़ा है; किन्तु पन्त जी के विचार इसके विपरीत हैं। प्रगतिवादी शब्द-कोश में इस प्रकार की विचार-धारा के व्यक्ति 'बुर्जुआ' (Bourgeois) कहे जाते हैं।

हम देख चुके हैं कि गांधीवाद में कवि की दृढ़ आस्था है। मार्क्स को 'त्रिनेत्र का ज्ञान-चक्षु' कहकर भी कवि उन पर गांधी जी की तरह श्रद्धा न दिखला सका। 'मार्क्स के प्रति' कविता की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

विकसित हो बदले जब जब जीवनोपाय के साधन,
युग बदले, शासन बदले, कर गत सभ्यता समापन।...
साक्षी है इतिहास आज होने को पुनः युगान्तर,
श्रमिकों का शासन होगा अब उत्पादन-यन्त्रों पर।
वर्ग-हीन सामाजिकता देगी सबको सम साधन,
पूरित होंगे जनके भव-जीवन के निखिल प्रयोजन।

कविता की अन्तिम पंक्तियों पर ध्यान दीजिए। 'भव-जीवन' के 'निखिल प्रयोजन' मार्क्स-दर्शन पूरा कर सकता है, किन्तु भव-जीवन का निखिल प्रयोजन ही सब कुछ नहीं है।

'युग वाणी' की प्रथम पंक्ति में ही कवि 'बापू' से पूछता है—

किन तत्त्वों से गढ़ जाओगे तुम भावी मानव को ?

कविता की अन्तिम पंक्तियों पर ध्यान दीजिए—

नव संस्कृति के दूत! देवताओं का करने कार्य
आत्मा के उद्धार के लिए आये तुम अनिवार्य!

'मार्क्स के प्रति' शीर्षक कविता से इसे मिलाकर स्वयं निर्णय कीजिए कि लोक-कल्याण के लिए मार्क्स-दर्शन पर कवि का कितना विश्वास है।

मनुष्यत्व का तत्त्व सिखाता निश्चय हमको गांधीवाद,
सामूहिक जीवन विकास की साम्य योजना है अविवाद।

कहना न होगा कि 'मनुष्यत्व का तत्त्व' जीवन के लिए 'सामूहिक जीवन विकास' से अधिक महत्त्वपूर्ण है। मनुष्यत्व खोकर जीवन के विकास की कल्पना करना शून्य पर चित्र बनाने के प्रयास-सा है। मनुष्य का तत्त्व तो हमें गान्धीवाद ही सिखा सकेगा।

भावना की दृष्टि से कवि के द्वितीय उत्थान का हम समर्थन करते हैं; किन्तु काव्य और कला की दृष्टि से कवि का विकास नहीं हो सका है। 'गुंजन' और 'पल्लव' के कवि से हमने जो आशा की थी, वह युगान्त, युगवाणी और ग्राम्या का कवि पूरी न कर सका। कवि को स्वयं अपने द्वितीय उत्थान से सन्तोष न था। प्रथम चरण (युगान्त) में ही जैसे कवि की आत्मा ने विद्रोह कर दिया—

खो गई स्वर्ग की स्वर्ण किरण।

और जब तक उसे 'स्वर्ण किरण' मिल न गई, वह इधर-उधर भटकता रहा। नग्न सत्य वास्तव में कुरूप होता है। किन्तु बिना नग्न सत्य देखे हम शिवम् (कल्याण) की ओर उन्मुख नहीं हो सकते।

साहित्य में मार्क्स-दर्शन का समावेश प्रगतिवाद है और राजनीति में साम्यवाद। भारत की समाजवादी पार्टी (आधुनिक प्रजा समाजवादी पार्टी) यद्यपि अपने आधारभूत सिद्धान्तों के लिए मार्क्स-दर्शन की ऋणी है, किन्तु उसने गांधी जी के सत्य और अहिंसा की छाया में विकास पाया है। 'युगान्त,' 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' के कवि को अधिक से अधिक समाजवादी कहा जा सकता है। अपने इस द्वितीय उत्थान में कवि ने जीवन के सत्य के दर्शन किये हैं; किन्तु 'गुंजन' और 'पल्लव' का सौन्दर्य इस विकास-काल में भी उसे

अनुप्राणित किये है। आगे चलकर जब कवि शिवम् (कल्याण) की ओर उन्मुख हुआ है, तब उसने सत्यम से अधिक सुन्दरम् को ही महत्त्व दिया है।

प्रगतिवाद जीवन के सत्य का अन्वेषण करता है। प्रगतिवाद के सत्यम् की न तो सुन्दरम् पहली सीढ़ी है और न शिवम् अन्तिम। उसका अन्वेषण सत्यम् से प्रारम्भ होता और उसे पा लेने पर समाप्त हो जाता है। और अधिक स्पष्ट शब्दों में प्रगतिवाद के पास केवल सत्यम् है, शिवम् या सुन्दरम् के लिए उसमें स्थान नहीं है। साम्यवाद का अवसान अराजकतावाद में है। साम्यवाद का विश्वास है कि उत्पत्ति के साधनों पर सर्वहारा वर्ग के अधिकार के फल-स्वरूप विश्व से आर्थिक विषमता उठ जायगी; और समान वातावरण तथा परिस्थितियों में विश्व एक कुटुम्ब के रूप में हो जायगा। यह आदर्श पा लेने पर सरकार की कोई आवश्यकता न रहेगी।

पन्त जी की भावी समाज सम्बन्धी कल्पना अराजकतावाद पर आधारित न होकर समन्वयवाद पर आधारित है। जीवन-तट की पंकिलता का उपचार वे अन्तर की करुणा-धारा से करना चाहते हैं। 'युगान्तर' की अन्तिम पंक्तियाँ हैं-

सकल स्रोत मिल एक धार हों,
लोक-समागम आर-पार हो,
ज्ञान शक्ति संचर अपार हो,
युग का युद्ध-अनल शीतल हो

प्रगतिवाद का दृष्टि-कोण भौतिक है। उसका विश्वास है कि रोटी और सेक्स की समस्या सुलझा लेने पर मानव सुखी हो जायगा। पर पन्त जी भौतिक सुख के समर्थक होते हुए भी मानसिक शान्ति के पोषक हैं। 'युग वाणी' की 'दो लड़के' शीर्षक कविता की एक पंक्ति है—

मानव को चाहिए यहाँ मनुजोचित साधन।

'मानव' और 'मनुजोचित साधन' क्या हैं, यह कवि के ही मुख से (अगली कविता 'मानव-पन' में) सुनिए—

चिर ममत्व की मधुर ज्योति—जिससे मानव-उर ज्योतित ।

× × ×

जीवों के प्रति आत्म-बोध ही मनुष्यत्व की परिणति ।

प्रगतिवाद का साध्य रोटी और सेक्स है तथा साधन क्रान्ति । क्रान्ति से प्रगतिवाद (राजनीति के साम्यवाद) का आशय रक्त-रंजित क्रान्ति है। प्रगतिवाद जिस क्रान्ति का आवाहन करता है, वह अब हमारे लिए मात्र स्वप्न-सुमन नहीं है; उसका व्यावहारिक रूप हम रूस और चीन में देख चुके हैं। पन्त जी ने रक्त-क्रान्ति का कभी समर्थन नहीं किया। 'युग-वाणी' की 'पतझर' शीर्षक कविता की प्रारम्भिक पंक्तियाँ हैं—

रिक्त हो रहीं आज डालियाँ,—डरो न किंचित्
रक्त-पूर्ण मांसल होंगी फिर, जीवन-रंजित ।
जन्मशील है मरण ! अमर मर-मरकर जीवन,
झरता नित प्राचीन पल्लवित होता नूतन ।

जो पत्ते अपने आप गिर रहे हैं, कवि उन्हीं का नाश चाहता है। शीघ्रता से वसन्त बुला लेने के लिए वह पुराने पत्ते नोचना नहीं चाहता।

जहाँ तक जीवन, साहित्य और धर्म का प्रश्न है, प्रगतिवाद धर्म नहीं मानता—ईश्वर की सत्ता में प्रगतिवाद का विश्वास नहीं है। वह मनुष्य को ही सृष्टि का कर्त्ता और कारण मानता है। पन्त जी ने मनुष्यत्व को ईश्वरत्व के समीप ले जाने का यत्न किया है; किन्तु इसका यह आशय कदापि नहीं है कि मनुष्य ही ईश्वर है।

द्वितीय उत्थान के प्रकृति-चित्रण सौन्दर्य-युगीन चित्रों से मिलते-जुलते हैं। 'गंगा की साँझ' का एक चित्र देखिए—

शान्त स्निग्ध संध्या सलज्ज मुख देख रही जल-तल में,
नीलारुण अंगों की आभा छहरी लहरी दल में ।

झलक रहे जल के अंचल से कंचु-जलद स्वर्ण-प्रभ,
चूर्ण कुन्तलों-सा लहरों पर तिरता घन ऊर्मिल नभ।

'नौका-विहार' से इसकी तुलना कीजिए। फिर किसी प्रगतिवादी 'गंगा की साँझ' (यदि न मिले तो वोल्गा की साँझ से ही सही) से इसे मिलाकर देखिए; और स्वतः निर्णय कीजिए कि पन्त जी कितने प्रगतिवादी हैं।

लोक-जीवन

युग की वाणी,
हे विश्व-मूर्ति, कल्याणी!

कल्पना-लोक के नन्दन-कानन के कुसुमों से कविता का शृंगार करनेवाले कवि के लिए युग को वाणी देने की क्या आवश्यकता पड़ी, यह एक प्रश्न है। कवि ने स्वयं इसका समाधान किया है—

मैं सृष्टि एक रच रहा नवल भावी मानव के हित, भीतर,
सौन्दर्य, स्नेह, उल्लास, मुझे मिल सका नहीं जग के बाहर।

जब आँखों के आगे वास्तविकता की रेत उड़ने लगती है, तब कल्पना के महल ढह जाते हैं। प्रथम उत्थान में कवि ने मन के अन्दर और बाहर की सुषमा में अपने को भुलाने का यत्न किया; किन्तु जीवन का सौन्दर्य जीवन के सत्य पर परदा न डाल सका। कवि ने देखा—

यह तो मानव लोक नहीं है, यह है नरक अपरिचित,
यह भारत का ग्राम सभ्यता संस्कृति से निर्वासित!
अकथनीय क्षुद्रता, विवशता भरी यहाँ के जग में
गृह-गृह में है कलह, खेत में कलह, कलह है मग में!

प्रकृति धाम यह तृण-तृण कण-कण जहाँ प्रफुल्लित जीवित,
यहाँ अकेला मानव ही रे चिर विषण्ण जीवन्मृत।

प्रकृति ने अपना सौन्दर्य खो दिया हो, यह बात नहीं है—

पत्रों पुष्पों से टपक रहा स्वर्णातप
प्रातः समीर के मृदु स्पर्शों से कँप कँप !
शत कुसुमों में हँस रहा कुंज उडु-उज्वल,
लगता सारा जग सद्यः स्मित ज्यों शत-दल !

इस सौन्दर्य का उपभोग वे ही कर सकते हैं जिनके पास साधन है, जो दूसरों की कमाई पर जीते हैं। श्रमिक का एक चित्र देखिए—

भूख प्यास से पीड़ित उसकी भद्दी आकृति
स्पष्ट कथा कहती,—कैसी इस युग की संस्कृति !

'स्नेह वेदना सने गीत' गाकर विहग श्रमिकों पर 'मधुर सपने' भले बरसा जायँ, संध्या उनपर भले ही अनुराग बिखेर जाय, 'गन्ध, पवन मन्द व्यजन झल' कर उनमें नव जीवन का संचार भले ही कर जाय, परन्तु उन्हीं श्रमिकों की कमाई खानेवाले उनसे तनिक भी स्नेह नहीं कर सकते।

'अपरिचित नरक' (ग्राम) के भावी नागरिकों को देखिए—

कोई खण्डित, कोई कुण्ठित,
कृश-बाहु, पसलियाँ रेखांकित,
टहनी-सी टाँगें, बढ़ा पेट,
टेढ़े-मेढ़े, विकलांग घृणित।

ये हैं हमारे राष्ट्र के भावी कर्णधार ! सूर के बाल-कृष्ण की माधुरी जिनकी आँखों में समा चुकी है, वे इन पंक्तियों को नीरस कह सकते हैं। किन्तु इस नीरसता का उत्तरदायित्व किस पर है ? माँ यशोदा का आँचल पकड़कर कृष्ण के मक्खन के लिए मचलने की-सी सरसता माँ से रोटी माँगते

आकाश हमारे लिए एक रहस्य है। दृश्य जगत में हमें जब सौन्दर्य और आनन्द नहीं दिखाई पड़ता, तब अपने सन्तोष के लिए हम अदृश्य जगत् में उसकी स्थिति मान लेते हैं। हम अपनी कल्पना की आँखों से ही अदृश्य जगत् देखते हैं। कल्पना में इतनी शक्ति नहीं है कि वह वास्तविकता से समझौता कर ले। उक्त पंक्तियों में कवि ने कल्पना के सुख का नया दृष्टि-कोण उपस्थित किया है। उस सुख या आनन्द का मूल्य ही क्या, जिसे हम अपने जीवन में न ला सकें? सिन्धु की भाँति चाँद को बाँहों में भरने के लिए मचलते रहें और संकल्प-विकल्प के ऊहापोह में अपना जीवन समाप्त कर दें।

आदर्श और वास्तविकता जब तक एक विन्दु पर मिल न जायँ, तब तक उनका व्यावहारिक मूल्य कुछ भी नहीं होता। आकाश का स्वर्ग यदि आदर्श है तो धरती की धूल वास्तविक। कवि आदर्श और वास्तविकता का समन्वय करना चाहता है। धरती और आकाश एक दूसरे के पूरक हैं—

आकाश झुक रहा धरती पर बरसा प्रकाश के उर्वर कण,
धरती उसके उर में बुनती छाया का सत-रँग सम्मोहन।

जिस काल्पनिक भावुकता की दृष्टि से हम आकाश को देखते हैं, उसी से यदि हम धरती को भी देखें तो हमें उसमें भी सौन्दर्य दिखाई देगा—

इस धरती के रोम-रोम में भरी सहज सुन्दरता,
इस की रज को छू प्रकाश बन मधुर विनम्र निखरता।

मनुष्य अपने में स्वयं इतना पूर्ण है कि उसे किसी आकाशीय शक्ति की सहायता की आवश्यकता ही नहीं है। उसके लिए विश्व में किसी वस्तु की कमी नहीं है। हाँ, आवश्यकता है अपना मनुष्यत्व सुरक्षित रखने की।

क्या कमी तुम्हें है त्रिभुवन में यदि बने रह सको तुम मानव।

नियति ने मनुष्य को जहाँ एक ओर रश्मियों का उल्लास, चन्द्रिका की स्निग्धता, निर्झर का वेग और गोधूली की लालसा उपहार में दी है, वहीं

उसने कुछ दुर्बलताएँ भी सौंप दी हैं। यदि उल्लास, स्निग्धता, वेग और लालसा को हम नियति का वर-दान कहें तो उन्हींके साथ मिली हुई दुर्बलताएँ अभिशाप कैसे हो सकती हैं ?

> रक्त मांस का जीव विविध दुर्बलताओं से शोभित,
> मनुष्यत्व दुर्लभ सुरत्व से, निष्कलंकता पीड़ित।

मानव की अगणित दुर्बलताओं में भी कवि ने उसकी सबल आत्मा की प्रतिष्ठा की है। कमल सरिता की मनोहर घाटी में नहीं खिलता, उसके खिलने के लिए पंक चाहिए। सुरत्व में दुर्बलता का अभाव रहने के कारण विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है; और दुर्बलताओं से संघर्ष कर मनुष्यत्व निरन्तर विकास पाता है। सुरत्व जितना है, उससे अधिक नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में, वह जड़ होता है। किन्तु मनुष्यत्व चेतन है, उसका विकास होता है; इसी कारण वह सुरत्व से भी ऊँचा उठ सकता है।

अपनी दुर्बलताओं से मनुष्य को घबराना न चाहिए। कन्दुक यदि लक्ष्य पर पहुँचने के पहले ही बीच के पाषाण खण्ड से ठोकर खाकर लौट आवे तो दूसरी बार वह लक्ष्य तक पहुँच ही जायगा। हो सकता है कि कन्दुक की एकाध विफलता पाषाण-खण्ड को ही कन्दुक बना दे।

आज मनुष्य के जीवन में आनन्द का जो अभाव दिखाई देता है, उसका कारण यही है कि उसने अपना मनुष्यत्व खो दिया है—

> अन्तर्जीवन के वैभव से आज अपरिचित भू-जन,
> मध्यम अधम वृत्तियों से कल्पित उसका भव-जीवन।

मनुष्य के साथ यदि उसका मनुष्यत्व लगा रहे तो नाश की शक्तियाँ उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकतीं—

> ना, तुमको भी क्या ढँक लेगी धरती की वेणी अँधियाली ?
> तुम भू के जीवन के तम में दो गूँथ उषा-मुख की लाली।

अपना खोया हुआ मनुष्यत्व हम किस प्रकार फिर से अर्जित करें, यह हमारे सम्मुख एक समस्या है। कवि हमें सलाह देता है—

निज आत्मिक ऐश्वर्य उसे श्रम तप से करना जागृत,
दैन्यों में विदीर्ण मानव को बनना फिर महिमान्वित।

भौतिक उन्नति से हमारी आत्मिक तृप्ति नहीं हो सकती। शान्ति की उत्पत्ति हृदय के सन्तोष से होती है। भौतिकता की मृग-मरीचिका में हम शान्ति की पयस्विनी की कल्पना भी नहीं कर सकते। शान्ति तो हमारी आत्मिक उन्नति से ही उपलब्ध हो सकती है—

मानव ने पायी देश काल पर जय निश्चय,
मानव के पास नहीं मानव का आज हृदय !
चर्वित उसका विज्ञान, ज्ञान ! वह नहीं पचित ;
भौतिक मद से मानव आत्मा हो गई विजित !

× × ×

चाहिए विश्व को आज भाव का नवोन्मेष;
मानव उर में फिर मानवता का हो प्रवेश !

कवि की स्वर्ग-सम्बन्धी कल्पना भी देखिए—

जीवन की क्षण-धूलि रह सके जहाँ सुरक्षित,
रक्त मांस की इच्छाएँ जन की हों पूरित;
मनुज प्रेम से जहाँ रह सकें,—मानव ईश्वर !
और कौन-सा स्वर्ग चाहिए तुम्हें धरा पर ?

जीवन का यह स्वर्ग किस प्रकार उपलब्ध हो, कवि के मुख से सुनिए—

फिर श्रद्धा विश्वास प्रेम से मानव अन्तर हो अन्तःस्मित,
संयम तप की सुन्दरता से जग-जीवन शतदल दिक् प्रहसित !
करें आत्म निर्माण लोकगण आत्मोज्वल भू मंगल के हित,

जिज्ञासा हो सकती है कि स्वर्ग में तो देवता निवास करते हैं। धरती यदि स्वर्ग बन जायगी तो मनुष्य (धरती पर रहनेवाला) अपने मनुष्यत्व का क्या करेगा ? इस जिज्ञासा के समाधान के लिए आदि-पुरुष की वाणी है—

तुम हो मेरे अंश, ज्योति संतान तुम अमर !
छोड़ो जड़ता छिन्न करो भव भेदों का तम,
तुम हो मुझसे एक, एक तुम भूतों से, सम !

साम्यवाद और गान्धीवाद

साम्यवाद ने दिया जगत को सामूहिक जन-तन्त्र महान्,
भव-जीवन के दैन्य दुःख से किया मनुजता का परित्राण।

साम्यवाद मानव का एक पक्ष है; जीवन का दूसरा पक्ष (जो अधिक महत्त्वपूर्ण है) हमारा अन्तर्जगत् है। साम्यवाद के पास अन्तर्जगत् की समस्याओं की मीमांसा नहीं है।

नोआखाली में जब मनुष्य मनुष्यता खोकर अपनी माँ-बहनों के सतीत्व से खेलवाड़ कर रहा था, तब लाठी टेके एक दुर्बल मनुष्य उन्हें पथ दिखाने गया था। पहचानने की कोशिश कीजिए, वह कौन था—

कौन खड़े उन्नत अविचल, दुर्धर झंझा के सन्मुख ?
स्वर्ग-दूत से जाति-भेद का हरने धरणी का दुख !
देह मात्र से मानव तुम, बल में अदम्य तुम भूधर,
ऊर्ध्व चरण धर चलते निश्चल, भू से स्वर्ग-क्षितिज पर।

मानव के अन्तर्जगत् की समस्याओं का निदान इसी व्यक्ति के पास था। इस व्यक्ति के सिद्धान्तों की उपेक्षा करके साम्यवाद अधूरा रहेगा—

गांधीवाद हमें देता जीवन पर अन्तर्गत विश्वास,
मानव की निःसीम शक्ति का मिलता उससे चिर आभास।

व्यक्ति पूर्ण बन जग-जीवन में भर सकता है नूतन प्राण,
विकसित मनुष्यत्व कर सकता पशुता से जन का कल्याण।

नहीं कह सकते कि आज के प्रगतिशील युग में पाठक कवि से कहाँ तक सहमत होंगे ! सुनिए, चरखा क्या कह रहा है--

घूम घूम, भ्रम भ्रम रे चरखा
कहता 'मैं जन का परम सखा
जीवन का सीधा-सा नुसखा—
श्रम, श्रम, श्रम !'

प्रश्न उठता है कि यदि एक आदमी बड़े पैमाने की उत्पत्ति से पचास आदमियों की आवश्यकताएँ पूरी कर सकता है, तो छोटे पैमाने पर उतने ही काम के लिए पचास आदमियों को क्यों लगाया जाय ? किन्तु इसी समस्या के समाधान में यह दूसरी समस्या उठ खड़ी होती है कि शेष उनचास आदमियों की जीविका के लिए बड़े पैमाने की उत्पत्ति कौन-सा हल ढूँढ़ती है ? यदि सबको काम दिया भी जा सके तो अतिरिक्त उत्पत्ति का क्या होगा ? उसे नष्ट करने की अपेक्षा तो यही उत्तम है कि उत्पत्ति की ही न जाय। और यदि उसे नष्ट नहीं करना है तो उसके लिए हमें बाजार ढूँढ़ना होगा, जिसमें राष्ट्रों के पारस्परिक स्वार्थों का संघर्ष अनिवार्य है। कहना न होगा कि इस संघर्ष का अवसान युद्ध और विनाश में है। यदि हम नाश से बचना चाहें तो चरखे की बात हमें माननी ही पड़ेगी। अणु बम हिरोशिमा को भून सकता है; साबरमती आश्रम की झोंपड़ियाँ नष्टकर सकना उसके बस की बात नहीं।

भाषा-शैली

भाषा के माधुर्य के विचार से पन्त जी अद्वितीय हैं। अन्त्यानुप्रास से युक्त समस्त पदावली ने उनकी काव्य-गत मधुरता में चार चाँद लगा दिये हैं।

वीणा, ग्रन्थि, पल्लव और गुंजन का भाषा-माधुर्य उत्कृष्ट है, किन्तु इसके बाद अंत्यानुप्रास का मोह पाठक के लिए एक समस्या बन जाता है।

पल्लव के विज्ञापन में कवि ने लिखा है कि अन्त्यानुप्रास मिलाने के लिए एक स्थान पर 'ण' को 'न' कर दिया गया है; यथा—

अचिर से चिर का अन्वेषन
विश्व का तत्वपूर्ण दर्शन

'युग-वाणी' में इसी तुक की एक कविता है—

जग जीवन का दुरुपयोग है उसका जीवन
अब न प्रयोजन उनका, अंतिम हैं उनके क्षण।

'जीवन' और 'क्षण' का तुक जब युगवाणी के लिए ग्राह्य है, तो पल्लव में 'अन्वेषण' के स्थान पर 'अन्वेषन' लिखना युक्ति-संगत नहीं लगता। जिन शब्दों के अन्त में 'ण' आता है, उनका माधुर्य 'न' की अपेक्षा कम नहीं; जैसे—

तुम कनक किरण के अन्तराल में लुक छिप कर चलते हो क्यों?
—प्रसाद।

नूपुर के सुर मन्द रहे
चरण न जब स्वच्छन्द रहे!—निराला।

पन्त जी की अधिकतर कविताओं के तुक 'न' (मन, जीवन, स्पन्दन, यौवन, नर्त्तन, आयोजन, पावन, सावन आदि) 'ण' (कल्याण, परित्राण, निर्माण, प्राण, क्षण, कण, निरूपण, संवर्पण, विश्लेषण, धारण, उपकरण, दर्पण, अर्पण आदि) या 'इत' (कुंठित, समर्पित, बिम्बित, निर्मित, परिपूरित, विकसित, जीवित, ज्योतित, कलुषित, निर्धारित, मर्यादित, सम्मानित आदि) होते हैं। पद-लालित्य के विचार से अन्तिम शब्द प्रायः अकारान्त होता है।

प्रथम श्रेणी का काव्य वह है जिसकी ध्वनि में ही अर्थ स्पष्ट कर देने की क्षमता हो। 'नौका-विहार' शीर्षक कविता के प्रथम छन्द की यही विशेषता है। उसके शब्दों की ध्वनि में ही गंगा की लहरों का निनाद है। हम कवि

की इस प्रवृत्ति की सराहना करते हैं; किन्तु अति सर्वत्र वर्जित है। 'झंझा में नीम' की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

फूट पड़ा, लो, निर्झर
मरुत,—कम्प अर...
झूम झूम, झुक झुक कर,
भीम नीम तरु निर्भर
सिहर सिहर थर् थर् थर्
करता सर् मर् चर् मर् !

पन्त जी के भाव, भाषा और शैली में बराबर परिवर्त्तन होता रहा है। अखरनेवाली बात यह है कि उनके जन-साहित्य की भाषा दार्शनिक चिन्तन-सम्बन्धी भाषा की अपेक्षा अधिक क्लिष्ट है, जब कि होना इसके विपरीत चाहिए था। दर्शन का अध्ययन करनेवाले व्यक्ति का बौद्धिक स्तर जन-साहित्य के अन्वेषी की अपेक्षा ऊँचा होता है। दार्शनिक पन्त अब 'है आजाद कहाँ तक इन्साँ दुनिया में पाबन्द कहाँ तक' जैसी सरल भाषा लिखने लगे हैं। अब 'युग वाणी' की भी कुछ पंक्तियाँ देखिए—

नवोद्भूत इतिहास भूत सक्रिय, सकरण, जड़-चेतन
द्वन्द्व-तर्क से अभिव्यक्ति पाता युग युग में नूतन।
× × ×
मरणोन्मुख साम्राज्यवाद, कर वह्नि और विष-वर्षण,
अन्तिम रण को है सचेष्ट,रच निज विनाश-आयोजन।

यति-भंग दोष से बचने के लिए कवि ने कहीं-कहीं शब्दों के बीच की अक्षर छोड़ दिया है; जैसे तितली के लिए एक जगह आपने 'तिली' लिखा है—

प्रिय तिली फूल-सी ही फूली
तुम किस सुख में हो रही डोल ?

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी ने इस शब्द पर अपने विचार प्रगट करते हुए लिखा है—"तितली को 'तिली' सम्बोधन देकर उसके नन्हें सुकुमार कलेवर को कवि ने और भी सुकोमल कर दिया है।" हमारी समझ में नहीं आता

कि 'तितली' के 'त' में ऐसी कौन-सी कठोरता थी जिसे हटा देने से 'तिली' सुकोमल बन गई। किन्तु यदि पन्त जी की देखा-देखी अन्य कविगण भी कोयल की जगह 'कोल' और चातक की जगह 'चाक' लिखने लगे तो विद्यार्थियों के लिए एक समस्या उठ खड़ी होगी। 'हाँ' के लिए 'हाउ' और 'साँप' के लिए 'केंचुल' भी इसी प्रकार के विचित्र प्रयोग हैं।

पन्त जी के कुछ नये प्रयोग सुन्दर हैं। पपीहा के लिए 'पी-खग', प्रभाती (प्रातः काल गाये जानेवाले गीत) के लिए 'ज्योति-स्पर्श', नख के लिए 'नखर', चाँदनी के लिए 'चंदिरा' और नयन का भाववाचक रूप 'नयनिमा' इसी प्रकार के शब्द हैं। कवि के इन नये प्रयोगों में पूर्व-प्रचलित शब्दों की अपेक्षा अधिक आत्मीयता और आकर्षण है।

साधारण दृष्टि से देखने पर हिन्दी के लिंग-विधान की अपेक्षा अँग्रेजी और संस्कृत के लिंग-विधान अधिक न्याय-संगत लगते हैं। किन्तु वस्तुतः सत्य यह है कि प्रकृति में नर और नारी-तत्त्व के अतिरिक्त कोई तीसरा तत्त्व नहीं है। समस्या के समाधान में प्रश्न होता है कि नपुंसक लिंग और उभय-लिंग को क्या कहा जाय ? पन्त जी ने यह प्रश्न बहुत सरल ढंग से सुलझा दिया है। नारी में कोमलता और सौन्दर्य-तत्त्व की अधिकता होती है; इस कारण जिन पदार्थों में नारी तत्त्व की बहुलता है, उन्हें आप स्त्री-लिंग मानते हैं। यथा 'मलय-पवन' स्त्री-लिंग है और अन्धड़ पुंलिंग। कुछ लोगों को शिकायत है कि स्त्रीलिंग का प्रयोग पुंलिंग की अपेक्षा अधिक हुआ है; किन्तु कवि की सौन्दर्य-दृष्टि देखते हुए हमें ये प्रयोग सुन्दर लगते हैं।

ऊपर हम कवि के नये प्रयोगों की आलोचना कर आये हैं। किन्तु इससे हमारा यह अभिप्राय न समझना चाहिए कि हम कवि के नये प्रयोगों के विरोधी हैं। आज जब हिन्दी में शब्दों का अकाल-सा दिखाई दे रहा है और सीमेन्ट के लिए 'वज्र चूर्ण' तथा कन्ट्रोल के लिए 'वशीकरण' जैसे शब्द बनने लगे हैं, तब पन्त जी के नये प्रयोग स्तुत्य ही हैं।

पूर्वा

रजनि की कुन्तल अलक पर कौन जाता गूँथ मोती ?
और किसकी गोद में बे-सुध उनींदी सृष्टि सोती ?
वरदान दे नीहारिका को रश्मि में जीवन जगाता,
थपकियों से नीरजा की सान्ध्य गीतों को सुलाता,
फिर शिखा दे दीप की सुधि बन समाता प्राण में जो
कौन है वह रम रहा निर्वाण औ' अवसान में जो ?

महादेवी वर्मा

जन्म—फाल्गुन शुक्ल १५ (होली) सं० १९६४

श्रीमती महादेवी वर्मा का जन्म फर्रुखाबाद (उत्तर प्रदेश) के एक उच्च कायस्थ परिवार में हुआ था। आपके पिता श्री गोविन्दप्रसाद वर्मा आर्य-समाजी विचार-धारा के थे और माता हेमरानी देवी सनातनी विचारों की थीं। शैशवावस्था में आप बहुत रोती थीं। दस वर्ष की अल्प अवस्था में ही आपको हिन्दी, उर्दू और चित्र-कला का पर्याप्त ज्ञान हो गया था। ग्यारह वर्ष की अवस्था में नवाबगंज (बरेली) के श्री रामस्वरूप वर्मा से आपका पाणिग्रहण हुआ। विदाई भी उसी समय हो गई; किन्तु कुछ ही दिनों बाद आप पुनः पिता के घर लौट आईं और फिर कभी ससुराल न गईं। आपके पति डा० रामस्वरूप वर्मा के विषय में किसी ने कुछ नहीं लिखा है। विवाह के कुछ समय बाद ही डाक्टर साहब के माता-पिता उन्हें संसार में अकेला छोड़कर शान्ति की गोद में सो गये। तभी से आप भी एकान्तिक जीवन बिता रहे हैं।

महादेवी जी ने क्रॉस्थवेस्ट गर्ल्स कालेज में शिक्षा प्राप्त की थी। सभी परीक्षाओं में आप प्रथम रहती थीं। संस्कृत और हिन्दी में आपने एम० ए० किया है। चिर-उपेक्षित हिन्दी लेखकों के अधिकारों के रक्षार्थ आपने 'साहित्य-कार संसद' की स्थापना की है। प्रयाग महिला विद्यापीठ को वर्त्तमान स्वरूप देने में आपका महत्त्वपूर्ण हाथ है। आज-कल आप उक्त विद्यापीठ की प्रिन्सिपल तथा उत्तर प्रदेशीय राज्य-परिषद् की मनोनीत सदस्या हैं और वेदों का अनुवाद कर रही हैं।

रचनाएँ—यामा (नीहार, रश्मि, नीरजा और सान्ध्य-गीत) तथा दीप-शिखा।

जिस शव को देखकर सिद्धार्थ को ज्ञान हुआ था, वह रोटी और औषध के अभाव में नहीं मरा था। किन्तु क्या इसी कारण उनका जीवन-दर्शन हँस कर उड़ा देने की वस्तु है? सीता, माण्डवी, ऊर्मिला, राधा या यशोधरा की करुणा भूखे पेट सो जानेवाली मजदूरनी की करुणा से कहीं अधिक विकट है। जहाँ तक अनुभूति की ईमानदारी का प्रश्न है, सीता या यशोधरा को काव्य का विषय बनानेवाला कवि उस कवि से अधिक ईमानदार है, जो कमानीदार कोच पर बिजली के पंखे के नीचे बैठकर रिक्शावाले के प्रति कोरी बौद्धिक सहानुभूति दिखलाता है।

महादेवी जी 'हरहराते हुए ध्वंस' में जिन 'सुकुमार सपनों को उँगलियों की ओट में' बचा रही हैं, वे मानवता की विरासत हैं। जिस दिन हरहराते हुए ध्वंस में हमारे वे सुकुमार सपने खो जायँगे, उस दिन अपना कहने को हमारे पास कुछ न बचेगा। रोटी की समस्या का हल तो पशु-पक्षी भी ढूँढ़ लेते हैं। मानव का जीवन-दर्शन रोटी की समस्या से बहुत आगे है।

महादेवी जी के काव्य, संस्मरण और रेखा-चित्र, प्रयाग महिला विद्यापीठ और साहित्यकार संसद् सभी एक दूसरे के पूरक हैं। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि मानव के सुकुमार सपनों को स्वर देनेवाली यह अमर गायिका लेखकों के अधिकारों के लिए भी लड़ती है।

महादेवी जी के आराध्य

कनक-से दिन, मोती-सी रात,
सुनहरी साँझ, गुलाबी प्रात;
मिटाता रँगता बारम्बार,
कौन जग का यह चित्राधार?

इसका उत्तर ही महादेवी जी का आराध्य है। 'सान्ध गीत' का एः गीत है—

> मैं किसी की मूक छाया हूँ न क्यों पहचान पाता!
> उमड़ता मेरे दृगों में बरसता घन श्याम मैं जो;
> अधर में मेरे खिला नव इन्द्रधनु अभिराम मैं जो;
> बोलता मुझमें वही जग मौन में जिसको बुलाता!

महादेवी जी के संस्मरण लिखनेवालों ने उनके 'ड्राइंग रूम' की दो मूर्त्तियों का उल्लेख किया है, जिनमें से एक कृष्ण की है और दूसरी बुद्ध की। 'आधुनिक कवि' के 'अपने दृष्टि-कोण से' में महादेवी जी ने लिखा है—"एक ओर साधना-पूत आस्तिक और भावुक माता और दूसरी ओर सब प्रकार की साम्प्रदायिकता से दूर, कर्मनिष्ठ और दार्शनिक पिता ने अपने-अपने संस्कार देकर मेरे जीवन को जैसा विकास दिया, उसमें भावुकता बुद्धि के कठोर धरातल पर, साधना एक व्यापक दार्शनिकता पर और आस्तिकता एक सक्रिय, पर किसी वर्ग या सम्प्रदाय में न बँधनेवाली चेतना पर ही स्थित हो सकती थी। जीवन की ऐसी ही पार्श्व-भूमि पर, माँ से पूजा-आरती के समय सुने हुए मीरा, तुलसी आदि के तथा उनके स्व-रचित पदों के संगीत पर मुग्ध होकर मैंने व्रज-भाषा में पद-रचना आरम्भ की थी।"

'रश्मि' का यह वाक्य भी ध्यान देने योग्य है—"बचपन से ही भगवान बुद्ध के प्रति एक भक्तिमय अनुराग होने के कारण उनकी संसार को दुःखात्मक समझनेवाली फिलॉसफी से मेरा असमय ही परिचय हो गया था।"

महादेवी जी द्वारा निर्मित चित्रों में सर्वत्र अर्चना की ठवन में नारी-चित्र ही मिलते हैं। निर्माल्य के रूप में जो दो वस्तुएँ हमें उनके काव्य में मिलती हैं, वे हैं आँसू और फूल। 'रश्मि' में उन्होंने आँसुओं को 'आँखों के फूल' कहा है; इस कारण उनके आँसू भी फूलों के दूसरे रूप ही हैं।

अर्चना की ठवन में चिर-प्रतीक्षक नारी-चित्रों के अतिरिक्त छः पुरुष-चित्र* (दो सान्ध्य-गीत में और चार दीप-शिखा में) भी महादेवी जी ने बनाये हैं। 'सान्ध्य-गीत' में शान्त मुद्रा में बुद्ध का एक रेखा-चित्र है। 'दीप-शिखा' का तेंतीसवाँ चित्र एक पुरुष का छाया-चित्र है; और उसके आगे प्रतीक्षा की मुद्रा में कमल लिये एक नारी का रेखा-चित्र है। गीत की प्रथम पंक्ति है—

मैं पलकों में पाल रही हूँ यह सपना सुकुमार किसी का!

'दीप-शिखा' के चौबीसवें चित्र में भिक्षा-पात्र लिये बुद्ध खड़े हैं। नीचे अर्चना की ठवन में एक पुरुष और नारी तथा चार जोड़े अन्य हाथ हैं। गीत की प्रथम पंक्ति है—

कोई यह आँसू आज माँग ले जाता।

'दीप-शिखा' के ही छठे चित्र में आग की ज्वाला में शान्ति की मुद्रा में अजन्ता की कला से मिलता-जुलता एक पुरुष-चित्र है, जिसकी कटि में कृष्ण की भाँति काछनी है; और गले में यज्ञोपवीत भी। मुख की गम्भीरता और तेज बुद्ध से मिलता-जुलता है। यदि हाथ में सुदर्शन होता तो यह विष्णु का चित्र जान पड़ता। गीत की अन्तिम पंक्तियाँ हैं—

व्यथा प्राण हूँ नित्य सुख का पता मैं,
धुला ज्वाल से व्योम का देवता मैं,
सृजन श्वास हो क्यों गिनूँ नाश के क्षण?

'सान्ध्य-गीत' का एक चित्र भी इसी प्रकार का है। मुख पर बुद्ध की-सी दार्शनिक गम्भीरता है; किन्तु कृष्ण की लीला-भावना का भी उसमें निरा अभाव नहीं है। सिर के बाल बड़े-बड़े हैं (बुद्ध सिर मुँड़ाये रहते थे), माथे पर मोरपंख जैसी भी कोई वस्तु है। सब मिलाकर इसे न तो बुद्ध का चित्र कहा जा सकता है और न कृष्ण का। गीत की प्रथम पंक्ति है—

---

* इनके अतिरिक्त दीप-शिखा में दो और पुरुष-चित्र हैं—एक निद्रालु (?) पुजारी का और दूसरा जंजीर से बँधे हुए एक श्रान्त वन्दी का।

क्यों वह प्रिय आता पार नहीं ?

अपनी बात कह सकने के लिए हमारे पास कोई ठोस आधार नहीं है पर अनुमान से इतना तो कहा ही जा सकता है कि महादेवी जी के आराध्य में कृष्ण की लीला-भावना के साथ बुद्ध की करुणा घुल-मिल गई है।

कृष्ण की लीला-भावना—

घूँघट पट से झाँक सुनाते ऊषा के आरक्त कपोल—
'जिसकी चाह तुम्हें है उसने छिड़की मुझ पर लाली घोल'।

बुद्ध की करुणा—

निराली कल-कल में अभिराम
मिलाकर मोहक मादक गान,
छलकती लहरों में उद्दाम
छिपा अपना अस्फुट आह्वान,
न कर हे निर्झर ! भंग समाधि
साधना है मेरा एकान्त !

अद्वैत दर्शन के ब्रह्म में कृष्ण की लीला-भावना और बुद्ध की करुणा का समवन्य महादेवी जी का आराध्य है। यथा—

प्रिय चिरन्तन है सजनि क्षण-क्षण नवीन सुहागिनी मैं !

आराधक और आराध्य

मैंने देखा उसे नहीं पद-ध्वनि है केवल पहचानी;

किन्तु इतना तो आराधिका जानती ही है कि—

मेरी आँखों में ढलकर छवि उसकी मोती बन आई;
उनके घन प्यालों में है विद्युत-सी मेरी परछाईं;

नभ में उसके दीप स्नेह जलता पर मेरा उनमें;
मेरे हैं यह प्राण, कहानी पर उसकी हर कम्पन में;

'प्राण' का स्पष्टीकरण भी आराधिका के ही मुख से सुनिए—

चाह की मृदु उँगलियों से छू हृदय के तार,
जो तुम्हीं ने छेड़ दी मैं हूँ वही झंकार।
तृप्ति-प्याले में तुम्हीं ने साध का मधु घोल,
है जिसे छलका दिया, मैं वही बिन्दु अमोल।

आराध्य और आराधिका का सम्बन्ध इन पंक्तियों में देखिए—

तुम हो विधु के बिम्ब और मैं मुग्धा रश्मि अजान;
जिसे खींच लाते अस्थिर कर कौतूहल के बाण।
स्वर-लहरी मैं मधुर स्वप्न की तुम निद्रा के तार,
जिसमें होता इस जीवन का उपक्रम उपसंहार।
मैं तुमसे हूँ एक, एक हैं जैसे रश्मि प्रकाश;
मैं तुमसे हूँ भिन्न, भिन्न ज्यों घन से तड़ित्-विलास।

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि आराध्य ही सब-कुछ है। आराधिका भी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखती है। लहरों से ही तो सिन्धु बना है! सिन्धु के सिन्धुत्व की संरक्षिका वही नादान लहरें हैं, जिन्होंने अपने को सिन्धु में खो कर उसका अस्तित्व बनाये रक्खा है—

यह क्षितिज को चूमनेवाला जलधि
क्या नहीं नादान लहरों से बना?
क्या नहीं लघु वारि बूँदों में छिपी
वारिदों की गहनता गम्भीरता?

तभी तो लहर गर्व से सिन्धु से कह सकती है—

लघु प्राणों के कोने में खोई असीम पीड़ा देखो;
आओ हे निस्सीम! आज इस रज-कण की महिमा देखो!

मायापति अपने ही द्वारा निर्मित माया में वन्दी बना है—

विविध रंगों के मुकुर सँवार,
जड़ा जिसने यह कारागार;
बना क्या वन्दी वही अपार,
अखिल प्रतिबिम्बों का आधार ?

माया को जब यह ज्ञात हो जाय कि मायापति मुझमें वन्दी है, तब उ 'अहं' का विकास होना स्वाभाविक है। हुआ भी ऐसा ही—

फैलते हैं सान्ध्य नभ में भाव ही मेरे रँगीले;
तिमिर की दीपावली हैं रोम मेरे पुलक गीले;
वन्दिनी बनकर हुई मैं बन्धनों की स्वामिनी सी !

सृष्टि स्वयं अपने लिए रहस्य भले ही हो, आराधिका उसे समझ चुकी है-

यह क्षण क्या ? द्रुत मेरा स्पन्दन;
यह रज क्या ? नव मेरा मृदु तन;
यह जग क्या ? लघु मेरा दर्पण;
प्रिय तुम क्या ? चिर मेरे जीवन;

सृष्टि के निर्माण और अवसान का रहस्य भी उससे छिपा न रह सका—

तुम्हीं रचते अभिनव संगीत,
कभी मेरे गायक इस पार;
तुम्हीं ने कर निर्मल आघात
छेड़ दी यह बेसुर झंकार—
और उलझा डाले सब तार !

प्रेम

मैं गति विह्वल,
पाथेय रहे तेरा दृग-जल,

आवास मिले भू का अंचल,
मैं करुणा की वाहक अभिनव ।

सरिता जानती है कि सिन्धु की उत्ताल तरंगों में खो जाने पर उसके पास 'अपना' कहने को कुछ शेष न बचेगा। किन्तु सिन्धु से दूर रहने पर भी सरिता का 'अपना' क्या रहता है ? लहरें उसे आकार प्रदान करती हैं—और यही लहरें असीम सिन्धु की भी सीमित इकाइयाँ हैं। 'पिपासा' सरिता और सिन्धु का सम्बन्ध बनाये रखती है। सरिता का अस्तित्व सिन्धु से दूर रहने में है; और सिन्धु का अस्तित्व सरिता को अपने में समेट लेने में। इन्हीं परस्पर विरोधी स्वार्थों के संघर्ष का नाम जीवन है।

किन्तु सरिता को कौन समझावे ? वह तो सिन्धु को ही अपनी अल्हड़ बाँहों में बाँध लेना चाहती है—

तुम्हें बाँध पाती सपने में ।
तो चिर जीवन प्यास बुझा लेती उस छोटे क्षण अपने में !

प्रकृति और पुरुष की एक दूसरे में खो जाने की आतुरता का नाम विरह है; और उनके मिलकर एकाकार हो जाने का नाम है मिलन। विरह में उनका द्वैत बना रहता है जो मिलन में मिट जाता है।

प्रकृति और पुरुष के विरह और मिलन की अवस्थाओं को भारतीय काव्य-परम्परा ने दाम्पत्य प्रेम के रूपक से समझाया है। प्रकृति को स्त्री का रूपक दे डालने के कारण निर्गुण सन्त-परम्परा के पुरुष कवियों द्वारा किया गया प्रणय-निवेदन अस्वाभाविक-सा जान पड़ता है। कृष्ण-भक्ति शाखा के कवियों ने गोपी-प्रेम को आत्म-निवेदन का माध्यम बनाया; और इस कार्य में उन्हें सफलता भी मिली। किन्तु प्रकृति (कवि) और पुरुष के बीच का द्वैत बना ही रहा। मीराँ की सफलता का श्रेय उसके नारीत्व को है। मीराँ के काव्य में न तो गोपियों का माध्यम है और न मिथ्या विरह का आडम्बर। उसका गर्वीला नारीत्व ही यथेष्ट है।

आज किसी के मसले तारों की वह दूरागत झंकार,
मुझे बुलाती है सहमी-सी झंझा के परदों के पार।

मन ने जाने में अपमान समझा, वह रूठ गया। तब प्रिय ने साँझ को दूती बनाकर मनुहार करने के लिए भेजा—

नव इन्द्र-धनुष-सा चीर
महावर अंजन ले
अलि गुंजित मीलित पंकज
नूपुर रुनझुन ले
फिर आई मनाने साँझ
मैं बेसुध मानी नहीं!

धीरे धीरे द्वैत मिट गया; हारकर प्रिय को ही मानिनी के पास आना पड़ा—

सजनि कौन तम में परिचित-सा, सुधि-सा, छाया-सा आता?
सूने में सस्मित चितवन से जीवन-दीप जला जाता।

किन्तु मानी मन को कौन समझावे—

मिलन-मन्दिर में उठा दूँ जो सुमुख से सजल गुंठन।
मैं मिटूँ प्रिय में मिटा ज्यों तप्त सिकता में सलिल-कण।
सजनि मधुर निजत्व दे
कैसे मिलूँ अभिमानिनी मैं!

प्रिय फिर चला जाता है—

कौन आया था न जाने स्वप्न में मुझको जगाने;
याद में उन उँगलियों की हैं मुझे पर युग बिताने।

किसी को सर्वस्व देकर यदि उससे कुछ पाने की कामना की जाय तो इसमें लज्जा की कोई बात नहीं है। किन्तु मूक प्रेम इतना भी नहीं चाहता। 'पपीहे के प्रति' महादेवी जी कहती हैं—

जिसको अनुराग-सा दान दिया, उससे कण माँग लजाता नहीं;...
अब सीख ले मौन का मंत्र नया, यह पी पी घनों को सुहाता नहीं।

'तृप्ति कामनाओं का जीवन निष्फल कर जाती है।' इसी कारण महादेवी जी अपने 'छोटे जीवन में तृप्ति का कण भर' भी नहीं चाहतीं। प्रश्न उठता है—उन्हें दुःख इतना प्यारा क्यों है ? जहाँ तक उनके व्यक्तिगत जीवन और करुणा का सम्बन्ध है, हमें 'रश्मि' की 'अपनी बात' से ही सन्तोष करना चाहिए[१]। उससे आगे सोचने का साहस न तो किसी को है और न होना चाहिए। उनकी काव्यगत करुणा की जिज्ञासा का सरल उत्तर 'दीप-शिखा' की इन पंक्तियों में मिलता है—

अब न लौटाने कहो अभिशाप की वह पीर
बन चुकी स्पन्दन हृदय में, वह नयन में नीर
अमरता उसमें मनाती है मरण-त्योहार!

जीवन-दर्शन

जीवन और मृत्यु

जीवन में खोज तुम्हारी है, मिटना है तुमको छू पाना।

जीवन यात्रा है और मृत्यु मंजिल; जीवन प्रश्न है और मृत्यु उत्तर; जीवन

१—'संसार जिसे दुःख और अभाव के नाम से जानता है, वह मेरे पास नहीं है। जीवन में मुझे बहुत दुलार, बहुत आदर, और बहुत मात्रा में सब-कुछ मिला है; परन्तु उसपर दुःख की छाया नहीं पड़ सकी। कदाचित् यह उसी की प्रतिक्रिया है कि वेदना मुझे इतनी मधुर लगी है।...दुःख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है।'

संघर्ष है और मृत्यु शान्ति; जीवन साधन है और मृत्यु साध्य। आदि काल से ही मानव इस जीवन की समस्याओं पर विचार करता चला आ रहा है; पर उसकी निश्चित मीमांसा ढूँढ़ सकना जैसे उसके बस की बात नहीं है। 'शेखर—एक जीवनी' में अज्ञेय जी ने लिखा है—'इसलिए नहीं डरते कि मरना खराब होता है, इसलिए डरते हैं कि जीना अच्छा लगता है।' आगे चलकर आप इसे और अधिक स्पष्ट करते हैं—'मृत्यु एक आपरेशन है, जैसे दाँत उखड़वा देना। कुरसी पर बैठना पड़ता है, डाक्टर एक झटका देता है, एक तीखा दर्द होता है, और फिर शान्ति मिलती है, छुटकारा हो जाता है। मृत्यु भी वैसी ही है...लेकिन अच्छी दाढ़ निकलवाने पर रक्त बहता है और सूजन होती है। तब असमय में जीवन छिनने पर भी...।' पर महादेवी जी मृत्यु को किसी दशा में बुरा नहीं मानतीं। उनका मत है कि आरसी और प्रतिबिम्ब की भाँति असीम और ससीम दो दिखाई पड़ते हैं। प्रतिबिम्ब का अपना अलग अस्तित्व नहीं होता। जिसका प्रतिबिम्ब आरसी पर पड़ता है, वह जब चाहे, उसे अपने में समेट सकता है। फिर इसमें बुरा कहने की क्या बात है? आरसी आखिर कब तक प्रतिबिम्ब को अपने में सँजो सकती है?

'नीहार' में जीवन की समस्या सुलझी-सी देख पड़ती है—

जब असीम से हो जायेगा मेरी लघु सीमा का मेल,
देखोगे तुम देव! अमरता खेलेगी मिटने का खेल!

'मिटने के अधिकार' से कवयित्री को इतना अधिक मोह है कि वह उसके आगे 'अमरों का लोक' भी ठुकरा देती है। दीप को अपने बुझने की चिन्ता क्यों हो? उसके बुझ जाने पर उसका अपना क्या बनता-बिगड़ता है? चिन्ता तो उसे होनी चाहिए जिसका 'पीड़ा का राज्य' अँधेरा हो जायगा।

'रश्मि' में महादेवी जी का 'जीवन-दर्शन' गम्भीर हो जाता है। आरम्भ में जीवन एक प्रश्न-वाचक चिह्न बनकर उनके सामने आता है—

हुआ त्यों सूनेपन का भान, प्रथम किसके उर में अम्लान ?
और किस शिल्पी ने अनजान, विश्व-प्रतिमा कर दी निर्माण ?
काल सीमा के संगम पर, मोम-सी पीड़ा उज्वलकर।

कोई निश्चित उत्तर नहीं मिलता; समस्या ज्यों की त्यों बनी रहती है—

आदि में छिप आता अवसान,
अन्त में बनता नव्य विधान;
सूत्र ही है क्या यह संसार,
गुँथे जिसमें सुख दुख जय-हार ?

फिर जैसे जिज्ञासाओं में ही उत्तर मिल जाता है—

नील नभ का असीम विस्तार,
अनल के धूमिल कण दो-चार,
सलिल से निर्झर वीचि-विलास,
मन्द मलयानिल से उच्छ्वास,
धरा से ले परमाणु उधार,
किया किसने मानव साकार ?

पर कुतूहल मिटता नहीं, जीवन की अस्थिरता की समस्या नहीं सुलझती—

दिया क्यों जीवन का वरदान ?
सिकता में अंकित रेखा-सा,
वात-विकम्पित दीप-शिखा-सा,
काल-कपोलों पर आँसू-सा
ढुल जाता हो म्लान !

जैसे जैसे प्राणों में रश्मि समाती है, जीवन का रहस्य खुलता जाता है—

मृत्यु का प्रस्तर-सा उर चीर,
प्रवाहित होता जीवन-नीर,

चेतना से जड़ का बन्धन,
यही संसृति का हृत्कम्पन !

अन्त में 'प्राणों के अन्तिम पाहुन' (मृत्यु) के प्रति अनुराग बढ़ जाता है—

ज्यों श्रान्त पथिक पर रजनी छाया-सी आ मुस्काती,
भारी पलकों में धीरे निद्रा का मधु ढुलकाती,
त्यों करना बेसुध जीवन !

तेरी छाया में दिव को हँसता है गर्वीला जग,
तू एक अतिथि जिसका पथ हैं देख रहे अगणित दृग,
साँसों में घड़ियाँ गिन गिन।

'दीप-शिखा' में मृत्यु जीवन की शान्तिदायिनी माँ बन जाती है—

तू धूल भरा ही आया !
ओ चंचल जीवन-बाल, मृत्यु जननी ने अंक लगाया।
पाथेय हीन जब छोड़ गये सब सपने,
आख्यान शेष रह गये अंक में अपने,—
तब उस अंचल ने दे संकेत बुलाया !

सुख-दुःख

मत अरुण घूँघट खोल री !
खेल सुख दुख से चपल थक,
सो गया जग-शिशु अचानक;
जाग मचलेगा न तू
कल खग पिकों में बोल री !

'मृग-मरीचिका के चिर पथ पर। सुख प्यासों के पग धर' आता है। माना कि वह 'मधु' है, किन्तु उसके मूल में 'पतझर' की ही प्रेरणा कार्य करती है। किन्तु वह गर्वीला पतझड़ से नाता नहीं जोड़ना चाहता; और—

दुख के पद छू बहते झर झर,
कण कण से आँसू के निर्झर;
हो उठता जीवन मृदु उर्वर,
लघु मानस में वह अतृप्त असीम जग को आमन्त्रित कर लाता।

'रजत-रश्मियों की छाया में धूमिल घन-सा' दुःख आता है और 'निदाघ-से मानस में करुणा का स्रोत' बहा जाता है।

सुख की उत्पत्ति दुःख से ही होती है—

सोते जो असंख्य बुद्बुद-से
बेसुध सुख मेरे सुकुमार,
फूट पड़ेंगे दुख-सागर की
सिहरी धीमी स्पन्दन में

यही कारण है कि महादेवी जी जीत और हार में अन्तर नहीं मानतीं; उनके लिए दोनों समान हैं—

हारूँ तो खोऊँ अपनापन;
पाऊँ प्रियतम में निर्वासन;
जीत बनूँ तेरा ही बन्धन;
भर लाऊँ सीपी में सागर
प्रिय ! अब मेरी हार विजय क्या !

लोक-कल्याण की भावना

महादेवी जी के गीतों में सर्वत्र अतृप्त पिपासा और विषाद की गहरी रेखाएँ दिखाई देती हैं। किन्तु हम उन्हें निराशा के सामने आत्म-समर्पण

करते हुए कहीं नहीं देखते। वेदनामय जीवन के साथ उन्होंने समझौता कर लिया है। करुण रस से सिक्त उनकी कविताएँ हमें जीवन से पलायन का सन्देश न देकर जीवन-संघर्ष की ओर उन्मुख होने की ही सतत प्रेरणा देती हैं। कुछ उदाहरण लीजिए--

पर न समझना देव, हमारी लघुता है जीवन की हार।

× × ×

कंटकों की सेज जिसकी आँसुओं का ताज,
सुभग ! हँस उठ, उस प्रफुल्ल गुलाब-सा ही आज,
बीती रजनि प्यारे जाग !

× × ×

जिसको जीवन की हारें हों जय के अभिनन्दन-सी;
वर दो ये मेरे आँसू उसके उर की माला हों !

कवयित्री के आत्म-विश्वास में इतनी दृढ़ता है कि भौतिक और दैवी सभी प्रकार की आपत्तियों को वह चुनौती देने को तैयार है। तूफानों का सामना करने के लिए आत्म-बल ही पर्याप्त है। प्रथम कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डल बनने के पहले की एक कविता देखिए--

चिर सजग आँखें उनींदी आज कैसा व्यस्त बाना।
जाग तुझको दूर जाना !
अचल हिमगिरि के हृदय में आज चाहे कम्प हो ले,
या प्रलय के आँसुओं में मौन अलसित व्योम रो ले,
आज पी आलोक को डोले तिमिर की घोर छाया,
जाग या विद्युत शिखाओं में निठुर तूफान बोले !
पर तुझे है नाश-पथ पर चिह्न अपने छोड़ जाना !

'छायावाद' और 'रहस्यवाद' को पलायनवाद समझनेवालों को कौन बतावे कि--

तुम्हें जगाने आई पीड़ा,
स्वप्नों का परिहास नहीं यह !

प्रकृति

तेरा मुख सहास अरुणोदय;
परछाँई जागृत विषादमय;
यह जागृति, वह नींद स्वप्नमय;
खेल-खेल थक-थक सोने दो मैं समझूँगी सृष्टि प्रलय क्या !
तुम मुझमें प्रिय, फिर परिचय क्या !

सृष्टि की आरसी में प्रकृति उसी ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है। जिसका प्रतिबिम्ब मानव है, उसी का प्रतिबिम्ब प्रकृति भी है। इसी कारण महादेवी जी प्रकृति और मानव को समान मानती हैं। 'नीहार' की अधिकतर कवि-ताओं में प्रकृति-चित्रण वातावरण स्पष्ट करने के लिए ही हुआ है; किन्तु आगे चलकर महादेवी जी ने प्रकृति से तादात्म्य स्थापित कर लिया है—

मैं नीर भरी दुख की बदली !
मैं क्षितिज मुकुट पर घिर धूमिल,
चिन्ता का भार बनी अविरल,
रज-कण पर जल-कण हो बरसी
नव जीवन अंकुर बन निकली !

प्रकृति के तादात्म्य ने कभी तो दूती बनकर कवयित्री तक प्रिय का संदेश पहुँचाया है[१] और कभी वह प्रिय से प्रणय-सम्बन्ध स्थापित कर उसकी

१—लाये कौन सँदेश नये घन।

भ्रान्ति का कारण बनी है[१]। प्रकृति का रूप जब मचल उठता है, तब अपने में नहीं समाता। उस समय साधिका के मन का एकान्त अपने में ही विकल होने लगता है और प्रकृति उसकी ईर्ष्या का विषय बन जाती है—'नयन भर-भर आते हैं'।

कहीं-कहीं मानव और प्रकृति दोनों एक दूसरे के पूरक बन जाते हैं—

जग करुण-करुण, मैं मधुर-मधुर
जग पतझर का नीरव रसाल,
पहने हिम-जल की अश्रु-माल,
मैं पिक बन गाती डाल-डाल
सुन फूल फूल उठते पल-पल
सुख-दुख मंजरियों के अंकुर।

जड़ प्रकृति कभी-कभी साधिका के शृंगार के उपकरण भी जुटाती है—

रंजित कर दे यह शिथिल चरण ले नव वसन्त का अरुण राग;
मेरे मण्डन को आज मधुर ला रजनी-गंधा का पराग;
यूथी की मीलित कलियों से अलि दे मेरी कवरी सँवार!

× × ×

शशि के दर्पण में देख-देख, मैंने सुलझाये तिमिर केश,
गूँथे चुन तारक पारिजात, अवगुण्ठन कर किरणें अशेष,

और जब इतने पर भी साध्य नहीं मिलता, तब सजल नयनों से पूछती है—

क्यों आज रिझा पाया उसको मेरा अभिनव शृंगार नहीं!

१—घूँघट पट से झाँक सुनाते ऊषा के आरक्त कपोल—
'जिसकी चाह तुम्हें है, उसने छिड़की मुझपर लाली घोल।'

तुम्हें जगाने आई पीड़ा,
स्वप्नों का परिहास नहीं यह !

प्रकृति

तेरा मुख सहास अरुणोदय;
परछाँई जागृत विषादमय;
यह जागृति, वह नींद स्वप्नमय;
खेल-खेल थक-थक सोने दो मैं समझूँगी सृष्टि प्रलय क्या !
तुम मुझमें प्रिय, फिर परिचय क्या !

सृष्टि की आरसी में प्रकृति उसी ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है। जिसका प्रतिबिम्ब मानव है, उसी का प्रतिबिम्ब प्रकृति भी है। इसी कारण महादेवी जी प्रकृति और मानव को समान मानती हैं। 'नीहार' की अधिकतर कविताओं में प्रकृति-चित्रण वातावरण स्पष्ट करने के लिए ही हुआ है; किन्तु आगे चलकर महादेवी जी ने प्रकृति से तादात्म्य स्थापित कर लिया है—

मैं नीर भरी दुख की बदली !
मैं क्षितिज मुकुट पर घिर धूमिल,
चिन्ता का भार बनी अविरल,
रज-कण पर जल-कण हो बरसी
नव जीवन अंकुर बन निकली !

प्रकृति के तादात्म्य ने कभी तो दूती बनकर कवयित्री तक प्रिय का संदेश पहुँचाया है[१] और कभी वह प्रिय से प्रणय-सम्बन्ध स्थापित कर उसकी

१—लाये कौन सँदेश नये घन।

भ्रान्ति का कारण बनी है[१]। प्रकृति का रूप जब मचल उठता है, तब अपने में नहीं समाता। उस समय साधिका के मन का एकान्त अपने में ही विकल होने लगता है और प्रकृति उसकी ईर्ष्या का विषय बन जाती है—'नयन भर-भर आते हैं'।

कहीं-कहीं मानव और प्रकृति दोनों एक दूसरे के पूरक बन जाते हैं—

जग करुण-करुण, मैं मधुर-मधुर
जग पतझर का नीरव रसाल,
पहने हिम-जल की अश्रु-माल,
मैं पिक बन गाती डाल-डाल
सुन फूल फूल उठते पल-पल
सुख-दुख मंजरियों के अंकुर।

जड़ प्रकृति कभी-कभी साधिका के श्रृंगार के उपकरण भी जुटाती है—
रंजित कर दे यह शिथिल चरण ले नव वसन्त का अरुण राग;
मेरे मण्डन को आज मधुर ला रजनी-गंधा का पराग;
यूथी की मीलित कलियों से अलि दे मेरी कबरी सँवार!

× × ×

शशि के दर्पण में देख-देख, मैंने सुलझाये तिमिर केश,
गूँथे चुन तारक पारिजात, अवगुण्ठन कर किरणें अशेष,

और जब इतने पर भी साध्य नहीं मिलता, तब सजल नयनों से पूछती है—

क्यों आज रिझा पाया उसको मेरा अभिनव श्रृंगार नहीं!

१—घूँघट पट से झाँक सुनाते ऊषा के आरक्त कपोल—
'जिसकी चाह तुम्हें है, उसने छिड़की मुझपर लाली घोल।'

पूर्वा

अनिवार्य है वह युद्ध,
जिसका शान्ति में अवसान हो।
वह नाश की झंझा नहीं,
जिसमें छिपा निर्माण हो!

× × ×

वर्त्तमान खिल उठा भूत का गौरव पाकर
हिन्दी को 'हुंकार' मिली 'रसवन्ती' बोली
'कुरुक्षेत्र' का विजय-गान वाणी में गाकर
दिनकर की पा ज्योति बन्द कलियों ने आँखें खोलीं।

रामधारीसिंह 'दिनकर'

जन्म—आश्विन सं० १९६५

श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' का जन्म मूँगेर जिले के सिमरिया गाँव (बिहार राज्य) में एक कृषक परिवार में हुआ था। परिवार की स्थिति साधारण होने के कारण बी० ए० ऑनर्स करने के पश्चात् ही आपको नौकरी करनी पड़ी। सोलह वर्ष की अवस्था से ही आपने काव्य-रचना प्रारम्भ कर दी थी। समय के साथ ही साथ आपकी भावनाओं का भी विकास होता जा रहा है। अपने व्यस्त जीवन में भी आपने साहित्य की श्री-वृद्धि करने के लिए जो प्रयत्न किया है, वह प्रशंसनीय है। आपका 'कुरुक्षेत्र' साहित्यकार संसद्, उत्तर प्रदेशीय सरकार और काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा पुरस्कृत हो चुका है। आज-कल आप केन्द्रीय राज्य परिषद् के मनोनीत सदस्य हैं।

रचनाएँ—बारदोली-विजय, प्राण-भंग, रेणुका, हुंकार, द्वन्द्व गीत, रसवन्ती, कुरुक्षेत्र, सामधेनी, धूप-छाँह, बापू, रश्मिरथी, इतिहास के आँसू, धूप और धूआँ।

रूप और रूपसी

प्रेम का गूढ़ भेद अभी प्रेमी समझ भी नहीं पाते कि अगरु का अन्धकार भर जाता है। आराध्य आराधक को देख नहीं पाता; और वह अपरिचित 'हृदय-हार' चढ़ाकर चला जाता है। सब कुछ अन-जाने ही हो जाता है; किन्तु इन क्रिया-कलापों को विवशता नहीं कहा जा सकता—

छिपकर तुम पूज गये उस दिन, छिपकर उस दिन मैं गई हार;
पर छिपा सकेगा अश्रु ज्योति क्या आज अगरु का अन्धकार ?

पत्नीत्व अपने में इतना पूर्ण है कि उसे किसी की छाँह की आवश्यकता नहीं। जो सिद्धि प्राप्त करने के लिए बुद्ध जन-रव से दूर गये थे, वह कपिल-वस्तु के प्रासाद में ही उनकी प्रतीक्षा कर रही थी ! बोधि-वृक्ष के नीचे बुद्ध को कौन-सी सिद्धि मिली, इतिहास इसके विषय में मूक है; किन्तु उनका 'मध्यम मार्ग' हमें सन्देह में डाल देता है। जिज्ञासा होती है कि 'वीणा के तारों' का रूपक कहीं चूड़ियों की खनक का तो नहीं है। बुद्ध के ज्ञान-दीप में भी सुजाता की खीर ने ही ज्योति जगाई थी। बुद्ध कहते हैं—

रवि-सा उगूँ तिमिर में, सच ही, यह मेरी अभिलाषा,
आज देखकर तुम्हें विजय की हुई और दृढ़ आशा।
आशिष दो, ला सकूँ जगत के मरु में शीतल नीर।

कविता में आगे आये हुए बुद्ध के 'जननि' सम्बोधन से भ्रम में न पड़िए। प्रेम माँ के आँचल की छाँह में पलता है, बहन का स्नेह उसे पल्लवित करता है और पत्नी उसे पुष्ट करती है—पूर्णता पाने पर पत्नी ही माँ बनती है। इसी प्रकार प्रेम का चक्र घूमता रहता है।

प्रीति न पूर्ण चन्द्र जगमग सखि !
जो होता नित क्षीण, एक दिन
विभा-सिक्त करके अग-जग सखि !

दूज-कला यह लघु नभ-नग सखि !
शीत, स्निग्ध, नव रश्मि छिड़कती
बढ़ती ही जाती पग-पग सखि !
× × ×
प्रीति-स्वाद कुछ ज्ञात उसे, जो
सुलग रहा तिल-तिल, पल-पल सखि !

कवि मूक प्रेम का समर्थक है। 'गीत-अगीत' शीर्षक कविता में उसने लिखा है कि निर्झरी गा-गाकर बहती है; और पाटल उसके तट पर मूक खड़ा रहता है—वह अपने पतझड़ के सपनों को स्वर नहीं दे पाता। कविता की अन्तिम पंक्तियों में 'गीत, अगीत कौन सुन्दर है' लिखकर कवि ने प्रश्नवाचक चिह्न लगाया है। किन्तु इस प्रश्न का यह उत्तर भी इन्हीं पंक्तियों में निहित है कि 'गीत' से 'अगीत' सुन्दर है। कवि का समर्थन करते हुए हम इतना ही कहना चाहते हैं कि निर्झरी के गीत में पाटल के सपनों के ही स्वर गूँजते हैं; और पाटल के नीरव नयनों में निर्झरी का ही उन्माद भरा है! सौन्दर्य की तुला पर दोनों पलड़े समान हैं—न कोई उन्नीस है, न बीस।

प्रेम का साध्य नारी है—

माथे में सेंदुर पर छोटी दो बिन्दी चम-चम-सी,
पपनी पर आँसू की बूँदें मोती-सी, शबनम-सी।

प्रिया के 'साँसों के हिंडोरों पर प्रिय की याद झूलती है।' कवि मंगल-कामना करता है—

पल-पल मंगल लग्न, जिन्दगी के दिन-दिन त्योहार,
उर का प्रेम फूटकर हो आँचल में उजली धार।

कवि भी नारी को अन-बूझ पहेली ही समझता है; पर जरा कहने का ढंग तो देखिए—

न छू सकते हम जिसको देवि ! कल्पना वह तुम अगुण, अमेय;
भावना अन्तर की वह गूढ़, रही जो युग-युग अकथ, अगेय।

नारी आज अपना नारीत्व खोती जा रही है। आधुनिका से कवि पूछना चाहता है—

पहन नील, किर्मीर वसन, तितली से पंख लगाये,
उर-गृह से बाहर आकर तुम किसको ढूँढ़ रही हो ?...
अपना चित्र विविध रंगों में आप सृजन करती हो,
और जाँचती हो फिर उसको स्वयं पुरुष के दृग से।...

रूप के इस हाट में जान टके सेर बिकती है। अतृप्त पिपासा में नारी के जीवन का दम घुट रहा है।

नारीत्व की पूर्णता उसके पत्नीत्व में है—

मा की ममता, तरुणी का व्रत, भगिनी का लेकर मधुर प्यार,
आरती त्रिवर्तिक सजा करूँगी भिन्न अगरु का अन्धकार।

और उसकी सार्थकता मातृत्व में है—

काश ! समझतीं जन्म-निरोधातुर कृत्रिम वन्ध्याएँ,
पुत्र-कामना इच्छा है अपने को ही पाने की।

गरिमामयी माँ के दर्शन कीजिए—

आँखों में गीली काजल लम्बी रेखा सेंदुर की
हाथों की उँगलियाँ दीखतीं लाल-लाल कोंपल-सी।
तन पर पीला वसन, ज्योति पीली कुम्हिलाये मुख की,
माँ बनकर रमणी प्रसूति-गृह से तुरन्त निकली है।

लोक-जीवन

वर्त्तमान के हठी बाल ये रोते हैं बिललाते हैं,
रह रह हृदय चौंक उठता है, स्वप्न टूटते जाते हैं।
शृंग छोड़ मिट्टी पर आया किन्तु कहो क्या गाऊँ मैं,
जहाँ बोलना पाप, वहाँ क्या गीतों से समझाऊँ मैं ?

कवि ने 'चाँदी का उज्वल शंख' उठाकर उसमें 'भैरव हुंकार' फूँकने की सोची। उसका आत्म-विश्वास इतना प्रबल है कि—

फोड़ पैठूँ अनन्त पाताल, लूट लाऊँ बासव का देश;
चरण पर रख दूँ तीनों लोक, स्वामिनी ! शीघ्र करो आदेश।

किन्तु दूसरे ही क्षण सभ्यता और संस्कृति की छाती पर आर्थिक विषमता ताण्डव करती हुई कवि के सम्मुख आ जाती है। वह देखता है—

जेठ हो कि हो पूस, हमारे कृषकों को आराम नहीं है;
छुटे बैल का संग कभी जीवन में ऐसा याम नहीं है।

× × ×

स्वानों को मिलता दूध-वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं।
माँ की हड्डी से चिपक, ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं॥
युवती के लज्जा-वसन बेच जब ब्याज चुकाये जाते हैं।
मालिक जब तेल-फुलेलों पर पानी-सा द्रव्य बहाते हैं॥

तब ये अबोध बच्चे—

विवश देखती माँ चंचल से नन्ही जान तड़प उड़ जाती।
अपना रक्त पिला देती यदि फटती आज वज्र की छाती॥

धरती माता भी उन्हें अपने आँचल में सुलाकर शान्ति नहीं दे पाती; अतृप्त आत्माएँ कब्र में भी 'दूध दूध' ही रटती रहती हैं !

जब जीने का सहारा छिन जाता है, तब सृष्टि के नियन्ता पर से भी विश्वास उठ जाता है—

'दूध दूध !' ओ वत्स ! मन्दिरों के बहरे पाषाण यहाँ हैं !
'दूध दूध !' तारे बोलो, इन बच्चों के भगवान् कहाँ हैं ?

'दूध दूध !' फिर 'दूध' अरे, क्या याद दूध की खो न सकोगे ?
'दूध दूध !' मरकर भी क्या तुम बिना दूध के सो न सकोगे ?

अपनी आत्मा का हनन कर चुपचाप जलते रहना कवि ने नहीं सीखा—

तानकर भौंहें कड़कना छोड़कर, मेघ बर्फों सा पिघल सकता नहीं।
शौक हो जिनको जलें वे प्रेम से, मैं कभी चुपचाप जल सकता नहीं।

ऐसा कवि यदि स्वर्ग को चुनौती दे बैठे तो क्या आश्चर्य—

हटो व्योम के मेघ पंथ से स्वर्ग लूटने हम आते हैं;
'दूध दूध' ओ वत्स ! तुम्हारा दूध खोजने हम जाते हैं।

एक ओर तो आर्थिक विषमता से उत्पन्न दारुण दरिद्रता का ताण्डव नृत्य हो रहा है; और दूसरी ओर धर्म अपना भानुमती का पिटारा खोले डेढ़ चावल की खिचड़ी अलग पका रहा है—

खूँ बहाया जा रहा इन्सान का, सींगवाले जानवर के प्यार में !
कौम की तकदीर फोड़ी जा रही, मस्जिदों की ईंट की दीवार में।

हमारा इतना अधःपतन हो चुका है कि अन्धकार में हमें कुछ दिखाई ही नहीं देता। अपने हाथों ही हम अपना सत्तानाश कर रहे हैं—

हाथ की जिसकी कड़ी टूटी नहीं, पाँव में जिसके अभी जंजीर है;
बाँटने को हाय ! तौली जा रही, बेहया उस कौम की तकदीर है !
बेबसी में काँपकर रोया हृदय, शाप सी आहें गरम आईं मुझे;
माफ करना, जन्म लेकरगोद में, हिन्द की मिट्टी ! शरम आई मुझे।

'रश्मि-रथी' कर्ण ऐसे अविधिक बच्चों का प्रतिनिधि है जो समाज द्वारा नियत समय से पहले ही धरती पर आते हैं और समाज के खूँखार पंजे जिनकी उच्चाकांक्षाएँ रौंदकर अपने को धन्य समझते हैं। कर्ण के इस कथन में कितनी करुणा है—

> माँ का पय भी न पिया मैंने,
> उलटे अभिशाप लिया मैंने।
> वह तो यशस्विनी बनी रही,
> सबकी भौं मुझ पर तनी रही।
> कन्या वह रही अपरिणीता,
> जो कुछ बीता, मुझ पर बीता।

अभागिनी माताओं को भी क्या दोष दिया जाय—

> बेटा, धरती पर बड़ी दीन है नारी,
> अबला होती, सचमुच, योषिता कुमारी।
> है कठिन बन्द करना समाज के मुख को।
> सिर उठा न पा सकती पतिता निज सुख को।

समस्या का एक मात्र समाधान यही है कि नारी समाज को चुनौती दे दे कि परजीव तुम मुझसे भले छीन लो, किन्तु मैं किसी दशा में अपना मातृत्व छोड़ने के लिए तैयार नहीं हूँ—

> उस जड़ समाज के सिर पर कदम धरूँगी,
> डर चुकी बहुत, अब और न अधिक डरूँगी।

जाति-भेद के विषय में कर्ण कहता है—

> मगर मनुज क्या करे, जन्म लेना तो उसके हाथ नहीं,
> चुनना जाति और कुल अपने वस की तो है बात नहीं।

यदि जाति-भेद आवश्यक ही तो वह कर्म के अनुसार होना चाहिए—

> पूछो मेरी जाति शक्ति हो तो मेरे भुज-बल से,
> रवि-समान दीपित ललाट से और कवच-कुंडल से।

आज के समाज का यथार्थ चित्र इन पंक्तियों में देखिए—

नीचे बिछी पृथ्वी तना ऊपर वियत भगवान का
पर इस भरे जग में गरीबों का हितू कोई नहीं।
चढ़ती किसी के बूट पर पालिश किसी के खून की,
जीवित मरालों की चिता है सभ्यता की गोद में।

× × ×

अन्न नहीं अवलम्ब प्राण को, गम आँसू या गंगाजल का
मरने पर भी हमें कफन है माता शैय्या के अंचल का।

दरिद्रता के नग्न चित्रों में भी सर्वत्र कवि की सरसता के ही दर्शन होते हैं। दिनकर जी में न तो प्रगतिशीलोंवाली सस्ती भावुकता है, न यथार्थ के घिनौने चित्रों का आधिक्य। गाँव के सरल और निष्कपट वातावरण में जीवन का उषःकाल बिताने के कारण भारतीय मध्यम तथा निम्न वर्गों की निराशा और करुणा से कवि परिचित है। उसे अपनी भावना की अभिव्यक्ति के लिए वक्रोक्ति या अलंकार की आवश्यकता नहीं पड़ती; उसे जो कुछ कहना होता है, वह सहज भाव से कह जाता है—

अर्द्ध नग्न दम्पति के घर में मैं झोंका बन आऊँगी।
लज्जित हों न अतिथि सम्मुख वे दीपक तुरत बुझाऊँगी।

यही भावना यदि किसी सस्ती भावुकतावाले अध-कचरे कवि की लेखनी के पल्ले पड़ती तो वस्त्र के अभाव में अर्द्धनग्न दम्पति की करुणा, शायद वीभत्स और शृंगार का रसाभास बनकर रह जाती।

लोक-कल्याण

'कुरुक्षेत्र' के सप्तम सर्ग में दिनकर जी ने रूसो के राज्य के विकासवादी सिद्धान्त का समर्थन किया है। कवि का मत है कि प्रारम्भ में मनुष्य

विकार-रहित था[१]। धर्म और नीति से सभी स्वतः अनुशासित थे। सबको पर्याप्त मात्रा में प्राकृतिक विभूतियाँ मिलती थीं और उनमें किसी तरह का भेद-भाव नहीं था। जीवन का पथ सरल था। एक बार बहुत बड़ा अकाल पड़ने से लोभ ने मानव-हृदय में अपना डेरा जमाया। मनुष्य ने सोचा कि यदि मैंने संचय किया होता तो यह दुर्दिन मुझे न देखना पड़ता। मन में लोभ के आगमन के फल-स्वरूप मनुष्य में संचय-वृत्ति बढ़ी; और इस प्रकार मनुष्य का पतन हुआ[२]। जब अत्याचार और अनाचार अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचे, तब उनका शमन करने के लिए राजा आया। पशु-वृत्तियों से मानव की रक्षा करने के लिए राज-तंत्र की आवश्यकता प्रतीत करते हुए भी कवि का राज-तंत्र में विश्वास नहीं है—

राजतंत्र द्योतक है नर की मलिन निरीह प्रकृति का,
मानवता की ग्लानि और कुत्सित कलंक संस्कृति का।

कवि का साम्यवाद में विश्वास है—

साम्य की वह रश्मि स्निग्ध, उदार,
कब खिलेगी, कब खिलेगी विश्व में भगवान!
कब सुकोमल ज्योति से अभिषिक्त
हो, सरस होंगे जली-सूखी रसा के प्राण?

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि कवि का साम्यवाद 'कम्यूनिज्म' का पर्याय नहीं है।

आज का मानव अपने मनुष्योचित गुण खोकर दानव बन गया है—

अपहरण शोषण वही, कुत्सित वही अभिमान,
खोजना चढ़ दूसरों के भस्म पर उत्थान;

१—रूसो ने इसे प्राकृतिक अवस्था (स्टेट आफ नेचर) कहा है।

२—मनुष्य के पतन का रूसो ने स्पष्ट कारण नहीं बताया है।

शील से सुलझा न सकना आपसी व्यवहार,
दौड़ना रह रह उठा उन्माद की तलवार।
द्रोह से अब भी वही अनुराग,
प्राण में अब भी वही फुंकार भरता नाग।

कहने को आज हम अपने पूर्वजों से अधिक सभ्य हो गये हैं। पर हमारी यह तथा-कथित सभ्यता ही मानव-विकास के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा है। सभ्यता की मृग-मरीचिका में हमारा हृदय पीछे छूट गया और हम पथ-भ्रष्ट हो गये। मनुष्य के सर्वांगीण विकास के लिए मस्तिष्क के विकास से अधिक हृदय के विकास की आवश्यकता है—

किन्तु है बढ़ता गया मस्तिष्क ही निःशेष,
छूटकर पीछे गया है रह हृदय का देश;
नर मनाता नित्य नूतन बुद्धि का त्यौहार,
प्राण में करते दुखी हो देवता चीत्कार।

इस अन्धकार में 'कला-कल्याणी' ही प्रकाश दे सकती है। कवि की सलाह है—

विज्ञान काम कर चुका; हाथ उसका रोको,
आगे आने दो गुणी! कला-कल्याणी को।
जो भार नहीं विभ्राट् महाबल उठा सके,
दो उसे उठाने किसी क्षीण बल प्राणी को।

आत्म-दान की महत्ता कवि मुक्त कंठ से स्वीकृत करता है—

आत्म-दान के साथ जगज्जीवन का ऋजु नाता है,
जो देता जितना बदले में उतना ही वह पाता है।

बिना त्याग और तपस्या के उद्देश्य की प्राप्ति नहीं होती। कवि देश के नौनिहालों से जवानी की भीख माँगता है—

प्यारे स्वदेश के हित अंगार माँगता हूँ,
चढ़ती जवानियों का शृंगार माँगता हूँ।

कवि को उस जवानी की चाह नहीं है जो 'मायए इल्ज़ामँ' होती है और जिसमें 'निगाहे नेक' भी बदनाम हो जाया करती है[१]। कवि ऐसी जवानी चाहता है जिसकी 'अँगड़ाई में भूचाल, साँस में लंका के उनचास पवन' हों। है कोई माई का लाल जो कवि की मुराद पूरी कर सके ?

कवि ने अखंड भारत की कल्पना कर उसकी सीमा निर्धारित की है—

भारत भूमि है एक, हिमालय से आसेतु निरन्तर,
पश्चिम में कम्बोज कपिश तक उसकी ही सीमा है।

पर हमारी धर्मान्धता ने देश के दो टुकड़े कर दिये—दूध पानी की तरह मिले हुए दो भाइयों के दो राष्ट्र बना दिये !

कवि इन दो इकाइयों को एक मानता है। उसकी कामना है कि देश के हृदय में पुनः उसी प्रेम की धारा बहे जो पहले बहा करती थी। अपनी कामना का संकेत कर कवि मौन हो जाता है—

माँ का अंचल फटा हुआ, इन दो टुकड़ों को सीना है,
देखें देता है कौन लहू, दे सकता कौन पसीना है ?

आर्थिक विषमता की समस्या का समाधान कवि की क्रान्तिकारी लेखनी से बहुत सुन्दर बन पड़ा है। अपने धन के मद में भूले हुए जो हमारे सजातीय होकर भी हमारी कतार से दूर खड़े हैं, उन्हें कवि समझाना चाहता है—

क्या तुम सँभाल लोगे इस व्योम-विवर्तन को ?
जादू-टोने से हवा न बाँधी जायेगी।

१—जवानी आदमी की मायए इल्ज़ाम होती है।
निगाहे नेक भी इस उम्र में बदनाम होती है॥

शील से सुलझा न सकना आपसी व्यवहार,
दौड़ना रह रह उठा उन्माद की तलवार।
द्रोह से अब भी वही अनुराग,
प्राण में अब भी वही फुंकार भरता नाग।

कहने को आज हम अपने पूर्वजों से अधिक सभ्य हो गये हैं। पर हमारी यह तथा-कथित सभ्यता ही मानव-विकास के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा है। सभ्यता की मृग-मरीचिका में हमारा हृदय पीछे छूट गया और हम पथ-भ्रष्ट हो गये। मनुष्य के सर्वांगीण विकास के लिए मस्तिष्क के विकास से अधिक हृदय के विकास की आवश्यकता है—

किन्तु है बढ़ता गया मस्तिष्क ही निःशेष,
छूटकर पीछे गया है रह हृदय का देश;
नर मनाता नित्य नूतन बुद्धि का त्यौहार,
प्राण में करते दुखी हो देवता चीत्कार।

इस अन्धकार में "कला-कल्याणी ही प्रकाश दे सकती है। कवि की सलाह है—

विज्ञान काम कर चुका; हाथ उसका रोको,
आगे आने दो गुणी! कला-कल्याणी को।
जो भार नहीं विभ्राट् महाबल उठा सके,
दो उसे उठाने किसी क्षीण बल प्राणी को।

आत्म-दान की महत्ता कवि मुक्त कंठ से स्वीकृत करता है—

आत्म-दान के साथ जगज्जीवन का ऋजु नाता है,
जो देता जितना बदले में उतना ही वह पाता है।

बिना त्याग और तपस्या के उद्देश्य की प्राप्ति नहीं होती। कवि देश के नौनिहालों से जवानी की भीख माँगता है—

प्यारे स्वदेश के हित अंगार माँगता हूँ,
चढ़ती जवानियों का शृंगार माँगता हूँ।

कवि को उस जवानी की चाह नहीं है जो 'मायए इल्जामँ' होती है और जिसमें 'निगाहे नेक' भी बदनाम हो जाया करती है[1]। कवि ऐसी जवानी चाहता है जिसकी 'अँगड़ाई में भूचाल, साँस में लंका के उनचास पवन' हों। है कोई माई का लाल जो कवि की मुराद पूरी कर सके ?

कवि ने अखंड भारत की कल्पना कर उसकी सीमा निर्धारित की है—

भारत भूमि है एक, हिमालय से आसेतु निरन्तर,
पश्चिम में कम्बोज कपिश तक उसकी ही सीमा है।

पर हमारी धर्मान्धता ने देश के दो टुकड़े कर दिये—दूध पानी की तरह मिले हुए दो भाइयों के दो राष्ट्र बना दिये !

कवि इन दो इकाइयों को एक मानता है। उसकी कामना है कि देश के हृदय में पुनः उसी प्रेम की धारा बहे जो पहले बहा करती थी। अपनी कामना का संकेत कर कवि मौन हो जाता है—

माँ का अंचल फटा हुआ, इन दो टुकड़ों को सीना है,
देखें देता है कौन लहू, दे सकता कौन पसीना है ?

आर्थिक विषमता की समस्या का समाधान कवि की क्रान्तिकारी लेखनी से बहुत सुन्दर बन पड़ा है। अपने धन के मद में भूले हुए जो हमारे सजातीय होकर भी हमारी कतार से दूर खड़े हैं, उन्हें कवि समझाना चाहता है—

क्या तुम सँभाल लोगे इस व्योम-विवर्तन को ?
जादू-टोने से हवा न बाँधी जायेगी।

१—जवानी आदमी की मायए इल्ज़ाम होती है।
निगाहे नेक भी इस उम्र में बदनाम होती है॥

लाकर कतार के भीतर तुम्हें खड़ा करने
रूई के पुतलो, निश्चय आँधी आयेगी।

लेकिन रूई के इन पुतलों में इतनी बुद्धि नहीं है कि वे सीधी-सी बात भी सीधे ढंग से समझ लें। एक के स्वार्थ-साधन के लिए अनेक के स्वार्थों का बलि-दान नहीं किया जा सकता। 'कुरु-क्षेत्र' के कवि के पास इस रोग का बहुत सरल उपचार है—

वट की विशालता के नीचे जो अनेक वृक्ष
ठिठुर रहे हैं, उन्हें फैलने का वर दो;
रस सोखता है जो मही का भीमकाय वृक्ष
उसकी शिराएँ तोड़ो, डालियाँ कतर दो।

अतीत का गायक

वर्त्तमान का कवि जब लेखनी उठाता है, तब भविष्य अपना अरुण आँचल पसारकर कहता है—अपने साँसों से प्राचीनता नष्ट कर दो। उस समय अतीत भी आँसू भरे नयनों से कहता है—मुझे न भूलो, मैंने तुम्हें बनाने में अपने को मिटा दिया है। कवि के सम्मुख समस्या उठ खड़ी होती है कि हम किसे मान्य करें। न तो वह भविष्य की माँग ठुकरा सकता है, न अतीत के अरमान रौंद सकता है। अतीत के साथ न्याय करते हुए भविष्य की माँग सुनना ही कवि की सफलता है। दिनकर जी ने अतीत को प्रेरणा के रूप में ग्रहण किया है—

वैशाली! इतिहास-पृष्ठ पर अंकन अंगारों का,
वैशाली! अतीत गह्वर में गुंजन तलवारों का।
वैशाली! जन का प्रति-पालक, गण का आदि विधाता,
जिसे ढूँढ़ता देश आज, उस प्रजा-तंत्र की माता।

दायें पार्श्व पड़ा सोता मिट्टी में मगध शक्ति-शाली,
वीर लिच्छवी की विधवा बायें रोती है वैशाली।

कवि इस विश्वास पर जी भरकर रोता है कि आँसुओं की बरसात के बाद धरती पर आशा के फूल खिलेंगे।

कितनी विडम्बना है कि सब कुछ खोकर भी हम बे-शर्म बने बैठे हैं! अब तो हम अतीत के मोहक सपनों को प्रेत समझकर उनसे डरने भी लग गये हैं। 'ब्रिटेन की दासी दिल्ली' से, जिसकी दीवारें गरीबों के लहू पर खड़ी हुई हैं, कवि कहता है—

वैभव की दीवानी दिल्ली! कृषक-मेध की रानी दिल्ली!
अनाचार, अपमान, व्यंग्य की चुभती हुई कहानी दिल्ली!
अपने ही पति की समाधि पर कुलटे! तू छबि पर इतराती
परदेसी सँग गल-बाँही दे मन में है फूली न समाती।

नई दिल्ली आज बदल गई है; किन्तु कवि के नयनों में अभी उसके पुराने वैभव ही समाये हैं—

उठा कसक दिल में लहराता है यमुना का पानी
पलकें जाग रहीं बीते वैभव की एक निशानी
दिल्ली! तेरे रूप-रंग पर कैसे हृदय फँसेगा?
बाट जोहती खँडहर में हम कंगालों की रानी।

साध्य तक पहुँचने के लिए आतुर पथिक यदि वर्त्तमान और भविष्य तक ही अपनी दृष्टि सीमित रखेगा, तो उसके पथ भूल जाने की सम्भावना प्रति क्षण बनी रहेगी। साध्य तक पहुँचने के लिए समय-समय पर अतीत की ओर देख लेना भी आवश्यक है। दीपक आनेवाले पथिक को अपने तक पहुँचने का मार्ग तो दिखलाता ही है, आगे के पथ के लिए भी वह ज्योति देता है।

धरती का गायक

देव करेंगे विनय, किन्तु क्या स्वर्ग बीच रुक पाऊँगा?
किसी रात चुपके उल्का बन कूद भूमि पर आऊँगा।

सिपाही के इन शब्दों में कवि ने अपनी मनोभावना व्यक्त की है। स्वर्ग के जिस सुख का हम उपभोग नहीं कर सकते, वह हमारे किस काम का? देवताओं को उनका स्वर्ग मुबारक रहे, हमारी धरती स्वर्ग से किसी बात में कम नहीं है। धरती के प्रति हमारी आसक्ति देखकर—

'स्वर्ग से भी सुन्दर यह कौन?' करेंगे जब सुर चकित पुकार,
कहूँगा मैं, 'दिव से भी मधुर, विश्व की रसवन्ती सुकुमार।'

धरती के प्रति कवि का अभिमान अ-कारण नहीं है—

भू से लेकर अम्बर तक यह जल कभी न घटनेवाला;
यह प्रकाश, यह पवन, कभी भी नहीं सिमटनेवाला,
यह धरती फल, फूल, अन्न, धन, रतन उगानेवाली,
यह पालिका मृगव्य जीव की अटवी सघन निराली,...
इतना कुछ है भरा विभव का कोष प्रकृति के भीतर,
निज इच्छित सुख-भोग सहज ही पा सकते नारी-नर।

यदि आपको कवि पर विश्वास न हो तो अपने अतीत की ओर दृष्टि डालिए। सुनिए, धरती का लाल (कर्ण) स्वर्ग के राजा (इन्द्र) से क्या कह रहा है—

धन्य हमारा सुयश आपको खींच मही पर लाया,
स्वर्ग भीख माँगने आज सच ही मिट्टी पर आया।...
उधर करें बहु भाँति पार्थ की स्वयं कृष्ण रखवाली,
और इधर मैं लड़ूँ लिए यह देह कवच से खाली।...

अर्जुन है मेरा शत्रु, किन्तु वह सर्प नहीं, नर ही तो है।
संघर्ष सनातन नहीं, शत्रुता इस जीवन भर ही तो है!

अपने नरत्व का कवि को कितना अभिमान है, यह इसी बात से जाना जा सकता है कि अपने प्रिय नायक कर्ण के लिए उसने कृष्ण के मुख से जो विशेषण लगवाया है, वह 'मर्त्य मनुष्य' है—

मृत्तिका-पुंज यह मनुज ज्योतियों के जग का अधिकारी है।

अर्द्ध-नारीश्वर

दिनकर जी ने नारीत्व से पृथक् कोरे नरत्व को आदर्श नहीं माना है। नरत्व जब अपने में नारीत्व की भावना लाता है, तभी उसका उत्थान होता है। पूर्ण विकसित नरत्व के लिए दिनकर जी ने 'अर्द्ध-नारीश्वर' वाली पुरानी भावना का इस प्रकार उद्धार किया है—

कहाँ अर्द्ध-नारीश वीर वे अनल और मधु के मिश्रण,
जिनमें नर का तेज प्रखर था, भीतर था नारी का मन?
एक नयन संजीवन जिनका, एक नयन था हालाहल,
जितना कठिन खड्ग था कर में, उतना ही अन्तर कोमल।

अर्द्ध-नारीश्वर में नर और नारी को समान महत्त्व प्रदान करते हुए भी कवि नारी की ही महत्ता अधिक मानता है—

गिर गया हत-बुद्धि-सा थककर पुरुष दुर्जेय,
प्राण से निकली अनामय नारि एक अमेय।
अर्द्ध-नारीश्वर अशोक महीप;
नर पराजित, नारि सजती है विजय का दीप।

नर और नारी एक दूसरे के पूरक हैं। नर में नारी तत्त्व की और नारी में नर-तत्त्व की प्रधानता होना शुभ है। नारी-तत्त्व की प्रधानता के कारण ही

अशोक महान् बना है; और नर-तत्त्व की प्रधानता के कारण झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई !

युद्ध और मानव

कृष्ण कहते हैं युद्ध अनघ है, किन्तु मेरे
प्राण जलते हैं पल-पल परिताप से।

पुण्य और पाप की विवेचना 'हाँ' और 'ना' में नहीं हो सकती। एक ही कार्य, जो एक परिस्थिति में पुण्य होता है, दूसरी अवस्था में पाप हो सकता है। युद्ध भी इसी प्रकार का एक मानवीय कृत्य है। 'मगध-महिमा' में अशोक का एक गीत है—

मनुज के पाँवों तले मर्दित मनुज का मान,
आदमीयत के लहू से आदमी का स्नान।
जय की वासने उद्दाम !

युद्ध अपने में नाश छिपाये आता है; किन्तु मानव की आँखों पर स्वार्थ की पट्टी बँधी रहती है, जिससे वह युद्ध के अन्दर छिपा हुआ नाश नहीं देख पाता। तेली के बैल की तरह अन्धा होकर वह अपनी मंजिल ढूँढ़ता रहता है; और एक सीमित परिधि का अनेक बार चक्कर काटकर सोचता है कि मंजिल पूरी हो गई। किन्तु आँखों की पट्टी खुलने पर अपने को वहीं खड़ा देखता है, जहाँ वह पहले था ! उसके श्रम का तत्त्व (तेल) कोई और ले जाता है; और उसे मिलती है थोड़ी-सी खली। भला खल को खली नहीं तो क्या स्नेह (तेल) मिलेगा ? 'कलिंग-विजय' में अशोक ने देखा—

षोडसी शुक्लाम्बराएँ आभरण कर दूर
धूल मलकर धो रही हैं माँग का सिन्दूर।

वीर बेटों की चिताएँ देख ज्वलित समक्ष,
रो रही माँएँ हजारों पीटती शिर-वक्ष।
रो रहीं हैं वे कि जिनका लुट गया शृंगार;
रो रही जिनका गया मिट फूलता संसार;
जल गई उम्मीद, जिनका जल गया है प्यार;
रो रहीं जिनका गया छिन एक ही आधार।

युद्ध एक दीपक है। दीपक के दो रूप होते हैं; उसका एक रूप हमें अन्धकार देता है और दूसरा प्रकाश। अब तक हमने इस दीपक के एक रूप (अन्धकार) के विषय में विचार किया; किन्तु इससे भी महत्त्वपूर्ण इसका प्रकाश है। दीपक हमें काजल देता है और युद्ध ध्वंस। दीपक जलाने का मूल उद्देश्य उससे प्रकाश लेना होता है; यों कभी-कभी हम काजल के लिए भी दीपक जला लेते हैं। काजल सुन्दरी के नयनों की शोभा भी बढ़ा सकता है और पापी के मुख का कलंक भी। उसकी उपयोगिता उपभोक्ता पर आश्रित है। इसी प्रकार युद्ध के ध्वंस में भी निर्माण के बीज छिपे रहते हैं। उन्हें ढूँढ़कर तर्क और विवेक से उनका सदुपयोग करना हमारा काम है।

दिनकर जी मानव को क्या समझते हैं, यह हम 'धरती के गायक' में देख आये हैं। 'रश्मि-रथी' का कवि तलवार उठाने का अधिकारी उसे समझता है—

वही उठा सकता है इसको जो कठोर हो, कोमल भी,
जिसमें हो धीरता, वीरता और तपस्या का बल भी।
वीर वही है जो कि शत्रु पर जब भी खड्ग उठाता है,
मानवता के महा गुणों की सत्ता भूल न जाता है।
सीमित जो रख सके खड्ग को, पास उसी के आने दो,
विप्र जाति के सिवा किसी को मत तलवार उठाने दो।

'कुरुक्षेत्र' के कवि ने 'निवेदन' किया है—"कुरुक्षेत्र न तो दर्शन है और न

अशोक महान् बना है; और नर-तत्त्व की प्रधानता के कारण झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई !

युद्ध और मानव

कृष्ण कहते हैं युद्ध अनघ है, किन्तु मेरे
प्राण जलते हैं पल-पल परिताप से।

पुण्य और पाप की विवेचना 'हाँ' और 'ना' में नहीं हो सकती। एक ही कार्य, जो एक परिस्थिति में पुण्य होता है, दूसरी अवस्था में पाप हो सकता है। युद्ध भी इसी प्रकार का एक मानवीय कृत्य है। 'मगध-महिमा' में अशोक का एक गीत है—

मनुज के पाँवों तले मर्दित मनुज का मान,
आदमीयत के लहू से आदमी का स्नान।
जय की वासने उद्दाम !

युद्ध अपने में नाश छिपाये आता है; किन्तु मानव की आँखों पर स्वार्थ की पट्टी बँधी रहती है, जिससे वह युद्ध के अन्दर छिपा हुआ नाश नहीं देख पाता। तेली के बैल की तरह अन्धा होकर वह अपनी मंजिल ढूँढ़ता रहता है; और एक सीमित परिधि का अनेक बार चक्कर काटकर सोचता है कि मंजिल पूरी हो गई। किन्तु आँखों की पट्टी खुलने पर अपने को वहीं खड़ा देखता है, जहाँ वह पहले था ! उसके श्रम का तत्त्व (तेल) कोई और ले जाता है; और उसे मिलती है थोड़ी-सी खली। भला खल को खली नहीं तो क्या स्नेह (तेल) मिलेगा ? 'कलिंग-विजय' में अशोक ने देखा—

षोडसी शुक्लाम्बराएँ आभरण कर दूर
धूल मलकर धो रही हैं माँग का सिन्दूर।

वीर बेटों की चिताएँ देख ज्वलित समक्ष,
रो रही माँएँ हज़ारों पीटती शिर-वक्ष।
रो रहीं हैं वे कि जिनका लुट गया शृंगार;
रो रहीं जिनका गया मिट फूलता संसार;
जल गई उम्मीद, जिनका जल गया है प्यार;
रो रहीं जिनका गया छिन एक ही आधार।

युद्ध एक दीपक है। दीपक के दो रूप होते हैं; उसका एक रूप हमें अन्धकार देता है और दूसरा प्रकाश। अब तक हमने इस दीपक के एक रूप (अन्धकार) के विषय में विचार किया; किन्तु इससे भी महत्त्वपूर्ण इसका प्रकाश है। दीपक हमें काजल देता है और युद्ध ध्वंस। दीपक जलाने का मूल उद्देश्य उससे प्रकाश लेना होता है; यों कभी-कभी हम काजल के लिए भी दीपक जला लेते हैं। काजल सुन्दरी के नयनों की शोभा भी बढ़ा सकता है और पापी के मुख का कलंक भी। उसकी उपयोगिता उपभोक्ता पर आश्रित है। इसी प्रकार युद्ध के ध्वंस में भी निर्माण के बीज छिपे रहते हैं। उन्हें ढूँढ़कर तर्क और विवेक से उनका सदुपयोग करना हमारा काम है।

दिनकर जी मानव को क्या समझते हैं, यह हम 'धरती के गायक' में देख आये हैं। 'रश्मि-रथी' का कवि तलवार उठाने का अधिकारी उसे समझता है—

वही उठा सकता है इसको जो कठोर हो, कोमल भी,
जिसमें हो धीरता, वीरता और तपस्या का बल भी।
वीर वही है जो कि शत्रु पर जब भी खड्ग उठाता है,
मानवता के महा गुणों की सत्ता भूल न जाता है।
सीमित जो रख सके खड्ग को, पास उसी के आने दो,
विप्र जाति के सिवा किसी को मत तलवार उठाने दो।

'कुरुक्षेत्र' के कवि ने 'निवेदन' किया है—"कुरुक्षेत्र न तो दर्शन है और न

किसी ज्ञानी के प्रौढ़ मस्तिष्क का चमत्कार । यह तो अन्ततः एक साधारण मनुष्य का शंकाकुल हृदय ही है जो मस्तिष्क के स्तर पर चढ़कर बोल रहा है ।" कुरुक्षेत्र हृदय और मस्तिष्क का समन्वय है ।

भीष्म ने युद्ध को एक तूफान कहा है । तूफान के ध्वंस में भावी निर्माण के बीज छिपे होते हैं । युद्ध कोई नहीं चाहता । किन्तु जब शत्रु ललकारता हुआ सामने आता है, तब लड़ना ही पड़ता है । जब तक विभिन्न स्वार्थों की कुलिश-चिनगारियाँ उठती रहेंगी, तब तक युद्ध होता रहेगा ।

व्यक्ति का समुदाय से अलग अस्तित्व नहीं है । भीष्म का मत है—

जो अखिल कल्याणमय है व्यक्ति तेरे प्राण में
कौरवों के नाश पर है रो रहा केवल वही,
किन्तु उसके पास ही समुदाय-गत जो भाव हैं,
पूछ उनसे, क्या महाभारत नहीं अनिवार्य था ?

युधिष्ठिर का 'कल्याणमय व्यक्ति' युद्ध के ध्वंस से समाज को बचाने के लिए अपनी सह-धर्मिणी का लज्जा-हरण क्लीव की भाँति देख सकता है, किन्तु समुदाय इसका प्रतिशोध[१] चाहता है । महाभारत में पाँच ही व्यक्तियों का स्वार्थ नहीं था । द्रौपदी के साथ ही उस बड़े समुदाय की भी लज्जा हरी जा रही थी, जो पाण्डवों के साथ था ।

शान्ति के लिए न्याय की आवश्यकता होती है—

न्याय शान्ति का प्रथम न्यास है, जब तक न्याय न आता,
जैसा भी हो महल शान्ति का, सुदृढ़ नहीं रह पाता ।

न्याय के अभाव में शान्ति की कल्पना ही नहीं की जा सकती । न्यायोचित अधिकार यदि माँगने से न मिलें तो उन्हें लड़कर लेना चाहिए—

१—जग में प्रदीप्त है इसी का तेज, प्रतिशोध—
जड़ चेतनों का जन्म-सिद्ध अधिकार है ।

न्यायोचित अधिकार माँगने से न मिलें तो लड़के,
तेजस्वी छीनते समर को जीत, या कि खुद मर के।

मनोबल से सहृदय को ही जीता जा सकता है, आततायी को नहीं—

पिया भीम ने गरल, लाक्षागृह जला, हुए वनवासी,
केश-कर्षिता प्रिया सभा-सम्मुख कहलाई दासी।
क्षमा, दया, तप, त्याग, मनोबल, सबका लिया सहारा,
पर, नर-व्याघ्र सुयोधन तुमसे कहो, कहाँ, कब हारा ?

क्षमा की शोभा शक्ति के साथ ही होती है—

क्षमा शोभती उस भुजंग को जिसके पास गरल हो,
उसको क्या, जो दन्त-हीन, विष-रहित, विनीत, सरल हो ?...
सन्धि-वचन संपूज्य उसी का जिसमें शक्ति विजय की।

× × ×

जेता के विभूषण सहिष्णुता-क्षमा हैं, किन्तु,
हारी हुई जाति की सहिष्णुताऽभिशाप है।

कापुरुष की शान्ति को कवि क्लैब्य का पर्याय मानता है—

आनन सरल, वचन मधुमय है, तन पर शुभ्र वसन है;
बचो युधिष्ठिर ! इस नागिन का विष से भरा दशन है।
नहीं हुआ स्वीकार शान्ति को जीना जब कुछ देकर,
टूटा पुरुष काल-सा उसपर प्राण हाथ में लेकर।

युद्ध का दायित्व किस पर है ? इस जिज्ञासा का उत्तर कवि प्रश्न में ही दे देता है—

पापी कौन ? मनुज से उसका न्याय चुरानेवाला ?
या कि न्याय खोजते विघ्न का शीश उड़ानेवाला ?

कवि ने युद्ध का समर्थन उसी दशा में किया है, जब युद्ध साधन बनता है और शान्ति साध्य। अपने अतीत पर कवि को इसी कारण गर्व है कि—

उठी नहीं तलवार मगध की कभी लोभ लालच से,
और न हम प्रतिशोध-भाव से प्रेरित हुए कभी भी।

युद्ध के नाश से बचने की सरल विधि है—

रण रोकना है तो उखाड़ विष-दन्त फेंको,
वृक-व्याघ्र-भीति से मही को मुक्त कर दो।

प्रकृति

दिनकर जी ने जागरण-गीतों से अपना काव्य-जीवन प्रारम्भ किया था; किन्तु आगे चलकर उनके कवि को नई दिशा मिली और वे प्रबन्ध-काव्य की ओर झुके। पहले एक जगह कहा जा चुका है कि जागरण गीत और प्रबन्ध-काव्य प्रकृति-चित्रण के लिए उपयुक्त नहीं होते। दिनकर जी इस सत्य के अपवाद जान पड़ते हैं। कवि के सरस हृदय ने प्रकृति-चित्रण के लिए भी अवकाश ढूँढ़ निकाला है। कर्ण की मृत्यु के पश्चात् जड़ीभूत प्रकृति का दृश्य देखिए—

अनिल मंथर व्यथित-सा डोलता था,
न पक्षी भी पवन में बोलता था।
प्रकृति निस्तब्ध थी यह हो गया क्या?
हमारी गाँठ से कुछ खो गया क्या?

कवि ने प्रकृति का नारी-रूप में बहुत सुन्दर चित्रण किया है। प्रकृति से इतनी अधिक आत्मीयता अन्यत्र देखने में नहीं आती। रजनी का रूप देखिए—

अम्बर पर मोती-गुँथे चिकुर फैलाकर,
अंजन उँडेल सारे जग को नहलाकर,
साड़ी में टाँके हुए अनन्त सितारे,
थी घूम रही तिमिरांचल निशा पसारे।

मुग्धा नायिका के रूप में ऊषा का ऐसा ही एक और चित्र देखिए—

नत नयन लाल कुछ गाल किये, पूजा हित कंचन थाल लिये,
ढोती यौवन का भार, अरुण कौमार्य विन्दु निज भाल दिये।
स्वर्णिम दुकूल फहराती-सी अलसित, सुरभित मदमाती-सी
दूबों से हरी-भरी भू पर आती षोडशी उषा सुन्दर।

कहीं-कहीं वर्णनात्मक प्रणाली के अनुसार कवि ने बहुत दूर तक प्रकृति का चित्रांकन किया है; किन्तु व्यर्थ की नामावली का यहाँ आपको सर्वथा अभाव ही मिलेगा। इस प्रकार के प्रकृति-चित्रों में कवि ने प्रकृति को बहुत निकट से देखा है। प्रभात का एक वर्णन देखिए—

निशा बीती गगन का रूप दमका,
किनारे पर किसी का चीर चमका।
क्षितिज के पास लाली छा रही है,
अतल से कौन ऊपर आ रही है?
सँभाले शीश पर आलोक-मंडल,
दिशाओं में उड़ाती ज्योतिरंचल,
किरण में स्निग्ध आतप फेंकती-सी,
शिशिर-कंपित द्रुमों को सेंकती-सी,
खगों के स्पर्श से कर पंख-मोचन,
कुसुम के पोंछती हिम-सिक्त लोचन,
दिवस की स्वामिनी आई गगन में,
उड़ा कुंकुम, जगा जीवन भुवन में।

भाषा-शैली

दिनकर जी ने सर्वत्र बोल-चाल की भाषा का ही प्रयोग किया है। हिन्दी साहित्य में विदेशी भाषाओं के जो शब्द खप गये हैं, कवि ने उन्हें ग्रहण कर लेने में संकोच नहीं किया। कहीं कहीं 'मुन्तजिर'[१] और 'कफ़स'[२] जैसे कुछ अ-प्रचलित शब्द भी आ गये हैं, किन्तु ये अनुपात में बहुत कम हैं। 'रसवन्ती' के गीतों में हेरती, पोखरा, उलर, कत्तिन, धाग और बाउर सरीखे ग्राम्य तथा पिया, हिया, सोहे, आँजले आदि ठेठ हिन्दी के शब्दों का प्रयोग भी बहुत मनोरम है। कवि द्वारा प्रयुक्त उर्दू शब्दों में भी बहुत ओज है—

जिन्दगी दौड़ी नई संसार में, खून में सबके रवानी और है;
और हैं लेकिन हमारी किस्मतें, आज भी अपनी कहानी और है।
चीथड़ों पर एक की आँखें लगीं, एक कहता है कि मैं लूँगा जुबाँ;
एक की जिद है कि पीने दो मुझे,खून जो इसकी रगों में है रवाँ!

कवि की एक आदत, जो हमें बहुत अच्छी लगती है, यह है कि वह पाठकों को कभी धोखा देने की कोशिश नहीं करता। जो विचार उसके मन में आता है, वह स्पष्ट रूप से पाठकों के सामने रख देता है। कहीं-कहीं ऐसा भी होता है कि जिन मार्मिक स्थलों पर कवि को कुछ रुकना चाहिए, वहाँ भी वह अपनी बात कहकर आगे बढ़ जाता है। किन्तु वे स्थल पाठकों का मन अपनी ओर खींच ही लेते हैं। कथा-प्रवाह में बहकर भी बार-बार पाठक पिछली पंक्तियाँ गुनगुनाता है।'रश्मि-रथी' की एक ऐसी ही पंक्ति है—

युधिष्ठिर जीत के हित झूठ बोले।

सीधी-सी बात घुमा-फिराकर कहने में भी कवि ने सफलता पाई है—

तुम कुछ भी नहीं एक हिम-कण,
माना तुम कुछ भी नहीं, मगर,

१—खड़े हैं मुन्तजिर कब से नये अभियानवाले।
२—थकी बेड़ी कफस की हाथ में सौ बार बोली।

छू सकते किसी सुमन-उर पर
हलका-सा कम्पन ला सकते
मिटकर तो दर्द जगा सकते
मरते-मरते कुछ कर जाती नन्ही शबनम बेचारी भी।

दूसरे कवियों की पंक्तियों को अपनी कविता में सटीक बैठाने की कला में भी कवि सफल रहा है—

तड़प तड़प हम कहो करें क्या ? 'बहै न हाथ, दहै रिसि छाती।'
अन्तर ही अन्तर घुलते हैं 'भा कुठार कुंठित रिपु-घाती॥'

× × ×

'सूली ऊपर सेज पिया की' दीवानी मीरा सो ले।

× × ×

परदेसी की प्रिया बैठ गाती यह विरह-गीत उन्मन—
'भैया ! लिख दे एक कलम खत मो बालम के जोग
चारो कोने खेम कुसल माँझे ठाँ मोर वियोग।'

कवि की नवीनतम कृति 'धूप और धूआँ' से हमें एक शिकायत है। लगता है, जैसे किसी बहुत बड़े चित्रकार ने एक अच्छा चित्र बना लेने के बाद थकान मिटाने के लिए कागज पर कुछ सीधी-टेढ़ी रेखाएँ खींच दी हों। 'रसवन्ती', 'कुरुक्षेत्र' और 'रश्मि-रथी' के कवि से हम जो आशा करते हैं, वह 'धूप और धूआँ' का कवि पूरी नहीं कर सका है। भविष्य में कवि से हमें अभी बहुत-कुछ पाने की कामना है। आशा है, कवि भविष्य में हमारे लोक-कल्याण का मार्ग और भी प्रशस्त करेगा, जैसा कि उसने स्वयं कहा है—

आगे वह लक्ष्य पुकार रहा, हाँकते हवा पर यान चलो,
सुर-धनु पर धरते हुए चरण, मेघों पर गाते गान चलो,
सम्मुख असंख्य बाधाएँ हैं, गरदन मरोड़ते बढ़े चलो,
अरुणोदय है, यह उदय नहीं, चट्टान फोड़ते बढ़े चलो।
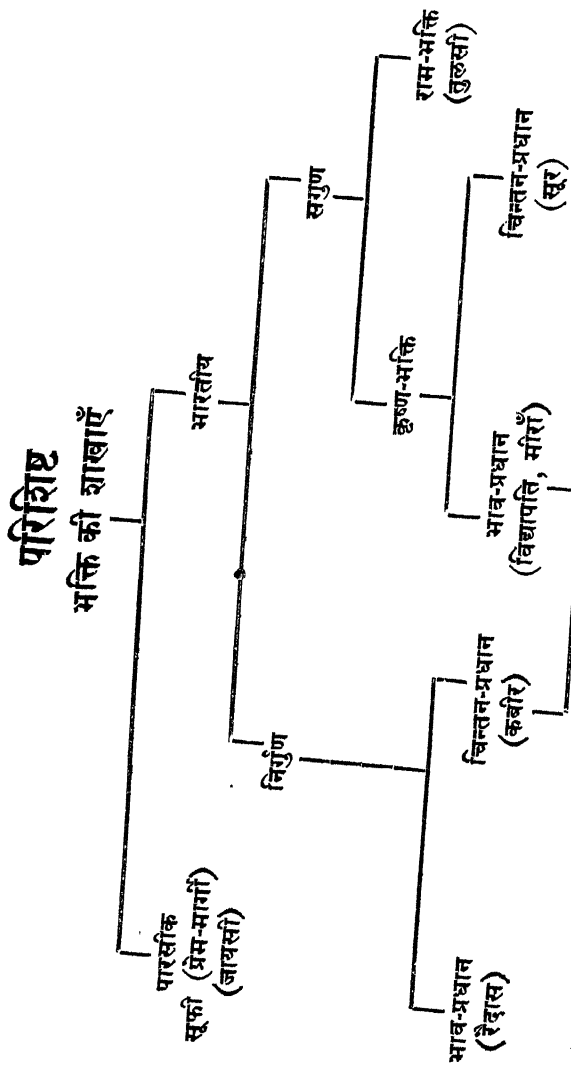
परिशिष्ट
भक्ति की शाखाएँ
पारसीक
सूफ़ी (प्रेम-मार्गी)
(जायसी)
भारतीय
निर्गुण
सगुण
कृष्ण-भक्ति
राम-भक्ति
(तुलसी)
भाव-प्रधान
(रैदास)
चिन्तन-प्रधान
(कबीर)
भाव-प्रधान
(विद्यापति, मीराँ)
चिन्तन-प्रधान
(सूर)
आधुनिक छायावाद और रहस्यवाद
(प्रसाद, महादेवी वर्मा)
[देखिए—पृष्ठ २००, ३१६]

नायक-नायिका भेद

नायक

- पति
  - अनुकूल
  - दक्षिण
  - शठ
  - धृष्ट
- उपपति
  - वचन-चतुर
  - क्रिया-चतुर
- वैशिक

नायिका

- स्वकीया
  - मुग्धा
    - अज्ञात-यौवना
    - ज्ञात-यौवना
      - नवोढ़ा
      - विश्रब्ध नवोढ़ा
  - मध्या
  - प्रौढ़ा
    - रति-प्रीता
    - आनन्द-सम्मोहिता
- परकीया
  - अनूढ़ा (कुमारी)
  - ऊढ़ा (विवाहिता)
    - मुदिता
    - विदग्धा
    - अनुशयाना
    - गुप्ता
    - लक्षिता
    - कुलटा
- सामान्या (रस लीन के अनुसार)
  - स्वतन्त्रा
  - जननी-आधीना
  - नेमता (नाचने-गानेवाली)
  - प्रेम-दुःखिता

केशव का नायिका-भेद

('रसिक-प्रिया' के अनुसार)

देव का नायिका-भेद
(भाव-विलास के अनुसार)
नायिका
स्वकीया
परकीया
सामान्या
मुग्धा
मध्या
प्रगल्भा (प्रौढ़ा)
कन्यका (अनूढ़ा)
प्रौढ़ा (ऊढ़ा)
रूढ़यौवना
प्रगल्भ-वचना
प्रादुर्भूत मनोभवा
विचित्र-सुरता
गुप्ता
विदग्धा
लक्षिता
कुलटा
मुदिता
अनुशयाना
वचन-विदग्धा
क्रिया-विदग्धा
वय:सन्धि
नव-यौवना
सलज्ज रति
नव वधू
नवल-अनंगा
लब्धापति
रति-कोविदा
आक्रान्ता
सविभ्रमा

देव का रस-विभाजन

रस
अलौकिक (आत्मा और मन के संयोग से)
लौकिक (नयनादिक इन्द्रियों के संयोग से)
स्वाप्निक
मनोरथिक
औपनामिक
श्रृंगार
हास्य
करुण
रौद्र
वीर
भयानक
वीभत्स
अद्भुत
शान्त
संयोग
वियोग
उत्तम
मध्यम
अधम
युद्धवीर
दयावीर
दानवीर
वस्तु-गत
कार्य-गत
प्रच्छन्न
प्रकाश
करुण
अतिकरुण
महाकरुण
सुखकरुण
प्रच्छन्न
प्रकाश
पूर्वानुराग
मान
प्रवास
करुणात्मक
दर्शन
श्रवण
लघु
मध्यम
गुरु
लघु
मध्यम
दीर्घ

प्रामाणिक हिन्दी कोश

सम्पादक

श्री रामचन्द्र वर्म्मा

(हिन्दी भाषा का वस्तुतः प्रामाणिक और सर्व-श्रेष्ठ शब्द-कोश)

इस कोश में आपको हजारों ऐसे नये शब्द, हजारों ऐसी नई व्याख्याएँ और हजारों ऐसे नये अर्थ मिलेंगे जो हिन्दी के किसी और कोश में नहीं आये हैं। हिन्दी के अन्यान्य कोशों में बीसियों प्रकार की जो हजारों भूलें भरी पड़ी हैं, उन सबका इसमें बहुत अधिक विचार और परिश्रम-पूर्वक सुधार हुआ है। यह सभी दृष्टियों से सचमुच प्रामाणिक और सर्वश्रेष्ठ है। विद्यार्थियों, अध्यापकों, लेखकों, सम्पादकों और राजकीय, न्याय तथा शासन-विभाग के अधिकारियों और कार्यकर्त्ताओं के काम के सभी आवश्यक शब्द अपने मानक रूप में और ठीक-ठीक अर्थ सहित इसमें दिये गये हैं। इधर हाल में राजकीय व्यवहार के लिए जो हजारों नये शब्द बने हैं, वे सब भी उपयुक्त व्याख्या और अर्थ सहित इसमें आ गये हैं। अन्त में प्रायः पाँच हजार शब्दों की अंग्रेजी-हिन्दी शब्दावली भी है, जिससे मुख्य-मुख्य अंग्रेजी शब्दों के हिन्दी पर्याय जाने जा सकते हैं। अजमेर, आसाम, बिहार, मदरास आदि के शिक्षा विभागों द्वारा परम प्रशंसित और स्कूल-कालेजों के लिए स्वीकृत। दूसरा संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण। पक्की सुन्दर जिल्द बँधी हुई; पृष्ठ-संख्या १६०० से ऊपर; मूल्य १२॥) वी० पी० खर्च २।) वी० पी० से पुस्तक मँगाते समय कम से कम २) पेशगी भेजना आवश्यक है। विवरण-पत्र और नमूना मुफ्त मँगाकर इसकी सर्वश्रेष्ठता के सम्बन्ध में अपना मनस्तोष करें।

हिन्दी प्रयोग

[लेखक—श्री रामचन्द्र वर्म्मा]

'अच्छी हिन्दी' तो महाविद्यालयों या कालेजों के आरम्भिक वर्गों के विद्यार्थियों के लिए है; पर यह पुस्तक विशेष रूप से हाई स्कूलों के नवें-दसवें और हिन्दी स्कूलों के आठवें वर्ग के अथवा इनसे मिलते-जुलते अन्य वर्गों के विद्यार्थियों के उपयोग के लिए लिखी गई है। केवल हिन्दी की परीक्षाएँ लेनेवाली संस्थाओं की प्रथमा और मध्यमा तथा शिक्षा-विभागों के हिन्दी शिक्षकों आदि की नार्मल, ट्रेनिंग, सरटिफायड टीचर्स और कोविद सरीखी परीक्षाओं में बैठनेवाले लोगों की आवश्यकताओं का भी इसमें पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है। जो शिक्षक यह पुस्तक एक बार भली भाँति पढ़ लेंगे, वे अपने विद्यार्थियों को अच्छी भाषा की शिक्षा देकर स्वयं यश के भागी बनेंगे। एडमिशन या मैट्रिक तक की योग्यता प्राप्त करनेवाले विद्यार्थियों के लिए भी यह परम उपयोगी है। जो विद्यार्थी हिन्दी भाषा और व्याकरण की मुख्य-मुख्य बातें और हिन्दी के शुद्ध प्रयोग बहुत सहज में सीखना चाहते हों, उनके लिए यह पुस्तक एक अमूल्य रत्न है। इससे आरम्भिक विद्यार्थियों को अपनी भाषा विशुद्ध और निर्दोष बनाने में बहुत अधिक सहायता मिलेगी और परीक्षा में वे अच्छे अङ्क प्राप्त कर सकेंगे। हिन्दी की आरम्भिक कक्षाओं के शिक्षकों के जानने योग्य कठिन और जटिल बातें इसमें इतने सहज और मनोरंजक ढंग से बतलाई गई हैं कि एक बार पुस्तक पढ़ लेने पर लिखने में जल्दी कोई भूल न होगी। इसे उत्तर प्रदेश, बिहार और राजपूताने तथा मध्य-भारत की हाई स्कूल परीक्षाओं, पूर्वी पंजाब की हिन्दी भूषण, प्रयाग महिला विद्यापीठ की विद्या-विनोदिनी तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की प्रथमा परीक्षा के पाठ्य-क्रम में स्थान मिल चुका है। पाँचवाँ संस्करण; पृष्ठ १८२; दाम १)

हिन्दी प्रयोग

[लेखक—श्री रामचन्द्र वर्म्मा]

'अच्छी हिन्दी' तो महाविद्यालयों या कालेजों के आरम्भिक वर्गों के विद्यार्थियों के लिए है; पर यह पुस्तक विशेष रूप से हाई स्कूलों के नवें-दसवें और हिन्दी स्कूलों के आठवें वर्ग के अथवा इनसे मिलते-जुलते अन्य वर्गों के विद्यार्थियों के उपयोग के लिए लिखी गई है। केवल हिन्दी की परीक्षाएँ लेनेवाली संस्थाओं की प्रथमा और मध्यमा तथा शिक्षा-विभागों के हिन्दी शिक्षकों आदि की नार्मल, ट्रेनिंग, सरटिफायड टीचर्स और कोविद सरीखी परीक्षाओं में बैठनेवाले लोगों की आवश्यकताओं का भी इसमें पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है। जो शिक्षक यह पुस्तक एक बार भली भाँति पढ़ लेंगे, वे अपने विद्यार्थियों को अच्छी भाषा की शिक्षा देकर स्वयं यश के भागी बनेंगे। एडमिशन या मैट्रिक तक की योग्यता प्राप्त करनेवाले विद्यार्थियों के लिए भी यह परम उपयोगी है। जो विद्यार्थी हिन्दी भाषा और व्याकरण की मुख्य-मुख्य बातें और हिन्दी के शुद्ध प्रयोग बहुत सहज में सीखना चाहते हों, उनके लिए यह पुस्तक एक अमूल्य रत्न है। इससे आरम्भिक विद्यार्थियों को अपनी भाषा विशुद्ध और निर्दोष बनाने में बहुत अधिक सहायता मिलेगी और परीक्षा में वे अच्छे अङ्क प्राप्त कर सकेंगे। हिन्दी की आरम्भिक कक्षाओं के शिक्षकों के जानने योग्य कठिन और जटिल बातें इसमें इतने सहज और मनोरंजक ढंग से बतलाई गई हैं कि एक बार पुस्तक पढ़ लेने पर लिखने में जल्दी कोई भूल न होगी। इसे उत्तर प्रदेश, बिहार और राजपूताने तथा मध्य-भारत की हाई स्कूल परीक्षाओं, पूर्वी पंजाब की हिन्दी भूषण, प्रयाग महिला विद्यापीठ की विद्या-विनोदिनी तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की प्रथमा परीक्षा के पाठ्य-क्रम में स्थान मिल चुका है। पाँचवाँ संस्करण; पृष्ठ १८२; दाम १।)

कबीर साहित्य का अध्ययन

[लेखक—श्री पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव, एम. ए.]

यों तो अब तक महात्मा कबीरदास जी और उनके साहित्य से सम्बन्ध रखनेवाली कई पुस्तकें हिन्दी में निकल चुकी हैं, पर यह पुस्तक कई दृष्टियों से सर्व-श्रेष्ठ और उन सबसे कहीं आगे बढ़ी-चढ़ी है; और इसी लिए उत्तर प्रदेश की सरकार ने इस पर लेखक को ८००) का पुरस्कार प्रदान किया है। इसमें विद्वान् और विचारशील लेखक ने बिलकुल नये ढंग से और नये दृष्टि-कोण से संत कबीर के सब ग्रन्थों और कबीर सम्बन्धी हिन्दी, उर्दू, संस्कृत, अँगरेजी के सैंकड़ों ग्रन्थों के विशाल साहित्य का बहुत ही सूक्ष्म दृष्टि से पूरा-पूरा अनुशीलन करके उनकी बहुत मार्मिक आलोचना की है; और कबीर तथा उनके साहित्य के मर्म तक पहुँचने का बहुत ही अभूतपूर्व और सफल प्रयत्न किया है। इसमें यह बतलाया गया है कि कबीर-साहित्य के अध्ययन का प्रयोजन क्या है और उसकी पद्धति कैसी होनी चाहिए; उनके साहित्य का वास्तविक रूप क्या है, उनकी भाषा में कौन-कौन से तत्त्व हैं और उनके शुद्ध पाठ क्या हैं तथा कठिन पद्यों के अर्थ क्या हैं; और उनकी कविता में कौन-कौन सी मुख्य बातें या क्या-क्या सिद्धान्त हैं। साथ ही कबीर साहित्य के अध्ययन के इतिहास का विवरण देते हुए कबीर के जीवन की मुख्य-मुख्य घटनाओं का विस्तृत विवेचन किया है; और यह बतलाया है कि भारतीय श्रेय-मार्ग में उनका क्या स्थान है, उनके रहस्यवाद का स्वरूप क्या है और आधुनिक साम्यवाद के साथ उनके सिद्धान्तों का किस प्रकार का सम्बन्ध है। कबीर के कुछ कठिन शब्दों के अर्थ, उनके ग्रन्थों की विस्तृत और तुलनात्मक सूची और अन्त में शब्दानुक्रमणिका से पुस्तक की उपयोगिता और भी बढ़ गई है। सारांश यह कि विद्या-प्रेमी अध्ययनशीलों के लिए यह पुस्तक एक अमूल्य रत्न है और उन्हें गम्भीर अध्ययन तथा विचार की ओर प्रवृत्त करने में बहुत अधिक सहायक होगी। पृष्ठ-संख्या ४००; मूल्य—जिल्ददार प्रति का ४॥), बिना जिल्द प्रति का ४)।

बौद्ध-कालीन भारत

[लेखक—श्रीयुत पं० जनार्दन भट्ट, एम० ए०]

इसमें आपको गौतम बुद्ध की जीवनी, बौद्ध तथा जैन धर्मों का इतिहास; गौतम बुद्ध के सिद्धान्त तथा उपदेश, बौद्ध संघ का इतिहास, प्राचीन बौद्ध काल का राजनीतिक इतिहास, उस समय के प्रजातन्त्री राज्यों तथा मौर्य साम्राज्य की शासन-प्रणाली तथा बौद्ध-काल के साहित्य, शिल्प, व्यवसाय और समाज के सम्बन्ध की सैकड़ों-हजारों जानने योग्य बातें मिलेंगी। सैकड़ों उत्तमोत्तम ग्रन्थों का बहुत अच्छी तरह अध्ययन करके यह पुस्तक बहुत ही परिश्रम-पूर्वक लिखी गई है। पृष्ठ-संख्या चार सौ से ऊपर है। दाम ३॥)

कोश-कला

[लेखक—श्री रामचन्द्र वर्म्मा]

हिन्दी शब्द-कोश-रचना की कार्य-प्रणाली, नियमों और सिद्धान्तों से सम्बन्ध रखनेवाली यह पुस्तक साहित्य जगत् में अनुपम और अद्वितीय है। भाषा-शास्त्र के अनेक गूढ़ तथ्यों का यह सुन्दर संग्रह लेखक की ५० वर्षों की हिन्दी-सेवा का स्वादिष्ट फल है। इससे आपको आदर्श शब्द-कोश का स्वरूप समझने के सिवा कोश का ठीक-ठीक उपयोग करने का ढंग भी मालूम होगा। इसके सिवा हिन्दी भाषा के स्वरूप, प्रवृत्तियों तथा अन्य अनेक ऐसे गूढ़ तत्त्वों से सम्बन्ध रखनेवाली जानने योग्य बहुमूल्य बातें इसमें भरी पड़ी हैं, जिनका विवेचन आज तक कहीं नहीं हुआ। ग्रन्थ क्या है, एक अद्भुत ज्ञान का भंडार है, जो आप को चकित और मुग्ध कर देगा। यह एक ऐसा रत्न है जो हर पुस्तकालय में अवश्य रहना चाहिए। पृष्ठ-संख्या १७५, मूल्य १॥)

साहित्य रत्न-माला कार्यालय,
२० धर्म्म कूप, बनारस

गोविन्द रामायण

[सिक्खों के दसवें गुरु श्री गोविन्दसिंह जी महाराज कृत]

बहुत कम हिन्दी-प्रेमी यह जानते होंगे कि श्री गुरु गोविन्दसिंह जी महाराज हिन्दी के प्रथम श्रेणी के कवि थे और ब्रज-भाषा में उन्होंने अनेक उच्च कोटि के ग्रन्थों की रचना की थी। यह गोविन्द रामायण उन्हीं उत्कृष्ट ग्रन्थों में है, जिसे बहुत परिश्रम से प्राप्त करके और पाठ शुद्ध करके प्रकाशित किया गया है। साथ में सुन्दर सुबोध भाषा में टीका भी है और छन्द-परिचय तथा श्री गुरु महाराज का विस्तृत परिचय भी। इस पुस्तक में आपको वीर रस के सर्वोत्कृष्ट काव्य का आनन्द मिलेगा। पृष्ठ-संख्या ३००; मूल्य केवल ४)

हास्य रस

मराठी के सुप्रसिद्ध विद्वान्, श्रेष्ठ साहित्य-सेवी, मराठी 'केसरी' के सम्पादक स्वर्गीय नरसिंह चिन्तामणि केलकर कृत 'सुभाषित आणि विनोद' की गणना बहुत उच्च कोटि के ग्रन्थों में की जाती है। यह उसी का हिन्दी रूपान्तर है। इसमें हास्य रस का तात्त्विक, दार्शनिक तथा शास्त्रीय दृष्टियों से बहुत ही पांडित्य पूर्ण और विशद विवेचन हुआ है, और यह बतलाया गया है कि विनोद, परिहास आदि की उत्पत्ति कैसे होती है, उसका व्यावहारिक उपयोग क्या और कैसा होना चाहिए; और भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्य-शास्त्रों के विचार से भी और इन्द्रिय-विज्ञान के विचार से भी उसका वास्तविक स्वरूप क्या है। सुयोग्य अनुवादक श्री रामचन्द्र वर्म्मा ने इसमें हिन्दी साहित्य शास्त्र के ग्रन्थों से बहुत-से उदाहरण तथा उपयोगी पाद-टिप्पणियाँ बढ़ाकर पुस्तक को और भी अधिक उपयोगी बना दिया है। हिन्दी में हास्य रस का विस्तृत शास्त्रीय विवेचन करनेवाली यही एक पुस्तक है। दाम २)

साहित्य-रत्न-माला कार्यालय
२० धर्म्म कूप, बनारस।